व विज्ञान

स्वामी
प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

'वेद ओ विज्ञान' सुप्रसिद्ध मनीषी स्वामी प्रत्यगात्मानन्द
सरस्वती की बंगला रचना का डॉ० ऊर्मिला शर्मा द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद है। वेद और विज्ञान के सन्दर्भ में जहाँ एक ओर स्व० पं० मधुसूदन ओझा, पं० मोतीलाल शास्त्री एवं पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने नयी दृष्टि दी है; वहीं आधुनिक भौतिकी के पण्डितों ने उपनिषद् पर्यन्त वैदिक वाङ्मय में अज्ञात रहस्य के कुछ नये सूत्र पाये हैं।

वेद दृष्ट ज्ञान है, इसलिए वह लम्बी प्रयोगात्मक [illegible] के बिना ज्ञेय नहीं है। उसका अर्थ अधिकतर [illegible] परन्तु वह परोक्ष अपरोक्षानुभूति का विषय है। [illegible] प्रत्यगात्मानन्दजी महान् साधनासिद्ध भी थे और [illegible] विचारक भी। अतः यह पुस्तक बहुत उपादेय होगी।

पूज्य स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती ने अपनी सा[illegible] के बल पर जो कुछ वेद-विज्ञान का साक्षात्कार किया है, वह आज के संसार के लिए महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है और भीतरी आँख को खोलने का उत्तम उपक्रम है। डॉ० ऊर्मिला शर्मा ने इस उपलब्धि को हिन्दी पाठकों के लिए प्रस्तुत किया, इसलिए वे साधुवाद की पात्री हैं।

—विद्यानिवास मिश्र
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२

दिनांक : जनवरी ८, १९९२

मूल्य : एक सौ रुपया

कन्या
76/4

पाणिनि विद्यालय के
पुस्तकालय के लिए
प्रेमलता शर्मा
5/3/32

VED VA VIGYAN

Veda and Science

by

Swami Pratyagatmananda Saraswati

1992

ISBN 81-7124-095

प्रथम संस्करण : १९९२ ई०

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी

मुद्रक
शीला प्रिण्टर्स
लहरतारा, वाराणसी
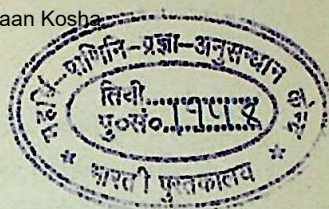
आशीर्मय उपोद्घात

श्री निरञ्जनपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर स्वामी महेशानन्द गिरि

(ग्रन्थ के गर्भगृह का प्रवेश-द्वार)

सनातन धर्म का अर्थ है सदा होनेवाला धर्म। क्या होने से यह होनेवाला है ? प्रत्येक पीढ़ी में यह धर्म व्यक्तियों के जीवन में होता रहता है; जन्मता रहता है, अतः यह सदा होनेवाला धर्म कहा जाता है। जो जीवन में उतरे, क्रियमाण हो, वही धर्म है, यह मीमांसा-मर्यादा है। धर्म केवल मान्यताओं का नाम नहीं है, यह जीने का नाम है। इन जीनेवालों में कुछ ऐसे प्रज्ञा के उन्मेष को प्राप्त करते हैं जो अन्य साधकों का मार्ग-दर्शन कर सकते हैं। प्रत्येक पीढ़ी की समस्यायें भिन्न होती हैं, परिवेश भिन्न होता है, भाषा व भाव भिन्न होते हैं। अतः वही सत्य नये ढंग में जिया जाता है। सामान्य साधक उस ढंग को सत्य के आधार पर स्वयं नहीं निर्माण कर सकता, पर पता लगने पर उसे जी सकता है। सनातन धर्म में ऐसे प्रज्ञावान् प्रति-पीढ़ी को उपलब्ध होते रहे हैं, यह महेश्वर की कृपा है।

सभी प्रज्ञावान् शास्त्रज्ञ हों यह जरूरी नहीं है। परन्तु जो शास्त्रज्ञ होता है, वह सनातन कड़ी को इस ढंग से पकड़ा दे सकता है कि शृङ्खला को अनवरतता पकड़ में आ सके। अन्यथा केवल प्रज्ञा नये सम्प्रदाय का निर्माण ही कर पाती है। इस प्रकार की धारा मूल स्रोत से कटकर अन्ततः सूख जाती है। यह भी भारत के धर्म-सम्प्रदायों के इतिहासज्ञों से छिपा नहीं है। अतः उपनिषदों ने आचार्य को 'श्रोत्रिय' व 'ब्रह्मनिष्ठ' कहा तो श्रीकृष्ण ने उसका 'ज्ञानी' व 'तत्त्वदर्शी' कहकर अनुवाद कर दिया। सनातन धर्म की इसी परम्परा में स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वतीजी गत शताब्दी में अवतरित हुए। आस्तिकों व नास्तिकों का प्रमाद बताकर उन्होंने इस परम्परा की आवश्यकता को 'वेद और विज्ञान' के प्रथमाध्याय में ही (पृ० ५ प्रभृति) प्रतिपादित कर दिया है। यह सत्य है कि प्रत्येक वैदिक या साधक आचार्य नहीं हो सकता, पर आचार्य के निर्देश में रहकर वैदिक वेद की शब्द व अर्थ-परम्परा को प्रवाहित रख सकता है एवं साधक शिवभाव की प्राप्ति कर सकता है।

विज्ञान निरन्तर अपनी नींवों को बदलता रहता है। इस बात को स्वामीजी भली प्रकार जानते थे। अतः 'वेद की बात' नामक भूमिका में स्पष्ट ही कहा है कि ५० वर्ष के बाद प्रवचनों को इसी रूप में प्रकाशित करना व्यावहारिक नहीं कहा जा

सकता। परन्तु विचार-सरणी व विशिष्ट कालखण्ड के प्रज्ञा के इतिहास को समझने में तो उसकी उपादेयता रहेगी ही। इससे अतिरिक्त, जैसा स्वयं स्वामीजी ने भूमिका में निर्देश किया है, वेद की सनातनी भावधारावाला अंश तो निर्विवाद रहेगा ही। प्रकाशित ग्रन्थ भी २५ वर्ष पूर्व बंगभाषा में मुद्रित हुआ था। अतः अब तो विज्ञान और भी विप्लवी हो पड़ा है। अस्तु।

वेद की भाषा बहुमुखी है। अतः कृष्णयजुर्वेद अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म, अधिलोक व अधिज्योतिष् भेद से वेदार्थ समझने का आदेश देता है। शतपथ ने अधियज्ञ को जोड़ा है एवं आचार्य सायण ने अधिकतर इसीका अवलम्बन किया है। वर्तमान काल में श्री मधुसूदन ओझा ने अधिभूत पर विस्तृत विवेचन किया है। यद्यपि वैदिक दृष्टि का उन्होंने सम्यग् उपस्थान किया है, परन्तु पाश्चात्य आधुनिक विज्ञान से समन्वय नहीं किया है एवं अध्यात्म को भी अस्पृष्ट ही रखा है। स्वामीजी की विशेषता विज्ञान में उनकी पैठ एवं अध्यात्म-साधना में प्रवीणता है। ईथर के उनके विचार आज भी दिक्कालातीत के मैक्स प्लाङ्क व आइन्स्टाइन के मतवाद का ही दिशाबोध कराने में समर्थ प्रतीत नहीं होते, बल्कि नार्लीकर व फ्रेड ब्वायल की सर्ग-प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालने में सक्षम प्रतीत होते हैं। उनकी भविष्यवाणी ईथर को चिन्मय में एक करने की तब थी, जो अब इस्तीफा देने की स्थिति में (पृ० १३५) नहीं रह गयी है। द्रष्टा अब दृश्य में अनुस्यूत हो चुका है व दृश्य का निर्णय द्रष्टा की अवस्थिति के निर्णय के बिना अशक्य है, यह सर्वसम्मत है।

विपश्चिच्छ्रेष्ठ स्वामीजी ने बद्धमूल धारणा से रहित को ही वेदार्थाधिकारी मानकर भगवान् गौडपाद के—"एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत् सोऽविशङ्कितः"—को सुस्पष्ट किया है। इसी प्रसङ्ग में—"हम पश्चिम देशों के भाव और चिन्तन के अनेकों योजन पीछे चला करते हैं"—का उनका चाबुक आज क्या और अधिक संगत नहीं है? स्वामीजी की प्रज्ञा उन्हें वैज्ञानिकों से योजनों आगे देखने की शक्ति देती है, पर हम तो स्वतन्त्रता के ४४ वर्ष बाद भी अपने विश्वविद्यालयों में उससे लाभ उठा नहीं पा रहे हैं। जडभरत व रहूगण की कथा इस प्रसङ्ग में आदरणीय सरस्वतीजी ने बड़े ही हृदयग्राही रूप में सुनाई है। वेद को विद्वान् लेखक ने वह कसौटी माना है, जिस पर सभी अन्य विज्ञान कसे जा सकते हैं, क्योंकि वही अभ्रान्त महेश्वरप्रदत्त ज्ञान है। कसौटियों का विचार स्वामीजी की नवीन दृष्टि है। ज्ञान की निःसंशयता विज्ञान नहीं दे सकता। जीवन का निर्माण अनिश्चित मान्यताओं से, भक्तिपूर्वक नहीं किया जा सकता। हम अपने दुर्लभ जीवन को दाँव पर लगाकर जुआ नहीं खेल सकते। इसीलिये निश्चित ऐन्द्रिय इहलोक को ही मानक बनाकर हम चलने लगे हैं, पर मृत्यु के पार की याद तो सताती ही रहती है। वेद ही यहाँ प्रत्यक्ष निश्चय करा सकता है। इस
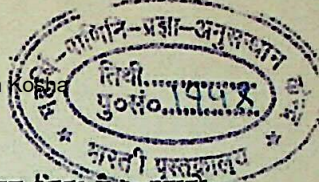
तरफ स्वामीजी ने हमारा ध्यान आकर्षित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। स्वामी-जी की औपन्यासिक व 'तरल' और 'चपल' शैली ऐसे स्थलों पर मुखर हो उठी है।

वेद के उपादेय व हेय अंशों का विचार करते हुए, जो अपने लिये काम का नहीं वह हेय कहा जा सकता है। संशय, विपर्यय, असम्भव प्रतीति आदि सभी कारणों का इसमें समावेश है। वस्तुतः यह विचार अर्थपरक ही समझना चाहिये। स्वाध्याय-विधि से शब्दग्रहण-काल में तो विचार-प्रवृत्ति ही नहीं होगी। आपात अर्थज्ञान, जो व्याकरण, कोष आदि से होगा, वह भी आवश्यक ही है। अतः विद्वान् लेखक का अभिप्राय मीमांसा से ही समझना चाहिये। इसीलिये आचार्य शङ्कर-भगवत्पाद स्वाध्याय को उभयविध मीमांसा में प्रवृत्त होने की पूर्वभूमिका तो स्वीकार करते ही हैं। आगे धर्मजिज्ञासा या ब्रह्मजिज्ञासा में अधिकार-भेद की स्वीकृति है।

पाश्चात्य दर्शन उपमान को प्रमाण नहीं स्वीकारता। परन्तु पाश्चात्य-विज्ञान ने इसको अपने सिद्धान्तों के निर्माण का आधार बनाया है। वर्तमाल-काल में अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिक कथानक शैली (science fiction) में अपने उन मन्तव्यों को प्रकट करते हैं जिन्हें पारिभाषिक शब्दावली में उपस्थापित करना वे अशक्य मानते हैं। यही कथानक कालान्तर में सिद्धान्त-ग्रन्थ में पारिभाषिक भाषा में स्थान पाता है। सनातनी विचार-धारा ने अपने निगूढ़तम रहस्यों को हृदयङ्गम कराने के लिये सदा ही उपमान (analogy) का एवं पौराणिक उपाख्यानों का सहारा लिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दक्ष, वामन, वैवस्वत, उर्वशी, हिरण्यश्मश्रु, गंगावतरण, पद्मासुर आदि उपाख्यानों का वैज्ञानिक रहस्योद्घाटन किया गया है, जो प्रशंसनीय है। यह ऐसा स्वाभाविक बन पड़ा है कि सन्देह उठता ही नहीं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वेद का सहज-प्रतिपाद्य ब्रह्म व उसमें लीन होने के साधन हैं। विश्व के रहस्यों का उद्घाटन आनु-षङ्गिक ही होता है। अतः इन उपाख्यानों का वास्तविक तात्पर्य जीव की साधना, अथच मानसिक विश्लेषण व मानस विकारों का विनाश ही है। वेद हमें परम-पुरुषार्थ की प्राप्ति कराने में ही कृतकृत्य है। पूना में ज्ञानभारती नामक संस्था में गणित के प्रसिद्ध विद्वान् तथा देहली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉक्टर चन्द्रात्रेय व उनके सहयोगियों ने आधुनिकतम भौतिकी के अनेक ध्रुव व सूत्र (Constants and Formulae) पूर्णतया वैदिक सूक्तों के आधार पर निर्णीत किये हैं। कई बार वे कहते हैं कि हमें स्वयं विश्वास नहीं होता कि वेद इतने सूक्ष्म प्रयोगों का नतीजा कैसे दे देता है। परन्तु साधक होने के नाते वे भी कई बार कहते हैं कि इसे हम भूल नहीं पाते कि उन मन्त्रों की भाषा किसी दिव्य अध्यात्म का सन्देश देने को ही प्रधान रूप से व्यक्त हुई है। विज्ञान इसकी पूर्वभूमिका निभा सके तभी कृतकृत्य माना जायेगा।

ऋग्वेदसंहिता को इस लेखमाला या प्रवचनमाला में उन्होंने प्रधान आधार

बनाया है। इसमें इन्द्र, अग्नि व सोम की प्रधानता है। अन्तिम तीन लेखों में अग्नि का विस्तृत विवेचन अधिभूत स्तर से करने के साथ षट्चक्रभेदन व मूलाधारस्थित शक्तिपुंज व अग्नि का भी विचार निगम के साथ आगम का संगम बताने का सहज व सफल प्रयास है। इसमें अणुशक्ति के महत्त्व का निरूपण अनुपम है। चक्रभेदन व अणु-भेदन-प्रक्रिया का साम्य आज की भौतिकी पढ़नेवालों को तो स्फुटतर है ही, पर लेखन के युग में इसका संकेत शंसनीय है। सूर्य के ऋणाणुओं का आकर्षण करने का सिद्धान्त यद्यपि अभी भी विज्ञान को स्वीकृत नहीं है, तथापि पर्जन्यविद्या के सन्दर्भ में गवेषणीय तो है ही। इसी प्रकार मूलाधार को देह का गुरुकेन्द्र मानकर आकाशगमन के सिद्धान्त का भी विचार है। प्राणायाम, यज्ञ, पृथ्वी आदि पर भी इस दृष्टि से विचार अपेक्षित है। "जड़ आकाश में शक्तिक्रीड़ा है" यह आचार्य शङ्कर के "स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म" का सुन्दर आधुनिकीकरण है। इसी सन्दर्भ में काय-आकाश-संसर्ग का प्रतिपादन हुआ है।

पचहत्तर वर्ष पूर्व दर्शन के इतिहासज्ञ स्वामीजी ने यूरोप के नास्तिकों का, संशयवादी व अज्ञेयवादी मुखौटा पहन, भद्रपुरुषों-सा बनने का प्रयत्न दर्शाया है। आज भारत में ठीक इसके विपरीत देव, मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, अध्यात्म आदि में अन्धविश्वासी समाजवाद, साम्यवाद, धर्मनिरपेक्षवाद आदि नास्तिक मुखौटा धारण कर अपने को प्रगतिशील भद्रपुरुष दर्शा रहे हैं। वर्तमान भारत व पूर्व यूरोप में यह भेद विचारणीय है। वस्तुतः अव्यक्त मूल को न समझकर भी जब व्यक्त का परीक्षण, विश्लेषण, चिन्तन, निरूपण आदि नहीं किया जायेगा, तो अन्धविश्वास ही पनपेगा। वर्तमान के तथाकथित बुद्धिमान् बुद्धिजीवी हो पड़े हैं। अतः विचार-क्षेत्र व्यापार-क्षेत्र हो गया है। धन्धाकेन्द्रित शिक्षा-व्यवस्था का निर्माण करने में असमर्थ होकर हमने शिक्षा को ही धन्धा मान लिया है। अतः चाहे पाश्चात्य विचार हों, चाहे पूर्वी, सर्वत्र अन्धविश्वास की बाढ़ है। सर्वधर्मसमन्वय, ठोस धर्मों को समझकर हमारे विश्वास का आधार न होकर अपने या किसी भी धर्म के अज्ञानजन्य अन्धविश्वास का नारामात्र रह गया है। वैज्ञानिक परीक्षण की ओर संकेत कर हमें इस प्रकार के अवसाद से निकालना लेखक को इष्ट है।

डॉक्टर प्रेमलता शर्मा सङ्गीत, काव्य, संस्कृत, कला, नाट्य, दर्शन आदि क्षेत्रों में प्रौढ़ पाण्डित्य से सम्पन्न तो हैं ही, उच्चकोटि की साधिका भी हैं। अतः स्वामीजी जैसे के लेख का भाषान्तर करने-कराने में पूर्ण सक्षम हैं। उन्हींके सहयोग से उनकी अनुजा चि० ऊर्मिला शर्मा ने यह अनुवाद किया है। भाषान्तर को मूल के साथ मिलाकर पढ़ने में हमें तो व्यक्तिगत रूप से बड़ा आनन्द आया, क्योंकि स्वामीजी की चुटीली शैली का अनुवाद भी वैसा ही बन पड़ा है। हमें आशा है कि हिन्दी जगत् इससे उपकृत होगा।

●

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति और साधना का मूल है वेद। उस वेद में ऋषि का प्रज्ञान प्रतिफलित है। जगत् का आदिमतम यह ग्रन्थ भाव और भाषा में आज भी दुरवगाह बना हुआ है। प्रज्ञान अथवा बोधि के इस प्रकाश को बुद्धि के द्वारा पकड़ने जाकर किसीने समझा कि यह कृषकों का गीत है, अर्थात् अशिक्षित आदिम मानव का असम्बद्ध प्रलाप है, और किसीने सोचा कि प्रकृति के नाना ताण्डव से भीत, सन्त्रस्त, असहाय मानव का आर्तनाद है, या एक अदृश्य शक्ति के सामने मूढ़ मानव के तुष्टि-साधन का आकुल प्रयास और व्याकुल प्रार्थना है।

प्राच्य प्रज्ञान का, पाश्चात्य विज्ञान इसी प्रकार उपहास करता आया है। यह बात किसीने कभी सोचकर देखने की आवश्यकता नहीं समझी कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान ने बहिर्मुख पर्यवेक्षण परीक्षा-निरीक्षा के द्वारा जिन सब तत्त्वों का आविष्कार किया है, प्राचीन प्राच्य प्रज्ञान ने अन्तर्मुख साधना में समीक्षा-अन्वीक्षा का अवलम्बन लेकर उस एक ही तत्त्व की और भी गहरे अन्तस्तल में उपलब्धि की थी, और उस सारी साक्षात्-अपरोक्ष उपलब्धि को ही नाना वेदवाणी के बीच ऋषिगण प्रकाशित करके रख गये हैं।

एकमात्र ऋषि ही ऋषि की वाणी के मर्म का उद्घाटन करने में समर्थ है। हमारा अशेष सौभाग्य है कि वर्तमान युग में भी इस भारतभूमि में ऐसे एक ऋषि का आविर्भाव हुआ था, जिन्होंने वेदवाणी का मर्म साक्षात् उपलब्ध किया था, एवं उसके साथ ही जो पाश्चात्य विज्ञान में भी परम निष्णात थे—वे थे श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मा-नन्द सरस्वती, जिनके नाम में ही अन्तरात्मा का आनन्द प्रकट है। पूर्वाश्रम में आप थे अध्यापक श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय, जो एक साथ दर्शन, विज्ञान और गणित आदि शास्त्रों का अध्यापन करके शिक्षा-जगत् में एक विरल प्रतिभा के अधिकारी के रूप में चिह्नित हुए थे, एवं प्रभूत यश के भी अधिकारी हुए। उस युग के स्वदेशी-आन्दोलन में भी आपका विशिष्ट योगदान था, एवं राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार और प्रसार में आप श्री अरविन्द के सहयोगी थे। जैसे वेद में, वैसे ही तन्त्र में आपका अकुण्ठ अधि-कार था। इसीलिये सर जॉन वुडरॉफ के तन्त्रविषयक ग्रन्थों में इस अध्यापक के विषय में सश्रद्ध उल्लेख मिलता है। शेष जीवन में आपने संन्यास-ग्रहण करने के बाद अपने असाधारण ग्रन्थ "जपसूत्रम्" की रचना की, जिसमें समस्त वेद-वेदान्त-तन्त्र के सार-रहस्य का उद्घाटन किया है।

वर्तमान ग्रन्थ आपके पूर्वाश्रम में अध्यापन-काल में दिये गये कुछ भाषणों और लेखों का संकलन है। इसमें आपने 'दुर्व्याख्याविष-मूर्च्छिता" वेदवाणी को मानो पुनरुज्जीवित करके स्वमहिमा में प्रतिष्ठित कर दिया है। वेद का प्रज्ञान और आधुनिक विज्ञान एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करता है, ऐसा आश्चर्यपूर्ण समन्वय आपने दिखाया है एवं उसके द्वारा अकाट्य भाव से यह भी प्रमाणित किया है कि वेद अपरिणत-बुद्धि आदिम मानव का असम्वद्ध प्रलाप-मात्र नहीं है, चरमवोधि का परम सुसम्वद्ध प्रकाश है। आर्यसभ्यता और संस्कृति के यदि हम यथार्थ उत्तराधिकारी हों तो उस संस्कृति के स्वरूप को जानने के लिये यह अमूल्य ग्रन्थ हममें से प्रत्येक को अवश्य पढ़ना चाहिये।

मूल ग्रन्थ बंगला भाषा में है। सुश्री डॉ० ऊर्मिला शर्मा ने अशेष परिश्रमपूर्वक पूजनीय स्वामीजी के प्रति अगाधश्रद्धावशतः हिन्दी में अनुवाद करके एक राष्ट्रीय कर्तव्य पूरा किया है। अगणित हिन्दी-भाषा-भाषी भारत के जनों के सम्मुख एक नया दिगन्त आपने उन्मेषित कर दिया है। इसके लिये सभी उनके प्रति नितान्त कृतज्ञ रहेंगे। वरदा वेदमाता उनका और पाठकवृन्द का अशेष कल्याण करें यही एकमात्र प्रार्थना है।

—गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय

"श्यामली"
CS/1/8 गोल्फ ग्रीन,
कलकत्ता–700 045
4-12-91'

प्रस्तुति

पूज्यपाद स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती के प्रसिद्ध व अद्वितीय ग्रन्थ 'वेद व विज्ञान' का हिन्दी अनुवाद डॉ० ऊर्मिला शर्मा ने अत्यन्त श्रद्धाभाव से किया है, और अब इसका प्रकाशन हो रहा है। पूज्यपाद परमयोगी के साथ-साथ वर्तमान युग की अन्यतम विभूति थे। आपका वैदुष्य अगाध और अपरिमेय था। आपकी कृतियों ने भारतीय चिन्तन की उज्ज्वल परम्परा को नवीन आयाम व उपयोग दिए हैं। आप—"यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत"—ही थे। आपका काव्य इसका प्रमाण है। साधना की अतल गहराइयों से अनुस्यूत आपकी अध्यात्म-दृष्टि अपूर्व थी। जिसने भी आपके श्रीचरणों में बैठकर आपके अनुग्रह से शिक्षा-दीक्षा ली, वह धन्य हुआ। प्रेमलताजी ने आपके 'जपसूत्रम्' (प्रथम खण्ड) का हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया था, और अब शीघ्र ही उसका दूसरा खण्ड भी प्रकाशित होगा। 'जपसूत्रम्' (छह खण्ड) इस युग की अप्रतिम आध्यात्मिक कृति है। पूज्यपाद की अन्य कृतियाँ भी हिन्दी में प्रस्तुत करने की योजना है। अन्य कृतियों में प्रधान हैं—पुराण व विज्ञान, इतिहास व अभिव्यक्ति, और काव्यसंग्रह। डॉ० प्रेमलताजी और डॉ० ऊर्मिलाजी का यह प्रयास प्रतुत्य है और प्रेरक भी।

पूज्यपाद ने प्राचीन भारतीय वाङ्मय को आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भों में व्याख्यायित और विवृत करके अध्ययन की नवीन दिशायें व उपलब्धियाँ प्रस्तुत की हैं। 'वेद व विज्ञान' इसका प्रमाण व परिणाम है। वह भारतीय संस्कृति का माङ्गलिक संस्मरण है और उसके पीछे है उसको सनातनता के प्रति आपकी अनन्य विचारनिष्ठा।

पूज्यपाद ने हमारे इतिहास की भी नयी विवेचना की। आपके ग्रन्थ 'इतिहास ओ अभिव्यक्ति' (बंगला) ने भारतीय राष्ट्र-दृष्टि को उजागर किया, जिसे 'श्रेयः पन्था' ही माना जायेगा।

'वेद व विज्ञान' का यह हिन्दी अनुवाद पूर्णतः समादृत होगा, यह हमारा विश्वास है। मैं डॉ० ऊर्मिलाजी और डॉ० प्रेमलताजी के प्रति सश्रद्ध कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ कि उन्होंने यह श्लाघनीय कार्य निष्ठापूर्वक सम्पन्न करके हिन्दी जगत् को उपकृत किया। कलकत्ता के श्री सूरदास न्यास ने इसके प्रकाशनार्थ जो आर्थिक अनुदान दिया है, उसके लिये मैं उसके अध्यक्ष व अन्य न्यासधारियों का भी कृतज्ञ हूँ।

अन्त में, तैत्तिरीय ब्राह्मण के इस मन्त्र के द्वारा पूज्यपाद को अपनी अशेष प्रणति देता हूँ—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो, मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी।
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता अमृतस्य नाभिः।
सा नो जुषाणो पयसमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु॥

(२।८।८।४-५)

सफला एकादशी
(वि० सं० २०४८)

२ ए, देशप्रिय पार्क (पूर्व)
कलकत्ता-७०० ०२९

–कल्याणमल लोढ़ा

निवेदन

मेरी अनुजा डॉ० ऊर्मिला शर्मा ने सन् '७१-'७२ में इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया था। तब पूज्यपाद स्वामीजी सशरीर हम लोगों के बीच विराजमान थे, किन्तु उस समय प्रकाशन का सुयोग नहीं हो सका, और आज ठीक बीस वर्ष बाद प्रो० श्री कल्याणमल लोढ़ा की प्रेरणा से यह सुयोग बन पाया है। पूज्यपाद स्वामीजी के सामने यह प्रकाशन होता तो उन्हें कितना हर्ष होता, इसकी कल्पना के साथ मन मसोसकर रह जाना पड़ रहा है।

इस अनुवाद के साथ कुछ नवीन योजनायें की गई हैं जो इस प्रकार हैं—

१. सभी व्याख्यानों पर शीर्षक दिये गये हैं, जिनसे तद्गत विषयवस्तु का आभास मिल सकेगा।
२. स्वामीजी द्वारा उद्धृत शास्त्रवचनों एवं अन्य उल्लेखों के सन्दर्भ अथवा व्याख्यापरक टिप्पणियाँ देते हुए प्रथम परिशिष्ट बनाया गया है।
३. ग्रन्थ में उल्लिखित वैज्ञानिकों/मनीषियों के जीवन और कार्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए द्वितीय परिशिष्ट बनाया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय चिन्तन की नवीन व्याख्या की प्रबल लहर उठी थी। ब्रिटिश शासकों द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भारतीय संस्कृति के प्रति तुच्छता या हीनता की जो दृष्टि व्यक्त को गई थी, उसका प्रत्युत्तर प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में श्री अरविन्द, आनन्दकुमार-स्वामी जैसे अनेकों मनीषियों का प्रादुर्भाव उस काल में हुआ। पूज्यपाद स्वामीजी की प्रस्तुत कृति भी उसी कोटि की है।

वेद की विज्ञानपरक व्याख्या जयपुर के पं० मधुसूदन ओझा, श्री मोतीलाल शास्त्री, और उसी धारा के पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने भी की है। किन्तु स्वामीजी ने पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मतों का प्रत्यक्ष विवरण प्रस्तुत करते हुए जिस शैली में वेद की व्याख्या की है, वह अपूर्व और अनूठी है। गम्भीर विषय-प्रतिपादन में आपकी सहज रसिकता और विनोदप्रियता का पुट मनोरम है।

प्रस्तुत कृति पूज्यपाद स्वामीजी के उन व्याख्यानों का संग्रह है, जो कि आज

से प्राय: ७५ वर्ष पूर्व* दिए गए थे। १९६७ में प्रकाशित बंगला संस्करण की भूमिका में स्वामीजी ने कहा है कि साधारण जिज्ञासु श्रोताओं के लिए ये व्याख्यान लिखे गए थे और कलकत्ता में कॉलेज स्क्वेयर-स्थित तत्त्वविद्याभवन में सुनाये गये थे। १९६७ में इनके ग्रन्थाकार में प्रकाशन के समय स्वामीजी को, इनमें आए विज्ञान-सम्बन्धी उल्लेखों को अद्यतन (upto-date) बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी (देखें, भूमिका), किन्तु शरीर की वार्धक्य-जनित अस्वस्थता के कारण यह कार्य उस समय उनके द्वारा सम्पन्न नहीं हो पाया। आज तो यह आवश्यकता और भी अधिक उत्कट रूप से उपस्थित है। किन्तु यह कार्य अनुवादिका के द्वारा सम्भव नहीं था। कोई मनीषी इसे भविष्य में अवश्य सम्पन्न करेंगे, ऐसी आशा रखना ही हमारे लिए सम्भव है।

प्रथम परिशिष्ट के सन्दर्भों तथा टिप्पणियों के संकलन में पं० श्री हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती ने जो अमूल्य सहायता दी है उसके लिए उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता अर्पित है। द्वितीय परिशिष्ट में कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों के परिचयात्मक विवरण की सामग्री जुटा देने के लिए डॉ० सी० विजय कुमार, रीडर, दर्शन-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और बंगला भारतकोष में से कुछ मनीषियों का परिचय उपलब्ध कराने के लिए डॉ० सुश्री व्रतति चक्रवर्ती, रीडर, बंगला-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, साशीर्वाद धन्यवाद के पात्र हैं।

विश्वविद्यालय प्रकाशन के अधिष्ठाता श्री पुरुषोत्तमदास मोदी ने प्रकाशन का भार वहन करके हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की है, जिसके लिए आप साधुवाद के पात्र हैं। कलकत्ता के सूरदास ट्रस्ट ने प्रो० कल्याणमल लोढ़ा की प्रेरणा से इस प्रकाशन के लिए जो आर्थिक अनुदान दिया है, उसका साभार स्मरण उचित है।

बीस वर्ष पूर्व किये गये अनुवाद का संशोधन करने और दोनों परिशिष्टों के निर्माण तथा सम्पूर्ण सम्पादन में मेरे मार्गदर्शन और सहयोग का उल्लेख अवश्य हो, ऐसा अनुवादिका का हार्दिक अनुरोध है।

पं० विद्यानिवास मिश्र ने अपना अमूल्य अभिमत देकर अनुग्रह किया है, उसके लिए आपको आन्तरिक कृतज्ञता समर्पित है।

---

* व्याख्यानों का काल मूल ग्रन्थ में स्पष्टतया निर्दिष्ट नहीं है। बंगला भाषा में जो संस्करण सन् १९६७ में प्रकाशित हुआ था, उसकी भूमिका में पूज्यपाद स्वामीजी ने कहा है कि प्राय: ५० वर्ष पूर्व ये व्याख्यान दिए गए थे। इसलिए १९९२ में ५० + २५ = ७५ वर्ष पूर्व इनका काल यहाँ कहा गया है। १९१५ से १९२० के बीच किसी समय ये व्याख्यान दिए गए होंगे ऐसा समझा जा सकता है।

डा० गोविन्दगोपाल मुखोपाध्याय के पूज्य पिता श्रीप्राणगोपाल मुखोपाध्याय सरस्वतीपाद के बन्धु थे। अतः गोविन्दगोपालजी को बाल्यकाल से ही आपका सान्निध्य प्राप्त था। आपके प्राक्कथन से यह प्रकाशन 'स्निग्ध' बना है। आपको धन्यवाद कैसे दें ?

पूज्यपाद स्वामी महेशानन्द गिरि ने कृपापूर्वक आशीर्वचन से हम दोनों बहनों को कृतार्थ किया है। ग्रन्थकार के समान स्तर पर विचार करने के आप सर्वथा अधिकारी हैं। आपने ग्रन्थ के मर्म में प्रवेश के लिए मानो द्वार खोल दिया है। पूज्यपाद स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वतीजी के कथ्य का मूल्यांकन और शैली का रसास्वाद आपने अप्रतिम रूप से प्रस्तुत किया है। आज की परिस्थिति पर आपके उद्‌गार सर्वथा सटीक हैं। आपकी वाणी ने इस प्रकाशन को उज्ज्वल और समृद्ध बनाया है। आपके प्रति शतशः प्रणति अर्पित है।

ग्रन्थकार पूज्यपाद स्वामीजी के आशीर्वाद के लिए प्रार्थनापूर्वक—

मकर संक्रान्ति
संवत् २०४८
बुधवार, १५-१-१९९२

—प्रेमलता शर्मा
'आम्नाय'
२०९/१, करौंदी, वाराणसी-५

भूल-सुधार

पृष्ठ १३६ के प्रथम अनुच्छेद (पैरा) के अन्त से 'गौरचन्द्रिका' की जो व्याख्या कोष्ठक में दी गयी है, उसे प्रथम परिशिष्ट में संख्या १३५ के बाद संशोधित रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु मूल में टिप्पणी की संख्या न लग पाने के कारण यह टिप्पणी संख्यारहित ही रखी गयी है। पाठक कृपया संख्या १३५ और १३६ के बीच इसे देख लें।

भूमिका में दो बातें

प्रायः पचास वर्ष पहले 'वेद व विज्ञान' नाम से कुछ रचनाएँ साधारण जिज्ञासु श्रोतृमण्डली को सुनाने योग्य वक्तृता के आकार में लिखी गयी थीं एवं कॉलेज-स्क्वेयर-स्थित तत्त्वविद्या-भवन में सुनायी भी गयी थीं। जो इस वक्तृता-माला को आग्रह के साथ सुनने आते थे उनमें से बहुत से व्यक्ति आज इस लोक में नहीं हैं। उन दिनों के मनीषी बन्धु हीरेन्द्रनाथ दत्त, राय यतीन्द्रनाथ मुन्शी इत्यादि सुधी श्रोता व समालोचकों का आज विशेष रूप से स्मरण होता है। उन दिनों के सहकर्मी एवं सुहृत् श्री देवप्रसाद घोष आज भी पूरे उद्यम से राष्ट्रनीति के क्षेत्र में विराजमान हैं। यह प्रसन्नता का विषय है। उनके समान स्वाधीन चिन्ताशील व मर्मरसग्राही श्रोताओं का समाग्रह ही विशेष रूप से इन सब वक्तृता-मालाओं की प्रेरणा जुटाता था। हाँ, अवश्य ही वक्तृता-भवन में नाना स्तरों के श्रोताओं का भी अभाव नहीं था। कुछ नियत श्रोताओं के अतिरिक्त नव-आगन्तुक अनियत श्रोताओं की संख्या भी कम नहीं होती थी। विशेषतः इसी कारण, इस वक्तृता-माला की वाचन-शैली में स्थान-स्थान पर कुछ 'तारल्य' व 'चापल्य' आ गया है, कुछ हास्यरस के परिवेशन की चटुलता भी। गुरुगम्भीर विषय के व्याख्यान में ये सब 'दोष' भी माने जा सकते हैं। तथापि विमिश्र एवं अनियत श्रोतृ-परिवेश में इस प्रकार का दोष उस समय मार्जनीय जान पड़ता था। ग्रन्थाकार में वह सम्भवतः वैसा न भी हो।

प्रदत्त वक्तृतायें उसी आकार में क्रमशः 'भारतवर्ष' नाम की मासिक पत्रिका में प्रकाशित होती थीं। सुधी व साधारण सभी पाठक ही पढ़ेंगे—इस आशा से वाचनशैली में कोई परिवर्तन नहीं किया गया था। उस युग के कुछ इने-गिने पाठकों का मनोयोग एवं अभिनिवेश इन सब प्रबन्धों में समाकृष्ट भी होता था।

पूर्वोक्त तारल्यदोष की बात छोड़ देने पर भी, एवं वह मार्जनीय अथवा कहीं पर 'उपभोग्य' भी है—ऐसा मान लेने पर भी एक 'अपराध' इच्छा न रहते हुए भी हो गया है। वह अपराध हुआ है दो बार या दो रूपों में। एक तो है पुनरुक्ति-बाहुल्य; और दूसरा यह है कि ऐसी अनेक आलोच्य वस्तुयें (तत्त्व या तथ्य) आलोचित हुई हैं, जिनकी आलोचना अन्त तक अग्रसर नहीं हुई है; 'बाद में कहेंगे' कहकर छोड़ दिया गया है। मासिक पत्रिका की प्रबन्ध-माला में अथवा ग्रन्थाकार में वर्तमान पुनः प्रकाशन के समय इन दोनों अपराधों के मार्जन के लिए कोई चेष्टा करना सम्भव नहीं हुआ। इसका एक प्रधान कारण है—इस शरीर की वर्तमान अवस्था—वार्धक्य। इसीलिए,

इस ग्रन्थ के जो पाठक होंगे, उनके 'निजी गुण' का भिखारी होने के सिवा और उपाय ही क्या है ?

इस वक्तृता या प्रबन्धमाला की रचना की जो असली कैफियत है, वह इन सभी में अनेक बार खूब विस्तार से कही गयी है—अर्थात् क्यों, किस उद्देश्य में, किस रूप में, कहाँ तक वेद व विज्ञान में इस प्रकार का समझौता है । 'वेद' व 'विज्ञान'—इन दोनों की ही अर्थ-व्यञ्जना, सम्बन्ध-गठन एवं गति-परिणति की तुलना सुस्पष्ट रूप से करने का प्रयास हुआ है । इसीलिए इस स्वल्प-परिसर भूमिका में कोई कैफियत देने की आवश्यकता नहीं है ।

किन्तु एक आवश्यक कार्य किया नहीं जा सका सोचकर अतृप्ति न मानना नहीं बन पा रहा है । ऋषियों का जो प्रज्ञान (जिसे मैं नित्य पूर्णज्ञान में प्रतिष्ठित, एवं उसीसे उत्सारित समझता हूँ) है, उस प्रज्ञान के विषय में मेरी ध्यान-धारणा, विचार-विवेचना आधी शताब्दी पहले जो थी, अभी भी वैसी ही है—ऐसा कहने पर, मानवबुद्धि की क्रमोन्मेष-रीति को अस्वीकार करना हो जायेगा । 'पारीणा' बुद्धि तो सत्यलोक में हैं; किन्तु इस लोक में बुद्धि एवं बोधि (साक्षात् अनुभव) दोनों ही अग्र-गामिनी हैं इसमें कोई सन्देह नहीं । इसीलिए पचास वर्ष पूर्व आर्ष प्रज्ञान को जितना व जहाँ तक 'समझता' था, आज भी उतना व वैसा ही 'समझता' हूँ ऐसा नहीं है । 'बोध' का क्षेत्र बड़ा हो तो 'बुद्धि' का इलाका सिमटकर प्रायः 'नहीं' जैसा ही हो जाता है—ऐसा हम नहीं कहते; अवश्य ही यह ठीक है कि 'बोधि' का गौरव जितना बढ़ता है, बुद्धि की 'गरिमा' उतने ही परिमाण में लाघव की ओर अग्रसर होती चलती है; बुद्धि 'अग्र्या' एवं सूक्ष्मावगाहिनी होकर अपनी 'सीमा' या परिधि का आविष्कार करती है । वेद की ओर से इस ग्रन्थ में जो व्याख्यान दिये गये हैं (मुख्यतः अधिभूत दृष्टि से), वे 'अग्राह्य' या 'आमूल परिवर्तनीय' तो नहीं बने हैं, अवश्य ही उस व्याख्यान के और भी समञ्जस सम्प्रसारण एवं स्वच्छतर विश्लेषण-परिशोधन करने की आवश्यकता रही, ऐसा आज मन में आता है । किन्तु उस अत्यावश्यक कर्म में आज मैं अपारग हूँ । इन्हीं दिनों में लिखे गये 'जपसूत्रम्' इत्यादि ग्रन्थों में बुद्धि को और भी अग्रगा करके यथासम्भव बोधि के साथ मिला देने का प्रयास हुआ है । वहाँ भी बहिर्विज्ञान, गणित आदि से समझौता करना छूटा नहीं है ।

प्रज्ञान या वेदविद्या एक सनातनी भावधारा है—ऐसा आस्तिक लोग अवश्य ही मानेंगे, किन्तु बहिर्विज्ञान या प्रकृतिविद्या के सम्बन्ध में तो नित्य परिणाम एवं अग्रगति (evolution) ही मुख्य बात है । पचास वर्ष पहले या बाद में वेद-व्याख्यान में एक निर्णय या सिद्धान्त की निश्चित धारा का अनुसरण करना चल सकता है, किन्तु बहि-

विज्ञान (science) में अर्धशताब्दी का व्यवधान विराट् एवं विप्लवात्मक व्यवधान है। उन्नीसवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी में पड़कर प्राकृत विज्ञान (प्राणविद्या, मनोविद्या इत्यादि सब) में एक महाविप्लवी परिवर्तन हुआ है। उस विप्लव को यथायथ 'मान' अवश्य ही देना होगा।

ये वक्तृतायें जब दी गई थीं, तब इस 'विप्लवी' नव-विज्ञान का 'शैशव' था या 'शैशव-कौमार-सन्धिकाल' था। आज वह विज्ञान 'परिणत वयस्क' है। 'शैशव' के अनेक कुण्ठा-कार्पण्य आज कट गये हैं; बहुत-सी प्रतीक्षा-अन्वीक्षा आज समीक्षा-परीक्षा द्वारा प्रमाणित हो चुकी हैं; बहुत-सी आशायें-सम्भावनायें आज वास्तवता का रूप ले चुकी हैं। विज्ञान-चर्चा की रीति-पद्धति ही बहुत परिमाण में बदल गई है। विनियोग व फलश्रुतियाँ भी अन्य प्रकार की हैं। विज्ञान के जो प्राण (spirit) एवं 'प्राणन' (Urge or elan for application) हैं ये दोनों भी वर्तमान समय में पहले जैसे नहीं हैं। इसीलिए आजकल विज्ञान की ओर नयी परिचय-दृष्टि डालने की आवश्यकता है। गत शतक की अवशिष्ट बातें भी आज के विज्ञान में कसम खाने (पकड़ बैठने) लायक नहीं हैं, न ही वे मूल, सारभूत बातें हैं। इसीलिए नये विज्ञान के साथ नया समझौता एवं आवश्यकतानुसार 'मुकाबला' करने का आज समय आ गया है (बाद में भी आयेगा), 'नैमिषारण्य' की ओर से।

यह अत्यावश्यक काम भी करना सम्भव नहीं हुआ। यदि भविष्य में कोई इस प्रकार के समझौते में प्रवृत्त होंगे तो वे अवश्य इसे करेंगे। यह भावी काल पर एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है।

अन्त में, इस वक्तृतामाला के पुनः प्रकाशन[1] के लिए उद्योग करनेवाले स्नेहास्पद श्रीमान् डॉ० गौरीनाथ शास्त्री एवं उनके सहकर्मी जनों के प्रति मैं हार्दिक प्रीति व आशीर्वाद ज्ञापित करता हूँ। शास्त्रीजी ने तो 'सेवाबुद्धि' से यह 'पुनरुद्धार' किया। इसीलिए उन्हें 'तृप्तोऽस्मि, कृतकृत्यो भव'—इतना-सा कहता हूँ। इसके पश्चात् 'पुराण व विज्ञान' नाम से और एक खण्ड प्रकाशित होगा, ऐसी आशा है। 'उनकी' इच्छा से निर्विघ्न परिसमाप्ति हो। ॐ ॥

सारस्वत आश्रम, गरिया
दोल-पूर्णिमा (होलिकोत्सव)
१३७३ (बंगाब्द), १९६७ ई०

—स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती
भूतपूर्व अध्यापक-श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय

---

१. इसके पूर्व ये व्याख्यान 'भारतवर्ष' पत्रिका में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे।

वेद की बात

वेद में सचमुच ही क्या शुद्ध Physics (भौतिकी) है ? यदि हो ही, तब तो उसके सामने सिर झुकाने में विज्ञानसेवी सभ्य जगत् को कोई द्विधा नहीं होगी, पादरी साहब अथवा व्याकरण के पण्डित चाहे कुछ भी क्यों न कहें। फलतः यही प्राप्त होता है कि दुर्भाग्य तो यही है कि पश्चिम के जिन पण्डितों ने वेद की आलोचना, गवेषणा की है, वे शब्दाम्बुधि का कितने ही अवलीला-क्रम से लङ्घन क्यों न कर पायें, न्यूटन के पद-चिह्नों का अनुसरण करके प्रकृति-रहस्यरूपी पारावार के तट पर दो-चार घोंघा, सीपी ही बीन लेने के लिए कभी भी नहीं जाते हैं। पुनः, मस्तिष्क में शायद बहुत-से Metaphysical dogmas (तत्त्वसम्बन्धी हठधर्मी मत) बद्धमूल होकर पड़े हुए हैं। इन Divinity (धर्मविज्ञान) व Literature (साहित्य) के 'डॉक्टरों' ने वेद को लेकर परिश्रम तो बहुत किया है, फलतः वेद की कुछ पोथियाँ अवश्य सुग्राह्य हो गई हैं, किन्तु वेद की दुर्बोध्य व्याधि की जो चिकित्सा इन लोगों ने की है, उससे गो-वैद्य (मूर्ख चिकित्सक) की बात ही याद आती है। एक तो अनाड़ी की चिकित्सा, उस पर से पुनः चिकित्सा की उलट-पलट। सुतरां पुरातनी वेदविद्या के कष्ट की कोई सीमा-परिसीमा नहीं रही है। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों की मनीषा व परीक्षा-प्रवृत्ति, एवं बड़े-बड़े दार्शनिकों का विश्लेषण-संश्लेषण-सामर्थ्य लेकर ही वेद के शरीर पर हाथ लगाना होता है। तुम्हारे शब्दशास्त्र के पाण्डित्य के तीखे-तीखे बाण वेद के मर्मस्थल में वेध न करके टकराकर लौट आयेंगे, जैसे किरातरूपी महादेव के अङ्गों से टकराकर अर्जुन के बाण छटककर लौट आये थे। यास्क व सायण का शब्दशास्त्र में पाण्डित्य कम नहीं था, अनेक पूर्ववर्ती वेद-व्याख्याताओं के उपदेश भी उन्हें सुनने को मिले थे; वे जितना कुछ कर गये हैं, उसे एक प्रकार से असाध्य-साधन भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। किन्तु अर्थ-सम्बन्धी गड़बड़ी बहुत-से स्थानों पर मिटी नहीं है; जहाँ कहीं किसी प्रकार मिटी भी है, वहाँ भी अर्थ सुनने पर मन को पूरा सन्तोष नहीं होता, ऐसा लगता है, मानो इन अर्थों ने उसके किसी भीतरी रहस्य का भेद नहीं किया; सम्भवतः हमें मन्द अधिकारी समझकर ही कुछ चना-चबेना खिलाकर बिदा कर दिया है; अन्तःपुर के अमृत-भोज में उन्होंने हमारे लिए पत्तल नहीं पड़ने दी। नव्य विज्ञान अग्रदूत होकर हमें भीतर घुस पड़ने के लिए प्रस्तुत कर दे रहा है या कौशलपूर्वक हमारे अन्तःप्रवेश का प्रबन्ध किये दे रहा है। इसीलिए मैं नव्य-विज्ञान की थोड़ी-बहुत खातिर करने के लिए कह रहा हूँ। मुझे लगता है कि सायण आदि ने जान-बूझकर भीतरी रहस्यों को सब स्थानों पर

खोला नहीं है। वैज्ञानिक रहस्यों को बात नहीं कह रहा हूँ, आध्यात्मिक रहस्यों की ही बात कह रहा हूँ। छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि ब्राह्मणों में ही देख पाता हूँ कि शिष्ट-गण यज्ञ, साम, उद्गीथ आदि को लेकर कितने ही प्रकार से घुमा-फिराकर, जोड़-तोड़कर देखते थे। उपनिषद् पढ़कर देखिये, वैदिक कर्म-कलाप व अनुष्ठान-राशि के मर्म को खींचकर बाहर लाने में वे कितने तत्पर हैं! एक ही उद्गीथ या प्रणव है, उसे कितने प्रकारों में सोचना-देखना होगा? पुराण आदि पढ़कर भी प्रतीत होता है कि मुनि व भावुक जन वेद की मोटी-मोटी कथाओं में से चरम तात्पर्य को निकाल लेने में यत्नशील थे। इन सब कारणों से प्रतीत होता है, प्रारम्भ से ही वेद-व्याख्या (रूपी भवन) के 'सदर' व 'अन्दर' (बाहरी व भीतरी–ऐसे दो खण्ड जैसे) दोनों ही रहे हैं। अथवा वेदविद्या मानो सात महलवाली एक पुरी है—जिसमें कि एक के बाद दूसरी ड्योढ़ी पार करते हुए अन्त में ठीक मध्य में पहुँचना सम्भव होता है। जो कहते हैं कि ये सब सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम के व्याख्यान आगन्तुक हैं, अर्थात् ऋषियों के अभिप्राय में नहीं थे, क्रमशः परवर्ती काल में वेद के कन्धे पर मढ़ या लाद दिये गये हैं, वे उन अत्यधिक चालाक गोलीखोरों की भाँति वेद के अड्डे पर हमेशा यातायात करते रहने पर भी वेद के सिर-पैर की कुछ भी खबर नहीं रखते हैं। गोली-खोर ने सवाल के जवाब में कहा कि "हाँ, वह उस अड्डे पर आता था, बैठता था, गोली खाता था, किन्तु उसका सिर था या नहीं, यह नहीं देखा।" उसी प्रकार वेद-मन्त्रों में अनेक स्थानों पर अग्नि को सर्वव्यापी, सर्वाधार, सभी प्रकार की वस्तुओं के रूप में सुन रहा हूँ, अथच उन सब बातों की सङ्गति व निगूढ़ तात्पर्य को उड़ाकर हम कहेंगे—वह अग्नि आग के सिवा और क्या है, जिसमें कि मन्त्रों को दोहराते हुए अकारण घी ढाला जाता था! सोमरस के माहात्म्य का कीर्तन सुनकर लगता है, अवश्य ही ये लोग कोई सामान्य नहीं, जगत् के मर्मस्थान के कोई चिर अधिवासी हैं, किन्तु तब भी हम रट्टू तोते की भाँति दोहराते हैं कि यह सोमलता के रस के सिवा और कुछ भी नहीं है। और कितने दृष्टान्त दूँ—तुम्हारी सरल व मोटी व्याख्या के मोहमुद्गर का स्वयं वेद ने अपने हाथ से अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। मैं वैद्युतिक व्याख्या व आध्यात्मिक व्याख्या देकर वेदार्थ-रत्न को क्या विपथ पर ले जाऊँगा? या वेदार्थ-प्रकाशिका की आँख में क्या धूल डालूँगा, स्वयं वेद ही तो नाना छन्दों व भङ्गिमाओं में विद्युत् की छटा बिखेर रहे हैं एवं अदिति व आत्मा का रहस्य, जल, अग्नि आदि के इङ्गित में से हमारी बुद्धि के द्वार पर रखे दे रहे हैं। इसको अस्वीकार करने के लिये तो कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ। जो भी हो, मेरी बातों ही बातों से चिवड़ा नहीं भीगेगा (दाल नहीं गलेगी)। मुझे क्रमशः प्रमाण देते हुए अपना 'केस' (वाद-प्रतिवेदन) खड़ा करना पड़ेगा।

इस ग्रन्थ में हम देवों की माता अदितिदेवी के साथ परिचय करते समय वेद की पहेली नामक वस्तु को जान पाये हैं। वेद की केवल दो-चार ऋचायें नहीं, बहुत-से समग्र सूक्त ही इस प्रकार की पहेली की भाषा में लिखे मिलते हैं। बाइबल में तथा जेन्द-अवस्ता आदि अन्यान्य धर्मशास्त्रों में भी इस पहेली के नियम का अनुसरण हुआ है। बाइबल में इनको Parable (नीतिकथा) कहा जाता है। प्राचीन लोग यह सब कुछ शीघ्रलिपि (shorthand) में लिखते थे और सम्प्रदाय-क्रम से इनका दफ्तर भी चला देते थे। ये सब पहेलियाँ सुनने के समय सतर्क व सावधान होना होता है, असहिष्णु या उपहास-रसिक होने से काम नहीं चलेगा। अदिति व दक्ष को लेकर जो पहेली है, उसके समाधान के लिए बहिर्विज्ञान की कोई बड़ी सहायता नहीं मिली है। क्योंकि वह तो एकदम मूल का रहस्य है न! और अनेक पहेलियों के समाधान में विज्ञान ही हमारे काम आयेगा। प्रथम दृष्टि में मूल में जाकर हस्तक्षेप नहीं कर पाया है, इसके लिए विज्ञान को मनस्ताप नहीं होना चाहिये। भलाई के लिए हो या बुराई के लिए ही हो, विज्ञान अभी भी परदे में घेरकर ही जगत् का हिसाब ले रहा है। रिहर्सल सुन रहा है—यह बात हेनरी बर्गसाँ ही क्यों, मैक पोंयाकर प्रभृति अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न विज्ञानाचार्य भी स्वीकार करते आ रहे हैं। देश, काल, ईथर एवं शक्ति को लेकर विज्ञान ने कारबार जुटा दिया एवं मयदानव की भाँति एक मायापुरी गढ़ दी, किन्तु एक बार भी पूछा नहीं कि ये देश, काल, ईथर आदि सचमुच में हैं क्या? वेद ने विश्वकर्मा के भुवन-निर्माण को देखकर कहा—"किस पर खड़े होकर विश्वकर्मा इस भुवन को धारण किये हुए हैं?" वैसे ही विज्ञान को भी पूछना चाहिये था—"किस पर खड़े होकर देश, काल व गति ने यह मायापुरी रची है? सबके मूल में क्या है?" यही अदिति-सम्बन्धी प्रश्न है, एवं विज्ञान में अभी भी यह प्रश्न उठाने का साहस न आने पर भी वेद ने इसे उठाया है और इस विषय में विचार किया है। ऐसा लगता है कि विज्ञान को भी शीघ्र ही यह सोचना पड़ेगा। यूक्लिड (Euclid) की ज्यामिति को भित्ति बनाकर विज्ञान सब गढ़ता आ रहा था, किन्तु वह बुनियाद बहुत ही धँस रही है। बाहर के देश, काल, ईथर, बुद्धि आदि सब सर-सर करके भीतर ही आकर स्थिर होते हैं। अर्थात् जिनको अब तक वस्तु समझकर विज्ञान निश्चिन्त था, वे सब धारणा (concept)-मात्र होने को प्रस्तुत हैं। ऐसी स्थिति में चिद्रूपिणी माँ को भूले रहना नहीं चलेगा। जो भी अनुभव या experience मूल में है उसके तत्त्व की तलाशी विज्ञान को लेनी होगी। माँ की गोद में बैठ पाने पर ही विज्ञान का वेदत्व है (विज्ञान वेद बन सकता है) और वेद भी रहस्य की गुहा अथवा शिव के जटाकलाप से उतर आकर जाह्नवीधारा के समान हमारे साधारण प्रत्यक्ष, अनुमान, ज्ञान, विश्वास आदि को निर्मल कर पाये—तभी वेद का विज्ञानत्व होगा (वेद विज्ञान बन सकता है)। इस समय

हम लोग वेद की पहेली का मर्म नहीं समझ रहे हैं, समझ लें तो वेद ही विज्ञान होगा। खैर, उसमें तो अभी देर है, ऐसा देख रहा हूँ।

अनेक स्थलों पर आध्यात्मिक व्याख्या देने के सिवा कोई और मार्ग नहीं था, इसीलिए वही प्रस्तुत करके हमने आप सबको गलद्घर्म (पसीने में तर) कर डाला है। किन्तु हमारे वर्तमान प्रबन्धों का उद्देश्य अन्य प्रकार का है। आधिभौतिक दृष्टि में ही हम प्रधानतः मार्ग देखते चलेंगे। अवश्य ही कौन सा महातीर्थ, हमारे इस पथ के अवसान में श्रीश्रीजगन्नाथदेव के मन्दिर के शिखर के समान हमारे संशयक्लिष्ट धूलिधूसरित मुख की ओर आश्वास व अभय की दृष्टि से देख रहा है, उसीको एक बार देख लेने के लिए पथ के मध्य में ही मुख उठाकर ताक लिया है। नहीं तो 'पथ की धूल से अन्धा' होकर हमें अपरा विद्या की कक्षा में ही जो पड़े रहना होगा! अध्यात्मदीप ने ही महामन्दिर का पथ दिखाया है। हमने देखा है कि ब्रह्म या आत्मा में जाकर ही निखिल श्रुतिरहस्य का पर्यवसान है।

-ग्रन्थकार

अनुक्रमणिका

●

वेद व विज्ञान

•

स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

एक

'वेद' का अर्थ और विज्ञान की उपादेयता

जो कुछ हम लोग दूसरे के मुख से सुनते हैं, अथवा अनुमान कर लेते हैं, उसके सम्बन्ध में हम सर्वथा निःसंशय कभी भी नहीं होते। हमने वैज्ञानिकों के मुख से सुना, अथवा स्वयं हो कुछ आकार व इङ्गित देखकर अनुमान कर लिया कि मङ्गल ग्रह में बुद्धिमान् जीव वास करते हैं, इस क्षेत्र में जब तक बलवत्तर प्रमाण नहीं पाते, तब तक हम मन से सब संशय दूर करके निश्चिन्त तो नहीं हो सकते। दूसरे के मुख से सुनना और अनुमान आदि हमारे भीतर वस्तु के सम्बन्ध में परोक्ष ज्ञान मात्र उत्पन्न कराते हैं—जैसा कि पूर्वोक्त दृष्टान्त है। परोक्ष ज्ञान को लेकर मनुष्य सुस्थिर नहीं रह सकता; जब तक कि वह साक्षात् ज्ञान या अपरोक्ष ज्ञान की परीक्षा में अनुमान आदि को जाँच न ले, तब तक उसके संशय का विलय या चिन्ता को विश्राम नहीं है। गुरुमुख व शास्त्र में बराबर सुनते आ रहे हैं कि देह के विनाश से आत्मा का विनाश नहीं होता, जन्मान्तर में जीर्ण वस्त्र को छोड़कर नया वस्त्र पहनने के समान आत्मा एक जीर्ण कलेवर का परित्याग कर नवीन कलेवर धारण करता है। किन्तु स्वयं भगवान् के श्रीमुख से 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च'[1] सुन लेने पर भी हमें विश्वास हुआ ही कहाँ, ध्रुव पदवी की छाया ने भी हमारा स्पर्श नहीं किया, वरन् जीवन-संग्राम में चारों ओर उत्क्षिप्त धूलिराशि अरबी उपन्यास (Arabian Nights) के उस धीवर के जाल में समाकृष्ट दानव के समान "घन होकर जब लौट आता है" तब मैं तो लोकायत मत का ही एक व्यक्ति बनकर, मुख खोलकर न सही, अन्तर के एकान्त व नीरस प्रदेश से कह उठता हूँ—"भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'—जो देह चिता पर चढ़कर भस्म हो गयी, ठीक उसी देह का तो अवश्य ही पुनरागमन नहीं होता है एवं जिस आत्मा ने स्वयं को शुद्ध रूप में जान लिया है उसके सम्बन्ध में भी श्रुति ने अवश्य ठीक ही कहा है—'न स पुनरावर्तते'[2]। किन्तु अनादि-अविद्या-संस्कार को जब तक लाँघ नहीं पा रहा हूँ, नटी के समान अपने रङ्ग दिखाकर प्रकृति जब तक पुरुष के सङ्ग से प्रतिनिवृत्त नही हो रही है[3], तब तक इस भव (जगत्) का खिचाव है—करघे पर मुझे जुलाहे के यन्त्र की तरह वासना-सूत्र के अवलम्बन से एक विचित्र कर्मजाल जन्म-जन्मान्तर से बुनते जाना पड़ रहा है। इस रहस्य को गुरुमुख व शास्त्र-मुख से मैंने पुनः पुनः सुना है, किन्तु सुनने पर भी, जैसा कि मैंने अभी कहा, मेरा विश्वास दृढ़ व सुस्थिर नहीं हुआ है। जैगीषव्य[4] के समान दस महाकल्पों का न सही,

दो-एक ही अतीत जन्मों का ठीक-ठीक स्मरण रहने से शायद विश्वास अटल होता; पाश्चात्य देशों की Psychic Research Society जिस Medium (माध्यम) के साहाय्य से प्रेतलोक का सन्देश हमारे पास वहन करके ला रही है, उस प्रकार के Medium का लक्षण भी यदि अपने में देख पाता तो Sir Oliver Lodge जैसे[४] प्रमुख वैज्ञानिक धुरन्धरों के पास एक अर्जी भेज देता; किन्तु दूसरे के साक्ष्य में विश्वास करके, अथवा अप्रतिष्ठित स्वभाववाले दार्शनिक तर्क-वितर्क पर निर्भर करके, मैं तो आत्मा के स्वरूप व एक जन्म से जन्मान्तर में पर्यटन के सम्बन्ध में पूरी तरह संशयरहित नहीं हो पाया हूँ। वही यम-नचिकेता-संवाद[५], वही प्राचीन पञ्चाग्निविद्या[६], गीता का वह आत्मा के प्रयाण-काल में प्रस्थानभेद[७]—इन सब संवादों के समान आत्मीय संवाद, मर्म की बात, मेरे पास कुछ भी नहीं है, क्योंकि यह तो मैं क्या था, क्या होऊँगा—इसीकी जिज्ञासा है। 'कहो तो भाई, मरने पर क्या होता है ?' इस जिज्ञासा की अपेक्षा और कोई भी जिज्ञासा, इस प्रश्न के स्थान पर और कोई भी प्रश्न तो प्राणों के ठीक अन्तःपुर तक नहीं पहुँचता; किन्तु जिज्ञासा अन्तस् के जिस भी स्तर से उठे, वक्तृता सुनकर, पढ़-लिखकर, अथवा विचार-मनन करके, वह जिज्ञासा अभी भी तृप्त नहीं हो पाई है।

विवेकानन्द ने जैसे परमहंसदेव को कहा था—'आप ईश्वर-ईश्वर करते हैं; ईश्वर को मुझे दिखा सकते हैं ?' वैसे ही गुरु व शास्त्र को पकड़कर कहने की इच्छा होती है—'पूर्वजन्म, परजन्म कहते हो; मुझे वह दिखा सकते हो ?' इस देश के गुरु व शास्त्र तो इस बारे में पीछे मुड़कर भी नहीं देखते। उन्होंने ही बलपूर्वक अध्यात्म-शास्त्र में कहा है **'नैषा मतिस्तर्केणापनीया'**,[१०] दर्शनशास्त्र के तर्कपाद की वाग्वितण्डा के मध्य भी वे स्वीकार कर गये हैं—**'तर्काप्रतिष्ठानात्'**[११]। तभी यह सिद्धान्त सामने आता है कि विश्वास की सुस्थिरता के लिए, यथार्थज्ञान की आश्रयस्वरूपा जो भूमि मुझे पानी होती है, वह प्रत्यक्षज्ञान, अपरोक्षानुभूति (direct experience) है। अनुमान आदि अन्य सभी ज्ञानों की कसौटी व विरामस्थान है यह अपरोक्षज्ञान। केवल आत्मा के सम्बन्ध में नहीं, सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में ही हमारे श्रवण, मनन व निदिध्यासन जब तक दर्शन या साक्षात्कार तक जाकर परिसमाप्त नहीं होते, तब तक संशय के हाथ से हमारी अव्याहति नहीं है, छुटकारा भी नहीं है। विज्ञान (Science) के समीप हम जो सिर झुकाते हैं, उससे मानव आत्मा की संवर्धना ही होती है, अवमानना नहीं; क्योंकि श्रुति ने प्रत्यक्षज्ञान को साक्षात् ब्रह्म कहा है एवं विज्ञान ने अनेक विषयों में हमें जैसा अपरोक्षज्ञान (direct experience based on observation and experiment) देने का आयोजन किया है, उससे वह प्रकारान्तर से हमारे ब्रह्मसाक्षात्कार का ही पथ बना दे रहा है। यह पथ, हो सकता है कि, ठीक

सीधा पथ नहीं है, शायद वन्धुर (ऊबड़-खाबड़) व विघ्नसंकुल है। इस पथ में चलने पर भी हमारे सामने जो लक्ष्य है वह वही भूमा है—वही प्रत्यक्षज्ञानराशि जिसे ऋषि लोग ब्रह्मज्ञान कह गये हैं। किन्तु जड़विज्ञान जिस मार्ग का अनुसरण करके चल रहा है, उसमें गोरखधन्धे के वीच पथ खोकर खण्डित, कृपण व कुण्ठित ज्ञान में ही आवद्ध हो पड़ने की आशङ्का वहुत है। हो सकता है कि एक चींटी के पैर अथवा धूलिरेणु के गठन की परीक्षा करते-करते ही जन्म वीत जाय। इससे एक ओर तो लाभ अवश्य ही है कि क्षुद्र हो या विराट् हो, अणु हो या महान् हो, आमने-सामने देख-सुनकर, परिचय पा लेने की जो स्पृहा मानवात्मा में चिरकाल से जागरूक है, उस स्पृहा की थोड़ी-वहुत तृप्ति पिपीलिकापदसेवी वैज्ञानिक को अवश्य ही हुई; और भी, उस तुच्छ परीक्षा के भीतर जीव-प्रकृति के किसी एक विराट् तथ्य ने शायद इङ्गित द्वारा ही अपनी अवस्थिति का बोध करा दिया है; —पिपीलिका का पैर लेकर अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से परीक्षा करके देखते-देखते, हो सकता है, कोई एक वड़ा नियम व व्यवस्था पकड़ में आ जाय जो शायद निखिल जीवजगत् के मूल की कोई वात हो; या पिपीलिका के पैर की सेवा करने जाकर किसी ऐसे पैर का सन्धान मिल जाय जो पैर[११] स्वर्ग, मर्त्य व पाताल को आक्रान्त करके भी समाप्त नहीं हुआ है; जिस पैर के नीचे भक्त को अपना मस्तक रख के स्वीकार करना पड़ा था कि जिन विश्वात्मा ने वामन होकर, क्षुद्र होकर उसके द्वार पर भिक्षा की झोली फैलायी थी, वे विश्वात्मा स्वयं विष्णु, सर्वव्यापी हैं; मैं जहाँ उन्हें [१३]'अणोरणीयान्' देख रहा हूँ, वामन समझ रहा हूँ, वहाँ वे 'महतो महीयान्' त्रिविक्रम हैं। मैं क्या उन्हें पकड़ सकूँगा ? उन्होंने मेरे मस्तक पर पैर रखकर मुझे समझा दिया कि मैं अपनी समस्त बुद्धिवृत्तियों का, शुभाशुभ वासनाओं का विनियोग कर लूँ, तब भी वे बुद्धिवृत्ति द्वारा न पकड़ में आनेवाले व अग्राह्य हैं—अवाङ्मनसगोचर हैं। शायद, यह भी हो सकता है कि वैज्ञानिक पिपीलिका के पैर में या धूलिरेणु में वामन के उसी विश्वरूप का आभास या इङ्गित पाकर मुग्ध, 'आत्महारा' (अपने-आपको खोए हुए) हो रहते हैं—उस 'सहस्रशीर्ष', 'सहस्राक्ष', 'सहस्रपात्' पुरुष का ही सन्धान पाते हैं जो समस्त भूमि को सभी ओर से स्पर्श करते हुए भी 'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्'[१४] (दस अङ्गुल बढ़ रहा)। वैज्ञानिकों को यह सौभाग्य कभी नहीं मिला हो ऐसा नहीं है। विशेष रूप से नाम गिनाकर क्या होगा, न्यूटन, फ्यारॉड, फ्रॉयड के समान कोई-कोई भाग्यवान् वैज्ञानिक हमारे उन वामन ठाकुर को पहचान गये हैं, जो विराट् होकर भी क्षुद्र के वेश में, अपरिच्छिन्न होकर भी परिच्छिन्न के समान, हमारे इन्द्रिय व बुद्धि के द्वार पर भिखारी के समान आकर खड़े रहते हैं। छोटे में बड़े का सन्धान व आविष्कार विज्ञान ने भी समय-समय पर नहीं किया हो ऐसा नहीं है। किन्तु बहुत बार हम लोग छोटे को लेकर छानबीन करते-

करते प्रायः कूपमण्डूक ही हो जाते हैं, बड़े की बात एक प्रकार से भूल ही जाते हैं—वैज्ञानिक गवेषणा के मार्ग में यह एक विपद् है। टुकड़े-टुकड़े ज्ञानों को बटोरकर एकत्र करते समय बहुत बार भूल जाते हैं कि एक सोमाहीन महासिन्धु निगूढ़ उच्छ्वास लेते समय तट की भूमि पर फैलकर दो-चार चमकीले सीप व पत्थर अवश्य ही बिखेर दे रहा है, किन्तु उसके गम्भीर व विपुल कुक्षितल (कोख या गर्भ) में जो माणिक तह पर तह सजे हुए हैं, उनमें से एक भी किसी प्रकार यदि मेरे हाथ में आ जाता तो मैं 'सात राजाओं का धन' पा जाता। श्रुति ने इसीलिए हम लोगों से ऐसा ही कुछ जानने को कहा है जिसे जानने पर **'सर्वमिदं विज्ञातं भवति'**[५] (यह सब कुछ जाना जाता है)। वैज्ञानिक तथ्यान्वेषण अवश्य ही समय-समय पर हमें लक्ष्य से भ्रष्ट (च्युत) करके एक सीमाहीन, कभी खतम न होनेवाले भूल-भुलैया में घुमा-फिराकर मार डालने की व्यवस्था कर देता है, किन्तु तब भी, उसका मूल्य व प्रयोजनीयता बहुत मामूली नहीं है। परीक्षा द्वारा अपरोक्ष ज्ञान पाने में ही विज्ञान का आग्रह है एवं लक्ष्य को स्थिर रखकर पथ को सीधा कर लेने भर से यह वेद व ब्रह्मज्ञान का पथ हो सकता है। वेद व विज्ञान के बीच एक बहुत घनिष्ठ प्रकार की आत्मीयता है, यह बात भूलने से नहीं चलेगा।

वेद का एक नाम 'श्रुति' होने पर भी, जो लोग वेद को सुनी-सुनाई बात समझते हैं, वे प्राचीनों के अभिप्राय बिल्कुल भी नहीं समझ पाये हैं। वेदान्तदर्शन के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद के अट्ठाइसवें सूत्र में व्यास ने वेद को प्रत्यक्ष और स्मृति को अनुमान कहा है। शङ्कराचार्य ने उक्त सूत्र के भाष्य में लिखा है—**'प्रत्यक्षं हि श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रति अनपेक्षत्वात्। अनुमानं हि स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्।'** पुनः अन्यत्र लिखा है—**'वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये'**। आँख से देख लेने पर, कान से सुन लेने पर अथवा स्पर्शादि करके देख लेने पर हम उस वस्तु के अस्तित्व के विषय में निःसंशय होते हैं एवं उन सब क्षेत्रों में फिर अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती। अनुमान आदि में चाहे कितनी भी आस्था रखें, मन का संशय पूरी तरह दूर नहीं होता। और प्रत्यक्ष प्रमाण की कसौटी पर उसकी परीक्षा कर लेने की एक चाह रह ही जाती है। प्रत्यक्ष असन्दिग्ध व निरपेक्ष प्रमाण है। एक पात्र में मैंने दो गैसें मिलाकर उन्हें ताड़ित प्रवाह में चञ्चल कर दिया; फल-स्वरूप मिला थोड़ा सा जल। हमारी बुद्धि-विवेचना में ताड़ितशक्ति के आलोड़न से गैस-युगल का एकदम पानी न बनकर अग्निशर्मा बनना ही युक्तियुक्त हो रहा है, किन्तु आँख से जब जल देख रहा हूँ, तब सैकड़ों युक्ति-तर्क एवं गाड़ियाँ भर-भर अनुमान-खण्ड भी उस जल को आग नहीं बना पायेंगे। प्रत्यक्षज्ञान रूपकथा का वही राजपुत्र है जो किसीके भी समीप गर्दन झुकाना नहीं जानता; बुद्धि-विवेचना को

प्रत्यक्ष (मेरा देखा-सुना आदि) का मन टोहते हुए या मुँह देखते हुए चलना पड़ता हैं; अनुमान आदि को प्रत्यक्ष के अनुगत ही रहना पड़ता है। इसीलिए दर्शन-शास्त्रकार प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ प्रमाण कहते हैं। संक्षेप में कहें तो हमें यह प्राप्त हुआ कि प्रत्यक्ष से लब्ध ज्ञान विस्पष्ट, असन्दिग्ध व निरपेक्ष है। हम जिस ज्ञानराशि को वेद नाम से मानते हैं, उस ज्ञानराशि में भी शायद ये लक्षण हैं; उसमें ये हैं, इसीलिए शास्त्रकार उसे प्रत्यक्ष कहकर तब क्षान्त हुए हैं। अथ च, सरसरी तौर पर हम लोग देख रहे हैं कि वेद सुनी-सुनाई बातें हैं; मेरे समान अधम, म्लेच्छ-शास्त्रव्यवसायी ने शायद रमेशदत्त या मैक्सम्यूलर की पोथी के पन्ने उलटकर ही वेद की खबर पाई है; पण्डितजनों में से कोई-कोई (बहुत से नहीं भी) काशी जाकर वेदज्ञ आचार्य के अन्तेवासी होकर शिक्षा, कल्प आदि अङ्गों के साथ वेद सुन व सीख (पढ़) आये हैं। दोनों ही स्थलों में वेद का जितना-सा परिचय हम पा रहे हैं, वह पढ़-सुनकर ही। इसके अतिरिक्त, आजकल के पण्डितों की जो वैदिक गवेषणा है, उसमें, सुनते हैं, वेद पढ़ने व सुनने की भी कोई बहुत अनिवार्य आवश्यकता नहीं है—पाणिनि व यास्क आदि के पथ से न जाकर भी, एक विलायती वैदिक सूचीपत्र (Index या Concordance) के माहात्म्य से, प्राचीन-अर्वाचीन किसी भी प्रकार की संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्ति भी कर्म-कुशलता से, अनायास ही जड़बुद्धि लोगों द्वारा अनतिक्रमणीय वेदवारिधि के पारग हो जाते हैं। इनकी अघटन-घटन-पटीयसी कर्मकुशलता इस प्रकार के स्वाध्याययज्ञ से जिस काञ्चन-मूल्य का दक्षिणा रूप में दोहन कर लेती है उसे हम जैसे अर्धाशनक्लिष्ट (आधा पेट भोजन करनेवाले) शिक्षकों के दल ने भी दूर से सभय, लोलुप दृष्टि से प्रत्यक्ष देखा है; किन्तु 'प्राणेभ्योऽपि गरीयसी' नौकरी की माया छोड़कर भी हमें अपना संशय प्रकट करना पड़ रहा है कि गवेषणापन्थी आधुनिक पण्डितों की पण्डा (शास्त्र-विवेचिनी बुद्धि) कहाँ तक वेदग्राहिणी है एवं वेदविद्या उनके प्रति कहाँ तक प्रत्यक्ष है ? असली बात यह है कि जो वस्तु हमारे समीप वेद नाम से परिचित है (परिचय अवश्य ही बहुत मामूली है वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं, सुनी हुई या पढ़ी हुई बात है। उसे मानने-न-मानने की बात को छोड़ दें, तो उस सुनी या पढ़ी हुई बात में प्रत्यक्ष के पूर्वोक्त लक्षणों में से कोई भी हमें दिखाई नहीं देता है। वेद को सुनकर मुझे जो ज्ञान हो रहा है वह विस्पष्ट, असन्दिग्ध व निरपेक्ष नहीं है। यह स्वीकारोक्ति आस्तिक व्यक्ति के मन में शायद क्षोभ उत्पन्न करेगी; किन्तु बात बिल्कुल सही नहीं है क्या ? और फिर यह सत्य मर्मान्तिक सत्य है; जिस वेद को मूल काण्डरूप में आश्रय बनाकर निखिल हिन्दू सभ्यता एक महामहीरुह (विशाल वृक्ष) की भाँति नाना दिशाओं में नाना शाखा-प्रशाखायें फैलाकर काल की साक्षी बनकर खड़ी हुई है, वही वेद 'श्रुतौ तस्करता स्थिता'[1] के समान हममें से बहुतों के समीप कानों से सुना एक शब्द होकर

स्थित हैं; पुनः जिन्होंने अनुसन्धित्सु होकर कुछ उलट-पुलटकर देखा है उनका भी इससे सम्बद्ध ज्ञान अस्पष्ट, असम्बद्ध, संशयाकुल, सामञ्जस्यविहीन है। सुना 'स्वर्गकामो जयते'[१७]। आक्षरिक अर्थ यदि किसी प्रकार समझा, तो मन में नाना प्रश्नों व संशयों का भी उदय हुआ—स्वर्ग क्या है व कहाँ है? मैं दो पैरोंवाले, पंखरहित जीवरूप में इस संसार में आकर जिस दुःख-कष्ट का बोझा ढो रहा हूँ उसे मेरे पैरों के नीचे की धरित्री सर्वंसहा होने के कारण ही किसी प्रकार सहती जा रही है; मेरे लिए नरकभोग तो प्रतिनियत हो ही रहा है (ऐसी स्थिति में)—स्वर्ग की छवि 'क्षणिक आलोक में आँखों की पलकों पर' केवल एक बार देख पाता हूँ, जब सारा महीना 'मिल', 'स्पेन्सर', 'काण्ट', 'हेगेल'[१८] आदि की घानी चलाकर मास के अन्त में एक-दो कागज के टुकड़ों पर वेतन-सुन्दरी का आलेख्य चित्रित देखता हूँ। इसके अतिरिक्त भी अन्य किसी प्रकार का स्वर्ग-नरक है क्या? यदि हो भी तो मेरे इस नश्वर जीव-जन्म के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? मैं मरकर क्या बनूंगा? किस रूप में कहाँ जाऊँगा? भस्म में नहीं तो अग्नि में घी डालकर मैंने कैसे स्वर्ग में उर्वशी-मेनका की नृत्य-सभा में एक 'बॉक्स' रिजर्व करा डाला, यह तो सीधी-सादी बुद्धि से किसी प्रकार भी नहीं समझ पा रहा हूँ। यज्ञ के साथ आत्मा के पारलौकिक कल्याण का क्या सम्बन्ध है? मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र का यथाविधि विनियोग करके मैं यज्ञ या होम में, देवता व पितृ-गणों के उद्देश्य से जो हवि छोड़ता या डालता हूँ, उससे, कहते हैं, उनकी तृप्ति होती है; मन में संशय उठता है—जलमुँहे मन में दोष बहुत हैं—देवगण व पितृगण क्या सच-सच ही अलक्षित रूप से वर्तमान हैं? अथवा चार्वाक-शिष्यों के साथ कह उठूँगा—वे सब दक्षिणा-लोभी पुरोहित-वर्ग की धूर्तता है; मृत गौ को पुनः घास खिलाने की व्यवस्था है? एक दृष्टान्त लिया है। किन्तु दृष्टान्तों का अभाव नहीं है।

बात यहाँ आकर ठहरती है—जो वेद हम पढ़ या सुन रहे हैं, उसका अधिकांश समझते नहीं; जितना-सा समझते हैं, वह भी बहुत जटिल रूप में; नाना प्रश्न, नाना संशय, मन को आलोड़ित व विक्षुब्ध कर डालते हैं—वेद के आस्तिक्य को बनाये रखना एक प्रकार से असाध्य कार्य हो जाता है। इतना ही नहीं, पढ़-सुनकर जो ज्ञान पाता हूँ, वह ज्ञान प्रत्यक्ष-अपरोक्ष ज्ञान तो नहीं ही है, वरन् स्वयं सोच-विचारकर अनुमान करके जो ज्ञान हम पाते हैं, उस ज्ञान के समान आपेक्षिक सुस्थिरता भी हमारी वेद-विद्या में नहीं है। पर्वत पर धूम देखकर मैंने वह्नि का अनुमान कर लिया एवं वह्नि मिलेगी यह निश्चय करके उसकी ओर चल पड़ा; किन्तु **'स्वर्गकामो यजेत'** यह वाक्य सुनकर मन में कहीं इतना दृढ़ विश्वास या प्रत्यय नहीं होता कि पारलौकिक स्वर्ग-सुख की प्रत्याशा में ऐहिक जठर-ज्वाला में घी डालना किसी प्रकार बन्द करके आहवनीय आदि यज्ञीय अग्नि में हवन करने के लिए **'ऋणं कृत्वा घृतं'** का संग्रह करूँ।

अतएव स्वर्ग-नरक, याग-होम, स्वस्त्ययन आदि की बात सुनकर मुझे उतना दृढ़ प्रत्यय कहाँ हो रहा है ? अथ च शास्त्रकारों ने कह डाला कि वेद प्रत्यक्ष है; उसका प्रामाण्य भी बताया—'रवेरिव रूपविषये'। इसीलिए मन में स्वतः ही प्रश्न उठ रहा है कि असली बात क्या है ? यह सब क्या परवर्ती दर्शनकारों व मीमांसकों की एक झूठमूठ पटाने की चेष्टा है ? या और कुछ है ? बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिए पहले हमें यह देख लेना है कि उन्होंने किस प्रकार वेद को देखा है ? 'ऋक्', 'साम' आदि क्या छोटी-मोटी कोई पोथियाँ-मात्र हैं, जिनका असली मूल पढ़ना हम लोग आजकल पशु-श्रम जैसा समझते हैं एवं जिनके सम्बन्ध में जर्मनी, सेण्ट पीटर्सबर्ग आदि स्थानों के म्लेच्छ पण्डितों द्वारा सङ्कलित एक-आध अभिधान या सूचीपत्र देखने को मिल जाने पर ही हम चरितार्थ व पण्डितम्मन्य हो जाते हैं ! यही क्या वेद है ? कहने का अभिप्राय यही है कि संक्षेप में हमें वेद की एक परिभाषा दना लेनी होगी। वेद व विज्ञान के सम्बन्ध पर आलोचना—इन धारावाहिक प्रबन्धों में—हमें करनी ही है, तो पहले इन दोनों शब्दों का, अन्ततः पहलेवाले का (वेद का)—एक सुस्पष्ट अर्थ सबसे पहले स्थिर कर लेना आवश्यक है।

वेद प्रत्यक्ष है, यह बात सुनकर, हो सकता है, कोई इस प्रकार की कैफियत देंगे—मन्त्र व ब्राह्मण लेकर वेद है; ऋषियों ने मन्त्र व मन्त्रार्थ दोनों का ही दर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष किया है। बात शायद ठीक है; किन्तु यह बात सुनकर हमारे साधारण लौकिक प्रत्यक्ष के साथ इस जाति के ऋषि-प्रत्यक्ष का सम्पर्क ठीक समझ में नहीं आया। हो सकता है, ऋषियों ने किसी अवस्था में किसी वस्तु का प्रत्यक्ष किया होगा; हमें-तुम्हें उस विषय में कोई प्रत्यक्ष नहीं है, यहाँ तक कि विपरीत प्रत्यक्ष हो रहा है। इस दृष्टान्त में दोनों प्रत्यक्षों—आर्ष प्रत्यक्ष और हमारे प्रत्यक्ष—में समानता नहीं है, संभवतः विरोध ही है। प्रामाणिक कौनसा है ? किसे मानूं ? शास्त्र को या अपने प्रत्यक्ष को ? गुरु कह रहे हैं शास्त्र ही प्रमाण है। किसके बल से ? शास्त्र का अर्थ ही है ऐसा कुछ मापदण्ड या कसौटी, जिसके द्वारा अपने निजस्व प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों की, बुद्धि-विवेचना की, परीक्षा करके, उसका शासन करके माँज लेना। कहते हैं वेद ही शास्त्र है। क्यों ? हमारे प्रत्यक्षादि ज्ञानों का क्या अपराध है ? उसमें कहाँ कृपणता व व्यभिचार है जिनको शासन करके, कसौटी पर कसना, माँजना होगा ? हमारे अनु-मान, कल्पना-जल्पना, हिसाब-अन्दाज आदि का शासन करके संशोधन कर लेने के लिए वर्तमान है एक नैसर्गिक शास्त्र—इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्षज्ञान। इस शास्त्र का पुनः दूसरे शास्त्र द्वारा शासन, संशोधन किसलिए करना पड़ेगा ? इस प्रश्न का कुछ समाधान हुए बिना हम नहीं समझ सकेंगे कि क्यों व किस रूप में वेद श्रुति होने पर भी प्रत्यक्ष हुआ एवं कहाँ व किस प्रकार से इस आर्षज्ञानराशि के साथ हमारे विज्ञान का सम्पर्क है।

शबर स्वामी जैमिनिसूत्र के भाष्य में प्रत्यक्षादि-प्रमाण-परीक्षा के स्थल पर कहते हैं[१९] 'व्यभिचारात् परीक्षितव्यम्'; हमारे साधारण प्रत्यक्षादि में भूल-भ्रान्ति है, कुण्ठा-कृपणता है एवं व्यभिचार है; सुतरां बिना विचार के, बिना परीक्षा के हम उन्हें ग्रहण नहीं कर सकते। आपाततः ऐसा लगा था कि प्रत्यक्षज्ञान शायद सभी प्रकार से सुस्थिर, निरपेक्ष व असन्दिग्ध है। किन्तु थोड़ा सा ध्यान देने पर ही देख पाता हूँ कि सभी ओर से व नियत रूप से ऐसा नहीं है। रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत आदि मामूली दृष्टान्त आप सभी के जाने हुए ही हैं। हमारे देखने-सुनने आदि में आवरण व विक्षेप (non-observation and mal-observation) ये दोनों प्रकार की त्रुटियाँ हैं। सभी प्रकार की वस्तुयें देखने या सुनने की सामर्थ्य हमारे चक्षु या कान में नहीं है। सादी आँख से जो नहीं देख सकता, उसे मुझे अणुवीक्षण या दूरवीक्षण आदि यन्त्रों की सहायता से देखना होता है। यन्त्र की सहायता से जितनी दूर तक देख पा रहा हूँ, वही चरम नहीं है;—मेरे देखने की सीमा के बाहर जो कितने ही सूक्ष्म, व्यवहित व विप्रकृष्ट विषय वर्तमान हैं, उनका हिसाब कौन देगा? महासागर के तट पर खड़े होकर दिक्-चक्रवाल के परिच्छेद के बीच लवणाम्बुराशि की विपुलता को भला कितना-सा पकड़ सकता हूँ? महत्-परिमाणवाली वस्तु भी कुछ दूर न हो तो मैं उसे देख नहीं पाता। छोटे परिमाणवाली वस्तु भी अधिक ह्रस्व हो तो मेरी दृष्टिशक्ति की पकड़ में नहीं आती। अतएव मेरी आँख पर एक स्वाभाविक परदा है, यन्त्र की सहायता से उस परदे को थोड़ी देर के लिए व थोड़ा सा सरकाना संभव होने पर भी वह परदा रह ही जाता है; मेरी दृष्टि-सामर्थ्य निरतिशय नहीं होती—मेरी दृष्टि वेद की वह [२०]"दिवीव 'चक्षुराततम्' नहीं बनती। यह परदा मेरी दृष्टिशक्ति का आवरण-दोष है। पुनः, जहाँ पर मैं देख पा रहा हूँ वहाँ पर भी, ऐसा हो जाता है कि एक के स्थान पर दूसरी वस्तु देख लेता हूँ—चाँदनी में इतस्ततः आन्दोलित कदलीपत्र की छाया को मैंने देख डाला प्रेत-सुन्दरी। यहाँ, मेरी आँख के देखने पर आरोप या अध्यास हुआ है। दार्शनिक व्याख्या जो भी हो, मेरे देखने में भूल हुई है। यह विक्षेप-दोष है। केवल चक्षु नहीं, कान आदि अन्यान्य इन्द्रियाँ भी हमें जो ज्ञान देती हैं, उनमें भी इस द्विविध दोष की सम्भावना है। कान के दोष अथवा कर्णमल को विशेष रूप से लक्ष्य करके मधुकैटभ[२१] के उपाख्यान की आलोचना हमने मन्त्रशास्त्र की आलोचना में मोटा-मोटी की है। साधारण रूप से, चित्तमल, कर्णमल, रसनामल आदि हमारे ज्ञान के करणों की जो त्रुटियाँ हैं, उनके रहने से हमारा ज्ञान पूर्ण व निरतिशय नहीं होता एवं जिस त्रुटि का सर्वथा अपगम होने पर हमारे भीतर के, योगनिद्रा में आच्छन्न[२२], विष्णु प्रजापतिरूप से अभिव्यक्त होते हैं, उस त्रुटि को ही नाम दिया गया है—मधु-कैटभ—आवरण व विक्षेप। इन मधुकैटभ का संहार न होने पर प्रजापति के ध्यान

में निखिल ज्ञान अथवा वेद यथायथ आविर्भूत नहीं हो सकता। वात, उपाख्यान के छल से कही गयी होने पर भी सीधी है। हमारा ज्ञान अल्प व मलिन है; इसे भूमा व विशुद्ध होने के लिये सभी प्रकार के आवरण हटा डालने होंगे। वात बस यही है।

और भी, केवल इन्द्रिय का दोष देखने से ही काम नहीं चलेगा। हमारे भीतर ज्ञान का जो करण (Instrument) है, वह है अन्तःकरण—मन व बुद्धि; उस अन्तःकरण में राग-द्वेष आदि मैल रहने पर भी यथार्थज्ञान नहीं होगा। इन्द्रिय व अर्थ का सन्निकर्ष, जो मेरे भीतर ज्ञान को उत्पन्न करने का प्रयास कर रहा है, उसके साथ मन को संयुक्त होना चाहिए—मन में उस समय प्रतिकूल या विरोधी संस्कार प्रवल हों तो वस्तु के सम्बन्ध में मुझे यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। मैं जिस समय तद्गतचित्त होकर स्वरद (सरोद) या सुरबहार का आलाप सुन रहा हूँ, उस समय मेरे कान के पास घड़ी वजती रहे तो मैं उसे सुन नहां पाता। दृष्टान्त तो अनेक हैं—बात सीधी सी है। तालाब का जल निर्मल व सुस्थिर न हो तो उसमें ज्योतिष्कपुञ्ज तथा चारों ओर के वृक्ष आदि का प्रतिविम्ब ठीक-ठीक पड़ेगा क्या ?

अतएव वात यहाँ ठहरती है कि मेरा प्रत्यक्षज्ञान मोटा-मोटी कामचलाऊ रूप से या व्यावहारिक रूप से असन्दिग्ध व निरपेक्ष प्रमाण होने पर भी निरतिशय व पारमार्थिक रूप से ऐसा नहीं है। केवल आँख, कान से देख-सुनकर हमारी छुट्टी नहीं होती; हमारे देखने-सुनने आदि की परीक्षा करके जाँच करनी होती है। हमारे साधारण प्रत्यक्ष के लिए कसौटी चाहिए। एक आदर्श चाहिए। अन्दाज, अनुमान, कल्पना-जल्पना आदि की कसौटी या आदर्श (Standard) प्रत्यक्षज्ञान है; किन्तु प्रत्यक्षज्ञान भी सङ्कीर्ण, विकृत व भ्रान्त हो सकता है, सुतरां उसके लिए भी कसौटी या आदर्श चाहिए। पुनः, हमारे-तुम्हारे देखने-सुनने में स्थूलरूप से समानता होने पर भी सर्वतोभाव से एकता नहीं है, नहीं रह सकती; क्योंकि हमारे ज्ञान के करण ठीक एक जैसे नहीं हैं। संस्कार भी ठीक समान नहीं हैं, अथ च तुम्हारे-मेरे बीच मध्यस्थता करने के लिये एक विचारक चाहिये, एक नियम-व्यवस्था चाहिये, किसका प्रत्यक्ष कितना वस्तुतन्त्र हुआ है इसका निरूपण करने के लिये एक आदर्श सम्मुख उपस्थित होना चाहिये। वह आदर्श कहाँ है ?

यदि सोच लें कि ज्ञान की एक पराकाष्ठा-भूमि है,—मेरा ज्ञान तुम्हारा ज्ञान, वैज्ञानिक या अभिज्ञ व्यक्ति का ज्ञान, ऋषि का ज्ञान—इन सब ज्ञानों की निरतिशयता या पराकाष्ठास्वरूप ज्ञान का आधार एक पुरुषविशेष है—**'यत्र निरतिशयं सर्वज्ञत्वबीजम्'**[११]—हाँ, अवश्य ही जो चरम आदर्श हम खोज रहे थे वही मिल गया। हमारे लक्षणों के अनुसार ऐश्वर्य एक ऐसी पदवी है, परमेश्वर का ज्ञान एक ऐसा ज्ञान है,

जिसके समीप अन्य सभी निम्नभूमियों के ज्ञानों को अपना माप व हिसाब देना होता है। मेरा प्रत्यक्ष शायद किसी बालक के प्रत्यक्ष का संशोधन कर देगा; मैं वन गया बालक के प्रति आदर्श। मेरे प्रत्यक्ष को ठीक करने के लिए वैज्ञानिक व अभिज्ञ व्यक्ति का प्रत्यक्ष है; वे मेरे प्रति आदर्श हुए। वैज्ञानिक व योगी के प्रत्यक्ष की भी अनेक भूमियाँ एवं अन्य विशेष हैं; सुतरां वहाँ भी आदर्श का अन्वेषण करना पड़ता है। अव यदि विश्वास कर लूं कि एक सर्वोच्च भूमि है, पराकाष्ठा का स्थान है, तो वही अवश्य अन्य सभी के लिए चरम आदर्श (Standard in the Limit) होगा एवं इस सर्वोच्च भूमि में जो निरतिशय रूप से पूर्ण व विशुद्ध ज्ञान है, वही ठहरा चरम वेद (Veda in the Limit)। जो इस चरम आदर्श को कल्पित व आदर्शमात्र समझ रहे हैं, उन्हें इसी क्षण भक्त व विश्वासी बना ले सकूँ ऐसा जादू मैंने नहीं सीखा है। हाँ, आदर्श कल्पित हो या वास्तविक हो, लक्षण के अनुसार वही निखिल जीव-प्रत्ययों के स्वत्व को व्यवस्थित करने व विवाद मिटाने की चरम अदालत है—इस पक्ष में क्या अभी सन्देह बचा है ? ठीक है, किन्तु कठिनाई यह है कि आदर्श पारमार्थिक होने पर भी, यहाँ तक कि पारमार्थिक होने के कारण ही हम सव तरह के स्थलों पर इसे काम में नहीं ला सकते,—यह व्यवहारयोग्य नहीं है। जब भी मेरे ज्ञान में संशय होगा, और उस संशय का निराकरण करने में वैज्ञानिक आदि हार मान जायेंगे, तभी क्या सरासरी भगवान् के पास अपील करूँगा और उनकी राय सुन लूंगा ? जो ऐसा कर सकता है, उसके भाग्य की अवश्य ही सीमा नहीं है; किन्तु जो मेरे जैसे अकिञ्चन, अपात्र हैं, उनके लिये उस अन्तिम अदालत में, Privy-council में अरजी अपील करके कुछ निर्णय करा लेने को धन कहाँ है ? अतएव हमारी बुद्धि-विवेचना, प्रत्यक्ष आदि को निःसंशय रूप से जाँच या माँज लेने के लिए जो कसौटी मैंने सोच-विचार कर ली, वह पत्थर स्वयं पारसमणि होने पर भी, मेरे इस ऐहिक जन्म की तुच्छ, नश्वर मुट्ठीभर धूल उसके संस्पर्श की आशा भी नहीं कर पायी।

काम चलाने के लिये क्या वैज्ञानिक की शरण में जाऊँ ? जिस लोटे का पानी पीने में मुझे सङ्कोच हो रहा है, वही पानी मैंने परीक्षा के लिये वैज्ञानिक के हाथ में दिया। उसने अणु-वीक्षणादि यन्त्रों की सहायता से परीक्षा करके बता दिया कि वह जल सदोष है या निर्दोष। किन्तु वैज्ञानिक प्रत्यक्ष, मेरे साधारण प्रत्यक्ष की कसौटी-रूप मोटामोटी होने पर भी सब समय बल-पूर्वक उस (साधारण प्रत्यक्ष) को गले लगाये रखना नहीं बन पाता एवं उस (वैज्ञानिक प्रत्यक्ष) को लेकर सुस्थिर नहीं हुआ जाता। वैज्ञानिक यन्त्र एवं तन्त्र (परीक्षा के उपाय, पद्धति आदि) बदलते जा रहे हैं। कल तक जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं था वह आज हो रहा है; कल जहाँ अन्धकार देखा था, आज Sir William Crookes ने वहाँ Radiant Matter या Matter

in fourth state देखने की व्यवस्था कर दी; आज इस हाथ के चमड़े के नीचे मैं कुछ भी नहीं देख पा रहा हूँ, कल हो सकता है X-ray के कमाल द्वारा हड्डी-मज्जा आदि का संस्थान व विन्यास पूरा देख पाऊँ। अतएव वैज्ञानिकों का देखना-सुनना आदि निश्चित ही बदलता जा रहा है, क्रमशः परिवर्धित, संशोधित एवं परिवर्जित भी हो रहा है। ऐसा होने की बात भी है। परीक्षा के करण व उपाय (यन्त्र व तन्त्र) ही तो एक-जैसे नहीं रह रहे हैं, नाना व्यक्तियों की परीक्षाओं में ही सब समय सर्वतोभावेन समानता हो ऐसा भी नहीं है। इसका कारण यही है कि नाना परीक्षकों के मन में नाना संस्कार हैं, मस्तिष्क में नाना प्रकार की बद्धमूल धारणायें या मतवाद (theories) वर्तमान हैं, सुतरां उनका देखना-सुनना ठीक एक प्रकार का नहीं होता। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'—जो जैसी प्रत्याशा रखता है, अथवा जैसा देखना चाहता है, वह बहुत-कुछ उसी प्रकार का देखता है।

विज्ञान के इतिहास में इसके दृष्टान्त कम नहीं हैं। विशेषतः आजकल पाश्चात्य देशों में 'माध्यम' (Medium) आदि को लेकर अध्यात्म विषय में और पारलौकिक विषय में जो परीक्षायें चल रही हैं, इन्हीं सब परीक्षाओं के संस्कार व 'थ्योरी' का अत्याचार अधिक परिमाण में होने की बात है। तात्पर्य यह कि वैज्ञानिक परीक्षा यदि सभी प्रकार से विशुद्ध होनी हो तो हमें दो शर्तों का प्रतिपालन करना होता है। प्रथमतः, परीक्षा के यन्त्र व तन्त्र विशुद्ध व चरम होने चाहिये। द्वितीयतः, परीक्षक को पूरी तरह पक्षपात-शून्य होना चाहिये। परीक्षा के लिये बाहर जो यन्त्र लेकर बैठता हूँ, केवल उसीके चरम होने से निस्तार नहीं है, तुम्हारे, मेरे देखने-सुनने की एक-एक व्यक्तिगत विशेषता (idiosyncracy) है, उसका समीकरण न होने पर तुम्हारा देखना व हमारा देखना ठीक एक जैसा नहीं हो सकता। इन सब मुश्किलों की बात वैज्ञानिक न जानते हों, ऐसी बात नहीं है। वे कहते हैं कि वैज्ञानिक परीक्षा उपयुक्त यन्त्र की सहायता से, और विहित उपाय से किसी 'माध्यम व्यक्ति' द्वारा करा के, तभी फल में आस्था स्थापित करनी होगी। चलते रास्ते में से किसी भी व्यक्ति को बुलाकर मुझे कहना होगा कि "इस यन्त्र से इस प्रकार देखो और देखकर मुझे बताओ कि ठीक-ठीक क्या देख रहे हो।" स्वयं अपने ऊपर मुझे विश्वास नहीं है, क्योंकि मेरे मस्तिष्क में, हो सकता है, परीक्षणीय विषय के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त (theories) रेल-पेल कर रहे हैं। पुनः हो सकता है, मेरे आँख-कान आदि भी ठीक स्वस्थ अवस्था में नहीं हैं। इसीलिए किसी मध्यस्थ को बुलाने की व्यवस्था की गयी है। किन्तु यह बिचौला मनुष्य कौन है ? मानसिक मनुष्य की तरह ही यह साधारण या माध्यम मनुष्य भी क्या वैज्ञानिक के मन का एक ख्याल ही नहीं है ? यह 'mean man' या 'average man' (मध्यम या औसत प्रकार का आदमी) एक कल्पित जीव ही तो है। तुम,

में, राम, श्याम, यदु आदि सभी मनुष्यों का एक सामान्य ढाँचा लेकर औसत-आदमी की सृष्टि हुई है—जैसे भारतवर्ष के प्रत्येक आदमी को औसतन आय २० या ३० रु० है। यह मध्यस्थ मनुष्य वैज्ञानिक का मानस-पुत्र है। उसको पुकारकर, उसके हाथ में यन्त्र थमा देना होगा एवं उसके द्वारा परीक्षा करा लेनी होगी।

फलतः, दो कारणों से हम वैज्ञानिक प्रत्यक्ष पर विश्वास करके नहीं रह सकते। पहला यह कि वैज्ञानिक यन्त्र व तन्त्र सम्पूर्ण व विशुद्ध नहीं हैं, अनवरत परिवर्तनशील हैं। दूसरा यह कि जिस प्रकार रागद्वेषराहित्य एवं पक्षपात-शून्यता रहने पर परीक्षा यथार्थ होती, उस प्रकार की अक्षुब्ध, निर्लिप्त अवस्था, तुम्हारी, मेरी या वैज्ञानिक की नहीं है; माध्यम-मनुष्य में लक्षण के अनुसार कुछ-कुछ है, किन्तु वह वास्तव में ही एक कल्पित जीव है—साक्षात् ध्रुवलोक से नीचे वह शायद विचरण नहीं करता। इन दो कारणों से वैज्ञानिकों की सभा भी बहुत कुछ हमारे इस समय में अध्यापक-वर्ग की विचार-सभा के समान वाग्वितण्डा व डींग हाँकने के नाद से आपूरित है। सचमुच ही किसी एकतान (मिले हुए) वाद्य के स्वर-हिल्लोल के आवेश में विभोर व शान्त नहीं है।

अणुओं का स्वरूप क्या है, वे किस रूप में गठित हैं, आलोकरश्मि सचमुच में वस्तु क्या है, प्राणी-जाति की उत्पत्ति व विकास किस प्रकार हुआ, पिता-माता व सन्तान के बीच उत्तराधिकार का सूत्र ठीक कितना सा है, किसी रोग की उत्पत्ति, स्थिति व लय ठीक किस कारण से, किस प्रकार हो रही है, इस प्रकार के विज्ञान के सभी विषयों में मतवादों का वैषम्य है, यहाँ तक कि परीक्षाओं के फलों में भी अनैक्य दिखाई दे रहा है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विज्ञान मुझे ऐसा कुछ नहीं दे रहा है जिसे पाकर सुस्थिर होकर घर बसाऊँ; जिसे लेकर निश्चिन्त होकर कारबार चलाऊँ किन्तु इसीसे विज्ञान को फेंक देना होगा ऐसी बात नहीं है।

मोटे तौर पर अनेक स्थलों पर अपने चालू प्रत्यक्षों को विज्ञान की परीक्षा में कस, माँज लेने से लाभ ही है, कोई हानि नहीं। बाँका होने पर भी विज्ञान का पथ ब्रह्मविज्ञान का पथ है—यदि बीच में ही प्रकृति के कुहक में भूलकर, माया की डोरी से बँधकर, लक्ष्य-भ्रष्ट व कृपण-स्वभाव न हो पड़ें तो। हाँ, विज्ञान के राज्य में भी अव्यवस्था देखकर हमारे समान निरीह, शान्तिप्रिय व्यक्ति को डरकर दौड़ आना पड़ रहा है। जिनके मेरुदण्ड में जोर ज्यादा है, वे विज्ञान की मायापुरी के समस्त विप्लव व तोड़-फोड़ के बीच एक शृङ्खला के केन्द्र का आविष्कार करके उसके चारों ओर हमारे आचार्य जगदीशचन्द्र[१४] के समान एक सुन्दर सुप्रतिष्ठित सत्यलोक गढ़ डालें। हम अनाड़ियों का दल तो दूर से ही उनका अभिवादन भर करता है।

कसौटी की खोज में बाहर निकले थे। विज्ञानागार से बाहर आकर तपोवन में या सिद्धाश्रम में जाकर उस कसौटी का सन्धान पायेंगे क्या ? बुजुर्गों का हाथ पकड़-कर किसी प्रकार सिद्धाश्रम में मानो पहुँच भी गये। देखते हैं सभी सिद्धगण ध्यान-स्तिमित-लोचन होकर हमारी उस कसौटी, स्पर्शमणि का ही अन्वेषण कर रहे हैं। यहाँ दूरवीक्षण या अणुवीक्षण नहीं हैं; हैं केवल संयम अर्थात् ध्यान-धारणा-समाधि द्वारा प्रस्फुटित, अव्याहत, अनाकुल अन्तर्दृष्टि या दिव्यदृष्टि। यह भी एक प्रकार का विज्ञान है—मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र का सन्निपात और विनियोग। बेकन[१५] से लेकर हॉक्सलि[१६] तक के, पाश्चात्य विज्ञानाचार्यों ने इस दिव्य दृष्टि को व्यर्थ व खोखला कहने का अपराध नहीं किया है। अवश्य ही, वे इस रस के रसिक नहीं थे। किन्तु पुनः इधर के जो कुछ एक वैज्ञानिक आध्यात्मिक शक्ति (Psychic Power) में विश्वास करने लगे हैं, वे हॉक्सलि, केल्विन[१७] के समान विज्ञान-केसरी चाहे न हों, तब भी आखिरकार विज्ञान-शार्दूल हुए विना नहीं रहते। विज्ञान-महाकाव्य के कितने ही सर्ग इन्हीके 'शार्दूल-विक्रीडित'[१८] छन्द में ग्रथित व झङ्कारित हुए हैं। विदेश से लौटे किसी विशिष्ट बन्धु के मुख से सुना है Lord Kelvin शायद Sir Oliver Lodge के सम्बन्ध में कहते थे—"A great scientist gone mad", किन्तु पूछने की इच्छा होती है—ये सब असाधारण धीशक्ति-सम्पन्न, प्रमाण-परीक्षा-कुशल, प्रमाण-प्रयोग-निपुण, विश्ववन्दित वैज्ञानिक वृद्धावस्था में सहसा भूताविष्ट क्योंकर हो गये ? अभी भी विलायत के Philosophical Magazine नामक बुनियादी वैज्ञानिक मासिक पत्रिका के पन्ने उलटकर देखता हूँ Sir Oliver Lodge बड़ी दक्षता के साथ Electron theory की गवेषणा, आलोचना कर रहे हैं। उनकी मनीषा जरा भी कहीं क्षुण्ण अथवा निष्प्रभ हुई हो,—ऐसा तो नहीं लगता।

अवश्य ही, कट्टर प्राचीनपन्थी वैज्ञानिकगण अपने-अपने नियत बसेरे के लिए परदे से घेरकर एक प्रकार का अन्तःपुर तैयार कर लेते हैं; सत्य के सन्धान में बाहर निकलकर भी सत्य के किसी एक विशेष पहलू या रूप को ही प्राणपण से पकड़ बैठते हैं एवं इसीलिए सात अन्धों, कानों द्वारा हाथी देखे जाने का अभिनय बहुत कुछ कर डालते हैं। यही वह प्रकृति का कुहक, माया का पाश है, सत्यलोक के यात्री को जिससे बचकर चलना होगा। विज्ञान के मनगढ़न्त अन्तःपुर में आबद्ध रहने से ऊबकर ज्यों ही मैंने परदा थोड़ा-सा सरकाया—और चकित दृष्टि से देख लिया—मेरे हिसाब के बाहर, इस अजब कारखाने की और भी कितनी अचिन्तितपूर्व अद्भुत वस्तुएँ हैं—त्योंही मेरा सहयोगी वैज्ञानिक-वृन्द नली (test tube) फेंककर कोलाहल मचाता हुआ बोल उठा—"उसे दल से निकाल डालो, भगा दो, पागलों का कारागार ही उसके उपयुक्त स्थान है।" बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक जहाँ असहिष्णु हैं, उसी मध्ययुग के

कवि किन्तु वहाँ उदार हैं—"There are more things in heaven and earth, Horatio", than are dreamt of in your philosophy."

जो भी हो; विज्ञानागार और सिद्धाश्रम, बाह्यदृष्टि व अन्तर्दृष्टि के बीच जो सामान्य-सा विवाद चलता आ रहा है, उसे आपाततः मुल्तवी रखने का ही निश्चय किया—इस मुद्दे का अवधारण करने में आज और प्रयास नहीं करूँगा। अभिप्राय यह कि विज्ञानागार में मुझे कसौटी नहीं मिली। सिद्धाश्रम में वह मिलेगी क्या? जैसी-तैसी काम चलाने लायक कुछ भी एक चीज मेरे हाथ में फेंक देने से नहीं चलेगा; क्योंकि असली काम जिस-तिस चीज से नहीं चलता। इसीलिए तो मैं अपना घर-द्वार छोड़कर, विज्ञानागार छोड़कर इतनी दूर सिद्धाश्रम में आया हूँ। विज्ञानाचार्य को मैंने पूछा था—"क्या मर जाने पर ही मेरा सब कुछ समाप्त हो गया?" उन्होंने इधर-उधर घुमाते हुए कहा—"उसकी परीक्षा के विषय में कोई सिद्धान्त अभी भी खड़ा नहीं कर पाये हैं, हाँ, जहाँ तक दिखाई दे रहा है, आत्मा सम्भवतः मस्तिष्क (Brain) की एक अवस्था (function) नहीं है; इसीलिए देह का विनाश होने के बाद आत्मा रहे तो रह भी सकता है।" एक तो यह बात अन्दाजी है, फिर सभी वैज्ञानिकों का अन्दाज भी एक जैसा नहीं है। इस प्रकार की अन्दाजी और सन्दिग्ध बात से मेरा काम नहीं चलता; इसीलिये तो मैं आया हूँ सिद्धाश्रम में।

सिद्धाश्रम में आकर अधिक कोलाहल करना अच्छा नहीं होगा। संक्षेप में कहूँ तो यहाँ आकर भी मैंने अपना अभीष्ट आदर्श ठीक-ठीक पा लिया हो ऐसा तो लगा नहीं। जो 'योगी' नाम सुनकर ही समझते हैं—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् पुरुष, वे भूल करते हैं। योगशास्त्र में नाना स्तरों की भूमियों की एवं नाना प्रकार की समाधियों की बात कही गयी है। एक योगी जिस भूमि पर है, दूसरा कोई (योगी) हो सकता है उससे कुछ ऊँचे या नीचे की भूमि पर हो। सुतरां दोनों योगियों की अभिज्ञता एक प्रकार की नहीं होती। एक ने तत्त्व का जितना-सा सन्धान पाया है, दूसरे ने, हो सकता है, उससे कुछ कम या कुछ अधिक ही पाया हो। इसीलिये सिद्धाश्रम में आकर भी सबके मुँह से एक ही बात सुनने की आशा नहीं पाता। कोई कह रहे हैं तत्त्व एक है, कोई कहते हैं तत्त्व दो हैं। कौन-सा यथार्थ है? यदि कोई योगी, 'ऋषि' होकर ब्रह्मसाक्षात्कार पा ले, तो उसके साक्ष्य को हम चरम मान सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु किस प्रकार जानूंगा, कौन ब्रह्मज्ञ है कौन नहीं? ब्रह्मज्ञ का अर्थ है सर्वज्ञ, यह बात आप लोग स्मरण रखियेगा। साधारणतः जो योगी निम्नभूमि में विचरण कर रहे हैं, जिन्होंने सर्वोच्च पदवी नहीं पाई, उनके साक्ष्य को चरम समझ लेने पर दोष की सम्भावना रह जायेगी। विज्ञानागार में प्रविष्ट होकर जिस कठिनाई में पड़ा था, तपोवन में आकर भी प्रायः उसीमें पड़ गया। एक नियत, अव्यभिचारी, सुस्थिर

आदर्श यहाँ भी नहीं मिला। यहाँ भी जिसकी दौड़ जितनी दूर तक है वह उतनी दूर तक की खबर मुझे दे रहा है।

आचार्य स्वयं ब्रह्मदर्शी होकर भी शिष्य का अधिकार समझकर बहुत बार निम्न-भूमि के लिये उपयोगी उपदेश ही देते हैं; **'अन्नं ब्रह्म' 'प्राणाः ब्रह्म' 'मनः ब्रह्म'** इत्यादि विभिन्न अधिकारों के उपदेश देकर गुरु, शिष्य की अध्यात्मदृष्टि को प्रस्फुटित करके, अन्त में ब्रह्मसाक्षात्कार के उपाय का उद्भावन कर देते हैं---इसमें सन्देह नहीं, किन्तु मैं निम्न अधिकारी, किस प्रकार निर्वाचन कर सकूंगा कि कौनसा चरम[१०] उपदेश है, कौनसा प्रतीक उपदेश है? कौनसा स्वरूपलक्षण[११] है, कौनसा तटस्थलक्षण है? सच्चे गुरु के हाथ में पड़ने पर अवश्य ही मुझे चिन्तित होने का कोई कारण नहीं है, किन्तु ज्ञान की दिशा से जिस कसौटी की खोज मैं कर रहा था, वह "नाना मुनियों के नाना मत"[१२] सुनकर आपाततः मैं पा नहीं सका हूँ। कपिलमुनि[१३] के शरणापन्न हुआ, उन्होंने कहा, तत्त्व दो हैं—पुरुष व प्रधान। व्यास ने कहा, तत्त्व एक ही है दूसरा नहीं है, वह है—आत्मा या ब्रह्म। कौन यथार्थ है? किसने ठीक कहा है? यदि सोचूँ कि जिसने जैसा देखा है, वैसा ही कहा है, तो प्रश्न उठता है कि किसका देखना ठीक है? यदि सोचूँ, दोनों ही ब्रह्मदर्शी हैं, शिष्य के अधिकार के अनुसार प्रस्थान-भेद कर रहे हैं, अलग-अलग व्यवस्थापत्र दे रहे हैं; तब भी प्रश्न उठता है— कौनसी उच्चतर अधिकार की बात है? गुरु के निर्देश के अनुसार साधन में बैठ जाने पर शायद इन सब प्रश्नों का उत्तर अपने-आप ही जुट जायेगा; किन्तु साधन में प्रवृत्त होने से पहले साध्य विषय में एक सामञ्जस्य का सूत्र, एक सुव्यवस्था का आभास देखने की इच्छा होती है; नहीं तो गोरखधन्धे में सहसा पाँव बढ़ाने में विश्वास नहीं होता।

पुरी जाने के शायद नाना पथ हैं; रुचि व सामर्थ्य के तारतम्य के अनुसार विभिन्न व्यक्ति शायद विभिन्न पथ लेकर तीर्थयात्रा करेंगे। किन्तु तीर्थयात्री पथ पर रवाना होने से पहले अन्ततः थोड़ा सा भरोसा मन में पाना चाहता है कि पथ विभिन्न होने पर भी मूलतः उनके बीच एक मिलन का इङ्गित है, एक लक्ष्यानुवर्तिता है, इस प्रकार की कि परिणाम में सभी पथ नाना दिशाओं से आकर एक ही सफलता के बीच सम्मिलित व परिसमाप्त हो जायेंगे। जैसे कि ऋजु-कुटिल नाना[१४] पथ पकड़कर आती हुई नाना सरितायें महार्णव में पहुँचकर मिलित व परिसमाप्त हो जाती हैं, वैसे ही। इसीलिए सिद्धाश्रम में आकर भी हमारे नाना मतवाद सुनकर जरा समझ-बूझ लेने की आवश्यकता है। नहीं है क्या?

कैलास में स्वयं योगेश्वर महादेव के शरणापन्न होऊँ क्या? मेरा आगमन सुनकर

यदि भृङ्गीजी ठाकुर (स्वामी) की भाँग के पैसे चुरा लेवें तभी बात बने। नहीं तो भूमानन्द में विभोर रहने की अवस्था में, संभवतः आशुतोष निर्वाक् ही रहेंगे एवं नन्दी महाशय मुझे उनके समीप पहुँचने ही न देंगे, अथवा (किसी तरह समीप चला भी जाऊँ तो) नशे के जोर में महादेव अपने पाँचों मुखों से ऐसे-ऐसे आगम-निगम कह जायेंगे जिनमें मैं कोई कूल-किनारा ही नहीं पा सकूँगा। मैं आया हूँ चरम आदर्श—कसौटी की खोज में। मैं मूढ़ हूँ, विज्ञान ने मेरी बुद्धि को संशयाकुल कर दिया है—प्रायः अविश्वासी, नास्तिक बना दिया है; सिद्धाश्रम में आकर भी दिग्भ्रान्त हो गया हूँ—अब तो हे देवादिदेव, आप ही अन्धकार में ध्रुव (अखण्ड) ज्योति के समान उदित होकर मुझे दिखा दो वह सनातन वेदमार्ग जिस पथ को छोड़कर गति के लिये और कोई पन्थ नहीं रह जाता।[१५] एवं जिस पथ का अवलम्बन करने पर जीव 'अतिमृत्यु को नहीं प्राप्त होता'[१६]—उसका अतिक्रम कर जाता है।

मेरी प्रार्थना फलीभूत हुई। महादेव के पिङ्गलवर्ण जटाजाल के बीच मैंने वेदमयी गङ्गा का अप्रकटित, निगूढ भाव से अवस्थान देखा। जिस आदर्श का अन्वेषण मैं इतने समय से कर रहा था, विष्णु के चरणों से उद्भूत सुरशैवलिनी (गङ्गा) के मर्त्यलोक में अवतरण की आख्यायिका में मुझे उसीका सन्धान मिल गया। पहले एक बार हमने गङ्गाजी के भूतल पर आने की आख्यायिका की वेद के पक्ष में व्याख्या देने की चेष्टा की थी—ब्रह्मा के कमण्डलु में स्थिति, हर-जटाजाल में अवगुण्ठन, जह्नु मुनि द्वारा पान—भस्म बने हुए सगर-सन्तानों का उद्धार—यह सारी कथा ही वेदधारा के आविर्भाव का संकेत या प्रतीक है, इसकी हमने पहले ही खुलासा करके चर्चा की है। यही पुनः गीता का वह 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्'[१७] है, जिसको जानने पर वेद को जानना हो जाता है। ('यस्तं वेद स वेदवित्'।)[१८]

यह वेदधारा है क्या ? परमेश्वर की निरतिशय ज्ञानराशि के गुरु-शिष्य-परम्परा क्रम से हमारे समीप पहुँचने की कोई व्यवस्था हो, तो वही वेदधारा है एवं वह ही पूर्वोक्तलक्षण के अनुसार हमारे ज्ञान का आदर्श या कसौटी है। परमेश्वर आदिगुरु हैं—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'[१९]। इन आदिगुरु से वह ज्ञानराशि आदिशिष्य को मिली। अवश्य ही आदिशिष्य के लेते समय वह ज्ञानराशि ठीक उतनी निरतिशय एवं विशुद्ध नहीं रही। आदिशिष्य ने पुनः अपने शिष्य को वह ज्ञानराशि दी। यहाँ आने में पात्र के दोष से वह ज्ञानराशि शायद कुछ और भी संकीर्ण व विकृत हुई। इस प्रकार की पद्धति से अविच्छिन्न सम्प्रदाय-प्रवाह में वह ज्ञानराशि अन्त में शायद मेरे व तुम्हारे पास भी पहुँची। तुम-मैं जिसे वेदरूप में गुरुमुख से सुन रहे हैं, वह अवश्य ही निरतिशय शुद्ध वेद (Veda in the limit) नहीं है; किन्तु वैसा न होने पर भी वह एक ऐसी ज्ञानधारा है, जिसको हम कुछ निश्चिन्त होकर

आदर्श रूप में ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि इसमें एक व्यवस्था है, इसको हम अपनी मर्जी-मुताबिक बदल नहीं सकते। प्रत्येक गुरु को ही यथायथ रूप से अपनी शब्दसम्पत् व ज्ञानसम्पत् शिष्य को दे देने में कुछ प्रयास करना पड़ा है; एवं प्रत्येक शिष्य ने ही उसको यथायथ रूप से गुरु से पा लेने में चेष्टा की है। इसी चेष्टा के फलस्वरूप आदिम वेद के शब्द व अर्थ यथासम्भव कम विकृत व सङ्कीर्ण होकर हम तक पहुँचे हैं। वेदविद्या की, ध्वनि, छन्दस्, ऋषि, देवता, विनियोग आदि को, ठीक यथायथ बनाये रखने की ओर अत्यधिक दृष्टि है। इसी कारण ऐसा लगता है कि इस व्यवहार के फलस्वरूप थोड़ा-बहुत मिश्रण रहने पर भी वह असली शुद्ध वस्तु न्यूनाधिक परिमाण में हमारे पास आ ही पहुँची है। पहुँची है,इसीलिए यह हमारे ज्ञान के एक प्रकार के आदर्श (standard) रूप से गृहीत भी हो सकती है। 'एक प्रकार से' कह रहे हैं, क्योंकि पूर्ण आदर्श तो परमेश्वर के ज्ञान के अतिरिक्त कोई भी नहीं हो सकता, जैसा कि आदर्श का लक्षण है। हाँ, व्यावहारिक रूप से हमारे अपने साक्ष्य, विज्ञान के साक्ष्य, यहाँ तक कि योगी के साक्ष्य—सभी की इस वेद द्वारा परीक्षा (test) कर लेनी होती है। हो सकता है, विज्ञान के जिस प्रकार के निर्दिष्ट विशेष परीक्षण (classical experiments) हैं, वेद भी बहुत-कुछ वैसा ही है। यह मानो उपलब्ध विशेष-विशेष तत्वसमूहों की धारा (classics of experience) है। हमारे-तुम्हारे सभी ज्ञानों को इस कसौटी पर कस-जाँच लेना होगा। प्रत्येक गुरु-शिष्य अपने अनुभव को बुद्धि-विवेचना द्वारा इस वेद से मिला लेने की चेष्टा करते आये हैं; थोड़ा-बहुत मिला पाये हैं, पूरा तो संभवतः नहीं मिला पाये हैं। किन्तु पूरा मिला पायें या नहीं, उन्होंने इस आप्तवाक्य या वेद को यथासम्भव अक्षुण्ण रूप से सम्प्रदाय-क्रम से बहा दिया है। इसीलिये वेद-धारा में व्यक्तिगत भ्रम-प्रमाद व कल्पना का अवकाश बहुत कम मिल पाया है।

यही वेदविश्वासी आस्तिकों का कहना है। किन्तु कहने मात्र से बात समाप्त नहीं हो जाती। मैंने गुरुमुख से जो सुना वही आदिम वेद है या उसीका अंश है, इसमें क्या प्रमाण है? (यदि यही वेद है) तो मुसलमानों का कुरान एवं ईसाइयों का बाइबल फिर क्या है? हमारा अभिमत भी जो वेद हम पा रहे हैं, वह भी शब्द व अर्थ में अवश्य ही विकृत व सङ्कीर्ण हुआ है; इस खण्डित, विकृत व सङ्कीर्ण वेद को हम क्यों आदर्श मान रहे हैं? उसको, अपने स्वयं की, विज्ञान की तथा योगियों की अभिज्ञता के ऊपर आसन क्यों दे रहे हैं? वेद का अधिकांश तो हम समझ ही नहीं पाते, जितना समझते हैं, वह अधिकतर तुच्छार्थ, अस्पष्टार्थ व विरुद्धार्थ होता है। ऐसे वेद को ईश्वर के सिर पर क्यों थोप रहे हैं? वेद की आख्या भी फिर कितनी ही

प्रकार की हैं। यास्क के समय ही तो देखने में आता है वेद के अर्थ को लेकर कितना विवाद है। इस प्रकार के नाना प्रश्न व संशय मन को आकुल कर दे रहे हैं।

तात्पर्य यह कि अमुक बात वेद में है कह देने से ही निस्तार नहीं होता, परीक्षा करके देखना होगा। मेरी या विज्ञान की परीक्षा में मेल न होने पर ही वेद को फेंक देना होगा ऐसा साहस मैं नहीं करता, अवश्य ही वेद-शब्द का यथायथ ग्रहण एवं वेद के अर्थ की यथायथ उपलब्धि के लिए ही मनन, साधना, यहाँ तक कि वैज्ञानिक परीक्षा की भी आवश्यकता है। वेद की वैज्ञानिक व्याख्या ठीक नहीं चलेगी; और वैज्ञानिक व्याख्या बच्चों का खेल भी नहीं है। विज्ञान स्वयं असिद्ध है; वह वेद को साधेगा ही किस प्रकार ? हाँ, विज्ञान की परीक्षा के साथ तुलना करके हो सकता है वेद के अनेक अस्पष्ट व आपाततः विरुद्ध अंशों में आलोकरेखापात (किरण पड़ना) व सामञ्जस्य की सूचना पा सकूँ। और ठीक विज्ञान के प्राण को पकड़कर ही हमें वैदिक आलोचना में प्रवृत्त होना चाहिये। इसमें कल्याण ही है, अकल्याण नहीं। तामसिक आस्तिक्य टिकेगा नहीं। सात्त्विक आस्तिक्य नेत्रवान् है, वह देख-सुनकर चलता है, उसके लिये कोई भय नहीं है।

हमने वेद के पाँच प्रकार के अर्थ की चर्चा की थी—

१. अनुभव मात्र ही (वेद है)—जहाँ जीव है वहाँ वेद है।

२. प्रत्यक्षमात्र ही।

३. वैज्ञानिक व योगज प्रत्यक्ष।

४. गुरुशिष्य-सम्प्रदाय-क्रम से प्राप्त ज्ञानराशि।

५. परमेश्वर का ज्ञान।

इनमें से चतुर्थ ही शिष्य के द्वारा परिगृहीत वेद है; हम इसे एवं इसके अविरोधी वैज्ञानिक व योगज प्रत्यक्षों को 'वेद' नाम से ग्रहण करेंगे।

दो

विज्ञान की प्रयोगशाला और तपोवन

पिछली बार हम अपने ज्ञान की कसौटी की खोज में निकलकर, देवर्षि नारद के समान प्रायः सारा ब्रह्माण्ड घूम आये हैं। विज्ञानागार से आरम्भ करके तपोवन, सिद्धाश्रम, कैलास पर्वत—कहीं भी जाना बाकी नहीं बचा। भ्रमण बिलकुल निष्फल तो नहीं हुआ है। व्यतिरेक=निषेध-मुख से नेति-नेति करके अन्त में कसौटी या आदर्श का एक आभास पाया था। प्रत्यक्षज्ञान या अपरोक्षज्ञान को यदि वेद नाम दिया जाय तो हमारा प्रत्यक्षज्ञान विशुद्ध ज्ञान नहीं है, सुतरां यथार्थ वेद नहीं है। हमारा प्रत्यक्षज्ञान सङ्कीर्ण एवं थोड़ा-बहुत दोष-दूषित है। यह व्यभिचरित है, अतः परीक्षा करके देख लेने की आवश्यकता है। विज्ञानागार में यन्त्र-तन्त्र की सहायता से जो प्रत्यक्ष हम पाते हैं, वे भी दोष व व्यभिचार की सीमा का सर्वथा अतिक्रमण नहीं करते। इसीलिए वहाँ पर भी हमें यथार्थ वेद का सन्धान नहीं मिला। हमारे साधारण प्रत्यक्षों को परीक्षा देनी होती है विज्ञानागार में। किन्तु वैज्ञानिक प्रत्यक्ष भी पुनः परीक्षा दिये विना छूटते नहीं। तपोवन में जाकर भी हमारी समस्या मिटी नहीं, हम सुस्थिर नहीं हो पाये। ब्रह्मसाक्षात्कार के पहले तक के योगजप्रत्यक्ष सब समान रूप से विशुद्ध व यथार्थ नहीं हैं, सुतरां नामक मुनियों के नाना मत होने की कुछ संभावना है ही। अन्त में कैलास पर्वत पर जाकर देवादिदेव महेश्वर के पास वेद की और दो मूर्तियाँ हम देख पाये थे। परमेश्वर का जो पूर्ण व निरतिशय ज्ञान है, वही चरम वेद है—Veda in the limit, एवं हमारे सभी प्रकार के ज्ञानों का आदर्श—standard in the limit—है, वही वेद का ऐकान्तिक रूप है। पुनः, वेद का दूसरा एक रूप महादेव के जटाजाल में छिपा हुआ देखा। लोक में एवं पुराण में इसीको गङ्गा कहा गया है। हमने इसे पहचाना है—वेदधारा के रूप में। गीता ने इसका हमसे परिचय कराया है—एक ऊर्ध्वमूल, अधःशाख, अव्यय, अश्वत्थवृक्ष के रूप में—"छन्दांसि यस्य पर्णानि"[१०]। परमेश्वर से आरम्भ करके उस "पूर्वेषामपि गुरुः" को मूल उत्स बनाकर एक शब्द-अर्थ-ज्ञान की त्रिधारा वेदरूप में गुरु-शिष्य-परम्परा—क्रम से हमारे ज्ञान के द्वार पर पहुँची है। हममें से प्रत्येक को निजस्व अनुभूतियों का मिलान करके देख लेने के आदर्श के रूप में यह हमारे समीप उपस्थित हुई है। प्राचीनों के समीप भी थी।

व्यास, वसिष्ठ आदि सभी इसी आदर्श द्वारा अपने-अपने ज्ञानों की परीक्षा करके देख चुके हैं। जिन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है वे ब्रह्म ही हो गये हैं; उनकी

अभिज्ञता सर्वज्ञता है, सुतरां उनका वेद चरम वेद है। किन्तु निम्नभूमि पर ज्ञानों की परीक्षा करने के लिए एक सुव्यवस्थित, विश्वस्त व शिष्टजनों द्वारा परिगृहीत आदर्श पाने की हमें आवश्यकता है। आस्तिक कहते हैं गुरु-शिष्य-परम्परा से आयी हुई शब्द-धारा या ज्ञानधारा ही यह विश्वस्त आदर्श है। क्योंकि उसका मूल स्वयं प्रजापति हैं; एवं उस मूल से आरंभ करके प्रत्येक गुरु ही यथासम्भव विशुद्ध रूप से उस शब्दधारा व ज्ञानधारा को शिष्य में बहा देने में सचेष्ट हैं; एवं प्रत्येक शिष्य भी यथासम्भव विशुद्ध रूप से उसको अपने भीतर ले लेने में सचेष्ट रहा है। इस चेष्टा; साधना व व्यवस्था के फलस्वरूप दोनों धाराओं का जितना सङ्कर व विकार होने की सम्भावना थी, उतना अवश्य ही हो नहीं सका। मान लीजिये, किसी मन्त्र-विशेष की ध्वनि या छन्दः है। इसके सम्बन्ध में कितनी बन्धनमयी व्यवस्था है। गुरु ने ध्वनि व छन्दः को स्वयं ठीक जिस रूप में पाया है, ठीक वैसा ही शिष्य द्वारा ग्रहण करवा लेते हैं। सङ्गीत के अच्छे उस्ताद शिष्य के कण्ठ में से स्वर व राग-रागिणी आदि ठीक़ यथायथ रूप से निकलवाये बिना जैसे छोड़ते नहीं, वैसा ही यहाँ भी है। व्यक्तिगत मनचाहेपन के प्रवेश का अवकाश इसीलिये बहुत नहीं रह पाया। ध्वनि, छन्दः, देवता, विनियोग आदि व्यापारों में एक पुरुषपरम्परागत शिष्ट-परिगृहीत व्यवस्था बनी रह गई है।

मन्त्र की ध्वनि, छन्दः आदि भी फिर अवान्तर विषय नहीं हैं। पहले दो-एक वक्तृताओं में युक्तिप्रयोग करके हमने दिखाने की चेष्टा की है कि मन्त्र की ध्वनि, छन्दः आदि यथोचित होने पर उस मन्त्र की शक्ति बहुत कुछ अघटन-घटन-पटीयसी हो सकती है। विज्ञान की दृष्टि से परीक्षा करने पर मन्त्रशक्ति में देवतादि की तैजस मूर्ति, निर्माण, समिध जलना, पर्जन्य-सृष्टि आदि अनेक असाधारण व्यापार भी सम्भव लग सकते हैं। विज्ञान के साथ सम्बन्ध पर विचार करने के प्रसङ्ग में इन सब बातों की विस्तृत आलोचना करने की आवश्यकता हमें आगे पड़ेगी। कहना यही है कि विज्ञान आजकल स्वयं अनेक इन्द्रजालों की सृष्टि करके हमें विस्मय से स्तब्ध किये रहा है। अलौकिक कुछ भी देखने पर, बिना परीक्षा किये उसे बुजुर्गी की, या पुरानी बात कहकर उड़ा देना चाहिये—ऐसा कहने का साहस आज किसीका नहीं है। केवल जड़ के राज्य में नहीं, अध्यात्मराज्य (Psychic and spiritual matters) में भी विज्ञान ने गम्भीर, तद्गतभाव से प्रमाणों का संग्रह, प्रमाणों की परीक्षा एवं विचार, मनन आरम्भ कर दिया है; एवं असन्दिग्ध रूप से जिन तथ्यों को उसने अपनी पक्की बही (fair notebook) में उतार लिया है, उनमें से कोई-कोई हमारे साधारण हिसाब के बाहर हमारी दैनिक धारणा से अतीत हैं। मन्त्रशक्ति का कारबार अलौकिक सुनते रहे हैं, इसलिए उनको अपनी परीक्षा व विचार के क्षेत्र में बिल्कुल नहीं लायेंगे—ऐसी प्रतिज्ञा करके जो लोग विज्ञ की भाँति बैठे हैं, वे विज्ञान-व्यवसायी हैं

पर भी विज्ञान के चीनीमिट्टी के बैल-भर हैं। परीक्षा व विचार का फल कुछ भी हो, उसके लिए चिन्तित होने में लाभ नहीं है। इस क्षेत्र में सचमुच ही फलाभिसन्धानशून्य होकर नहीं, फल के प्रति निर्मम होकर परीक्षा में प्रवृत्त होना होगा।

जो भी हो, गुरु-परम्परा से आयी हुई जो शब्दधारा तथा प्रत्ययधारा है, उसको वेदरूप में, शास्त्ररूप में, अपने निजस्व ज्ञानों के आदर्श (classics of experience)-रूप में ग्रहण करने की बात हम सुन रहे हैं। चरम या निरतिशय वेद प्रांशुलभ्य फल है; वामदेव, शुकदेव[४१] के समान दो-एक 'उत्तमश्लोक' (पुण्यकीर्ति) व्यक्तियों ने शायद उस फल का आस्वाद पाया है, मैं वामन, उस फल के लाभ की आशा में ऊर्ध्वबाहु होकर भला क्यों 'गमिष्याम्युपहास्यताम्' ?[४२] हाँ, इधर अपने घर के पड़ोसी भक्तशिरोमणि रामप्रसाद[४३] का निमन्त्रण मिला है काली-कल्पतरु के नीचे घूमने जाने का, अवश्य ही निमन्त्रण मेरा नहीं, मन का है। मन पर तो वश नहीं चलता, वह बड़ा ही विकट है; उसको यदि कभी वश में कर पाऊँ, तब तो चतुर्वर्ग में से बीनकर वही फल बटोर लाऊँगा, जिसका आस्वादन कर लेने पर, फिर इस संसारवृक्ष की भिन्न-भिन्न शाखाओं में, जन्म-जन्मान्तर तक स्वादु व कसैले, कड़वे-मीठे फल खा-खाकर मरना नहीं पड़ेगा।[४४] किन्तु इस कर्मभूमि में आर्यकुल में, ब्राह्मणवंश में जन्म लेकर भी मुझे कहना पड़ रहा है कि मैं वैसा भाग्य लेकर नहीं आया हूँ। चरम या निरतिशय वेद में मेरा अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि इसे एक कल्पित आदर्श—Veda in the limit—समझकर ही मुझे छोड़ देना पड़ रहा है, जैसे कि एक गणित की परिभाषा—Mathematical Concept हो, मैक्सवेल[४५] के वैज्ञानिक भूत (Sorting Demon) के बड़े तात जैसे हमारे प्रजापति[४६] महाशय हैं; शुभविवाह के निमन्त्रण-पत्र पर श्रीयुग्म-समन्वित होकर इन्हें (प्रजापति को) नमस्कार का एक भाग पाते देखा है, एवं कभी-कभी उन्हें पक्ष-द्वय या पदश्रेणी का विस्तार भी करते देखा है। इसके सिवा और किसी प्रकार का प्रत्यक्ष प्रजापति के सम्बन्ध में इस (मुझ) अधम को नहीं हुआ है। सुतरां चरम या निरतिशय वेद का रहना न रहना मेरे लिए एक-सा ही है।

गुरु-परम्परागत शिष्य-परिगृहीत जो वेद है, वह लक्षण के अनुसार बहुत सुन्दर कसौटी है इसमें सन्देह नहीं, हाँ पहले हमने स्वीकार किया है कि इस क्षेत्र में भी मन नाना संशयों से आच्छन्न व आन्दोलित हुआ करता है। यहाँ पर भी देखता हूँ कि मैं 'शूद्रत्वमापन्न' (शूद्रत्व को प्राप्त) हुआ हूँ। आस्तिकों ने वेदधारा के अवतरण के सम्बन्ध में जो विवरण दिया, न हो तो वह मैंने मान ही लिया; किन्तु जो धारा हमारे समीप आकर पहुँची है, वह जो अल्पविस्तर परिमाण में खण्डित, संकीर्ण व विकृत होकर आयी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वेद, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थों में

वेदविप्लव, वेदोद्धार, वेद-विभाग, वेद-संस्कार—ये सब बातें बार-बार स्पष्ट करके कही गयी हैं। परमेश्वर की असीम ज्ञानराशि को हम-तुम जैसे जीवों की बुद्धि में प्रवाहित होने के लिए अवश्य ही अल्प, कृपण, कुण्ठित होकर आना होता है।

महासागर का सारा जल मेघरूप में आकाश में घनीभूत नहीं होता; सारा जल कभी भी ज्वार के उच्छ्वास में तट पर नहीं आ पड़ता। इस कारण तुम-हम जिस वस्तु को ऋक्, यजुः आदि रूप से सुन व समझ रहे हैं, यह वही चरम वेद या वेद-पराकाष्ठा नहीं है। यह खण्डित व सङ्कीर्ण वेद—व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जिस ब्राह्मण ने पूर्ण वेद का सन्धान पाया है, अर्थात् ब्रह्म को जाना है, उस 'विजानतः' ब्राह्मण का फिर नाना अल्प-स्वल्प वेदों से कोई प्रयोजन नहीं रहता;—जैसे सभी स्थान जल से आप्लुत होने पर, छोटे-छोटे या छिट-पुट गढ़ा-तलैया, नदी-नाला आदि की प्रयोजनीयता नहीं रहती। यह गीता की बात है।[७] और भी कठिनाई की बात यह है कि जिस वस्तु को हम वेद कह रहे हैं, वह आपाततः अधिकांश में तुच्छार्थक, अस्पष्टार्थक व विरुद्धार्थक है। अपराविद्या की बात छोड़ भी दें तो 'यया तदक्षरमधिगम्यते'[८] उस पराविद्या में भी हमारे जैसे अनधिकारी पाठक या विचारक को बहुत भूल-जंजाल लगता है। यहाँ तक कि दर्शनशास्त्रकारों ने भी, चाहे किसी भी उद्देश्य के कारण, श्रुति-वाक्यों की व्याख्या सब समय ठीक एक-जैसी नहीं दी है। अथ च मूलदर्शनकार एवं भाष्यकारों में से भी अनेकों अध्यात्मदृष्टि-सम्पन्न व भगवत्पदवाच्य हैं। इन सब संशयों व आपत्तियों की बात अधिक फैलाकर कहने की आवश्यकता नहीं है। हममें से बहुतों के मन में ये सब संशय जागे हैं; विशेषतः, हमारा धर्म व समाज क्योंकि वेद द्वारा प्रतिष्ठित है, इसलिए विधर्मियों तथा नास्तिकों के दल ने भी एकदम जड़ खींचकर मारने की कोशिश में कोई कसर नहीं छोड़ी है। आजकल के विलायती पण्डित व उनके देशी शिष्यों के दल जिस रूप में वेद की आलोचना-गवेषणा कर रहे हैं, उससे प्राचीन आस्तिकों का दल सन्त्रस्त हो उठा है, 'नास्तिक' शब्द सुनकर चिढ़ने की कोई बात नहीं है। जो हमारी पूर्वव्याख्यात गुरु-परम्परागत शब्दधारा व ज्ञानधारा को मानने एवं इसे अपने ज्ञानविश्वास की कसौटी के रूप में ग्रहण करने को राजी नहीं, वे ही नास्तिक हैं। पारमार्थिक रूप से कसौटी है या नहीं—यह प्रश्न नहीं है। क्योंकि उस प्रश्न के दो उत्तर नहीं हैं। व्यावहारिक रूप से कसौटी है या नहीं ? यही प्रश्न है। जो इसका उत्तर देंगे—'हाँ' वे आस्तिक हैं, जो कहेंगे 'ना' वे नास्तिक हैं।

हमने नास्तिकों की सूची में तो नाम नहीं लिखाया है; किन्तु भावग्राही जनार्दन को अवश्य खबर है कि वेद शब्द और वेदार्थ के सम्बन्ध में कहाँ तक मूढ़ता ने हमारे अन्तर को मलिन कर रखा है, एवं कितने संशयों ने हमारे चित्त को चञ्चल व पीड़ित

बनाया है। इस मामले में हम सभी एक ही गोत्र के हैं। सुतरां यह पाप-कहानी फिर किससे छिपायेंगे ?

पहले भी कहा है एवं आज भी कह रहे हैं कि 'वेद है' यह बात सुनने भर से हम निश्चिन्त नहीं हो पा रहे हैं। उसे कुछ उलट-पलटकर परीक्षा करके देखने की दुष्प्रवृत्ति हमारे मन में जाग रही है। जो प्राचीन लोग सुनने (श्रवण) के पश्चात् मनन, निदिध्यासन करके अन्त में दर्शन में उस सुनी हुई बात को मिलाकर देखने का परामर्श दे गये हैं, वे ही वेद के विषय में किसी अन्धविश्वास को पक्का कर गये हों ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। अवश्य ही प्राचीनों का जीवन ही वेद था—वेद को उपलब्ध करना ही जीवन था। सभी का न सही, किसी-किसीका तो अवश्य था ही। पश्चिमी देशों के वैज्ञानिक अपने तथ्यों-सिद्धान्तों को परीक्षा में मिला न पाने से निश्चिन्त व सुस्थिर नहीं हो पा रहे हैं। दिन पर दिन, वर्ष पर वर्ष विज्ञानागार में अथवा निसर्ग-मन्दिर में उनकी परीक्षा की ध्यान-समाधि को गाढ़तर एवं क्रमश: सार्थक किये दे रहे हैं। इन नवीनों का जीवन ही विज्ञान है एवं विज्ञान की उपलब्धि करना ही इनका जीवन है।

हम लोग न इस ओर हैं, न उस ओर। तर्क करना तो हमने खूब सीखा है, किन्तु प्राचीनों के निदिध्यासन, साक्षात्कार की ओर भिड़ना हमें मंजूर नहीं; विज्ञानागार में कभी-कभी अवसर पाते ही ताक-झाँक करना एवं समय-समय पर जिरह, प्रश्न पर प्रश्न (cross questioning) करके उबा देना, 'विव्रत' कर देना, झुँझला देना हम जानते हैं; किन्तु योगियों की भाँति तद्गतचित्त होकर परीक्षा का पात्र एवं ट्यूब लेकर कुछ दिन पड़े रहने जितना बल हममें नहीं है; मैक्सवेल, लॉर्ड केल्विन अथवा आइन्स्टाइन[१] की तरह मस्तिष्क में कोई बड़ी-सी theory बसाये रखकर अपूर्व कौशल द्वारा उसको गठित कर लेने जैसी मनीषा व एकनिष्ठा भी हम लोगों के भीतर उस मात्रा में कहाँ दिख रही है ? सर्वनाश के रास्ते हैं दोनों, एवं दोनों को ही छोड़कर हमें सीधे-सीधे धैर्यपूर्वक कदम बढ़ाते हुए, अकुतोभय होकर, लक्ष्य की ओर अग्रसर होना होगा।

लक्ष्य है उन दिनों का सत्यलोक—जहाँ कसौटी की खोज में आकर स्पर्शमणि (पारस पत्थर) पा जायेंगे। वर्जनीय पथ—एक ओर जैसे अन्ध है, तामसिक आस्तिक्य, दूसरी ओर उसी प्रकार अन्तःसारशून्य, निष्फल संशयवाद है। प्रश्न उठा कि मन्त्रशक्ति क्या सचमुच ही है ? कोई बोल उठा—अवश्य ही है, शास्त्र क्या झूठ कह रहे हैं ? अपने जीवन में किसी भी प्रकार परीक्षा करने की प्रवृत्ति नहीं है, अपनी साधना में जाँच-परखकर देखने का कोई आग्रह नहीं है; बात सुनी और स्वच्छन्दता से सिर हिला-

कर उत्तर दे दिया। यह एक व्याधि है; अफ्रीका में कहते हैं एक प्रकार का निद्रा रोग (sleeping sickness) है; उक्त व्याधि इससे भी अधिक मारक है। दिल को सच्चा रखकर जिन लोगों ने राम व रहीम में भेद नहीं किया, उनके विश्वास की महिमा अवश्य ही असीम है, एवं वैसा विश्वास जीवन में आ जाने पर और किसी वस्तु की अपेक्षा भी नहीं रहती। किन्तु दिल को सच्चा रखना कहना पड़ रहा है मुझ जैसे मिथ्याचारी जीव को, जिसके कि जीवन की नौका 'श्याम को रखूँ या कुल को रखूँ' करते-करते बीच धार में लड़खड़ा-सी रही है ! मन में संशय उठ-उठकर ठेला-ठेली कर रहे हैं, बाहर आने को व्यग्र हो रहे हैं, ऐसे समय मुख से शास्त्र की दोहाई देने से मिथ्याचार होता है। एवं इस मिथ्याचार के फलस्वरूप मैं जब 'ममतावर्तें मोहगर्ते' गिर रहा हूँ तब राम या रहीम कोई भी मुझे पकड़कर नहीं बचा रहे हैं। इस प्रकार के तामसिक आस्तिक्य का कोई मूल्य नहीं है। यह आत्मा के अवसाद को ही सूचित करता है।

दूसरी ओर, एक प्रकार का सर्वनाशी संशयवाद भी है। इस संशयवाद के पण्डे सब कुछ जाननेवाले लोग हैं;—समाचार-पत्रों के सम्पादकीय-लेखक एवं मासिक पत्रों के समालोचकों का दल इनके आगे हार मान लेता है। मन्त्रशक्ति क्या है ? प्रश्न हुआ। इन लोगों ने विना परीक्षा किये, बिना विचार किये एकतरफा फैंसला दे दिया- यह सब बुजुर्गी (अन्धविश्वास) है—'प्रमाणाभावात्' (इसमें कोई प्रमाण न होने से)। हण्टर कमीशन[१०] के बन्दी नेताओं को पुलिस के पहरे में विचारकक्ष में एक-आध दिन हाजिर होने देने में सरकार बहादुर को आपत्ति नहीं थी, किन्तु इन सर्वज्ञ विचारकों का दल, मन्त्रपक्ष के वकील महाशय की जो दो-एक टूटी-फूटी पुरानी दलीलें या अन्य कोई एक-आध प्रमाण थे, उनकी ओर एक बार करुणा-कटाक्ष-पात करना भी नितान्त अनावश्यक समझता है। वकील के अधिक धर-पकड़ करने पर मिजाज खोकर Contempt of Court[११] की proceedings शुरू कर देते हैं। इसके लिए ये लोग एक हेतु भी दिखाते हैं—'प्रमाणाभावात्'। किन्तु ये लोग अजगर-वृत्ति धारण करके बैठ रहेंगे और प्रमाण बेचारा पशु-पक्षी की भाँति दौड़ता हुआ आकर इनके मुखगह्वर में प्रविष्ट हो जायेगा, ऐसी आशा करना क्या सङ्गत होगा ? रेडियम के सम्बन्ध में जो-जो प्रमाण हैं, वे क्या इसी प्रकार वैज्ञानिकों के हाथ के पास आ पहुँचे थे !

विज्ञान में कभी कोई बड़े तथ्य भी अतर्कित रूप से आकर हमारी पकड़ में आ गये हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु उनको पक्के सिद्धान्त के रूप में खड़ा करने में कितने ही वैज्ञानिक आचार्यों को प्राणान्तपर्यन्त परिश्रम करना पड़ा है। घास के ऊपर जो नीहारबिन्दु झलझला रहा है, अथवा पैर के तलवे में जो धूलि

संलग्न हैं, उनका मर्मोद्घाटन करने में ही हो सकता है दो-चार व्यक्ति परलोक सिधार गये। एक नये ग्रह का आविष्कार करने में कितना गणित, कितना भूयोदर्शन, पर्य-वेक्षण आवश्यक हैं। आकाश के एक स्थान की एक नीहारिका को लेकर ही एक ज्योतिर्विद्, हो सकता है, सारा जीवन ऐसे विभोर हैं कि मेरे जैसा कोई अनाड़ी 'नीहारिका' नाम सुनकर सोच बैठेगा कि यह अवश्य ही ज्योतिषी महाशय की प्रियतमा प्रणयिनी का नाम है। दृष्टान्त ढेरों दिये जा सकते हैं; बात इतनी ही है कि 'प्रमाणा-भावात्'—हेतु दिखाने के पहले—प्रमाण के सम्बन्ध में अनुसन्धान व परीक्षा को निबटा लेना चाहिये। यह भी हो सकता है कि किसी विषय में प्रमाणों का संग्रह करने की गर्ज मुझे नहीं है; मैं दार्शनिक या गणितविद् हूँ—रसायन-शास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में प्रमाणों का अनुसन्धान व परीक्षा मैं अपने क्षेत्र के बाहर की वस्तु समझ सकता हूँ। किन्तु साथ ही मैं इन क्षेत्रों में कोई राय देने का अधिकारी भी नहीं हूँ। रसायन-शास्त्र का प्रसङ्ग उठने पर, चुप रहना या वहाँ से चल देना ही मेरा कर्त्तव्य है। जिसे स्वयं देखा नहीं है, दूसरों ने देखा है—ऐसा कह रहे हैं, किन्तु उसका साक्ष्य कहाँ तक विश्वसनीय है, इसे परीक्षा करके जाँच लेने की प्रवृत्ति का अवसर जहाँ मुझे नहीं है, वहाँ बात न करना ही ठीक है। जिसको मन्त्रशक्ति के सम्बन्ध में प्रमाण-पर्यालोचना करने की प्रवृत्ति या अवसर नहीं है, उसके लिए भी उसके सम्बन्ध में बढ़-बढ़कर बात न करना ही श्रेयस्कर है। जिसने थोड़ी दूर तक प्रमाण-पर्यालोचना की है, उसके लिये, उसे अन्त तक देखे बिना ही मन के कपाट बन्द कर लेना उचित नहीं। उसे स्वयं नये प्रमाणों की खोज करनी होगी। अन्य किसीके द्वारा अथवा दैवात् कोई नये प्रमाण उसके सामने प्रेरित हो जायें तो, उसे चाहिये कि उन्हें बिना किसी पक्षपात के ग्रहण करके, परख करके देखे। जो धारणा उसके भीतर विद्यमान है, उसके अनुकूल हो तो वह प्रमाण ग्राह्य है, और प्रतिकूल हो तो हेय है, प्रमाण ही नहीं है—ऐसा सोचने से नहीं चलेगा।

ये बातें, बच्चों के 'वर्णपरिचय' के द्वितीय भाग में कहे गये—'सदा सच बोलो' आदि नीतिवाक्यों के समान सर्ववादी-सम्मत हैं। विज्ञान सीखने जाने पर ये बातें कोई नहीं भूलता। वृद्धावस्था में विज्ञान की सीमा का थोड़ा-बहुत अतिक्रमण करके जिन्होंने अध्यात्म-विषय में अनुसन्धान आरम्भ किया है, वे भी ये बातें भूल गये हों ऐसा नहीं मानते। किन्तु हमारे सर्वज्ञ संशयवादी किसी ओर से भी किसी भी मजलिस या सभा से चुपचाप निकल जानेवाले पात्र नहीं हैं। वेद या शास्त्र उनकी साक्षात् 'जननी' हैं। इससे क्या हुआ, वेद के सम्बन्ध में उनकी जिरह व आपत्ति आदि की बहार व घटा देखने पर स्वयं सगर-सन्तति[१३] की प्रसूति को भी लज्जित होना पड़ेगा।

वेद आदि के सम्बन्ध में जो आलोचना है, वह बिल्कुल व्यर्थ आलोचना है,

उसके द्वारा वर्तमान में हमारा कोई उपकार या लाभ होने की सम्भावना नहीं है, ऐसा सोचने पर भी सत्य का अपलाप करना होगा। अभी भी भारतवर्ष में कोटि-कोटि नर-नारियों की ज्ञानधारा तथा कर्मधारा मुख्यतः वेद-निर्दिष्ट प्रणाली से ही प्रवाहित हो रही है, अभी भी हमारे छोटे-बड़े सभी प्रकार के अनुष्ठानों में मन्त्र व तन्त्र का आधिपत्य बहुत है। अच्छा हो चाहे बुरा हो, इनकी परीक्षा करना आवश्यक है। हमारे जातीय जीवन में ये इतना सारा स्थान घेरे बैठे हैं, क्या उतने स्थान पर अधिकार किये रहने के योग्य हैं ये? ये क्या चिरन्तन सत्य की भूमि पर प्रतिष्ठित हैं, सनातन हैं? अथवा प्राचीन युग में इनकी कितनी ही सार्थकता क्यों न रही हो, वर्तमान युग में ये अनावश्यक जञ्जाल हो उठे हैं।—हमारी वर्तमान जीवन-धारा को इन्होंने अयथा (अनुचित रूप से) संकुचित कर डाला है। सुतरां जितनी जल्दी हम इनका आवर्जन करके हटा सकें उतना ही अधिक व्यक्तिगत व जातीय जीवन के लिए मङ्गल है। अथवा सोचें कि इनकी प्रयोजनीयता अभी बिल्कुल दूर नहीं हुई है; इनको देश व युग के ठीक उपयोगी कर ले सकने पर इनका प्रयोजन अभी भी बहुत कम न होगा। इन सब प्रश्नों का गुरुत्व नितान्त साधारण नहीं है। क्योंकि हमारे **वेद आदि बेबीलोन-मिस्र आदि देशों के भूस्तर पर प्रोत्थित प्राचीन युग के निदर्शनों के समान वर्तमान व भविष्य के साथ सारा सजीव सम्पर्क खोकर विलीन नहीं हुए हैं।** अनेक अंशों में और-और अन्य पेड़ों की तथा अपनी नई शाखाओं की कलमें फूट निकलने पर भी, वेदमहीरुह अभी भी सजीव है, एवं अभी भी उसकी शाखा-प्रशाखाओं के विपुल आलिङ्गन के बीच समग्र आर्य सभ्यता व हिन्दू समाज विराजमान है। यह क्या सचमुच ही विषवृक्ष है कि इसकी छाया में रहकर एवं इसके फलों को चखकर इतनी बड़ी जाति अवसन्न, मृत-कल्प हो गयी! छायातल में अचेत-सी होकर पड़ी रहते-रहते भूल गयी कि एक उदार भास्वर मुक्त अम्बर के नीचे विश्वमानव के जीवन का भाव तथा साधनाएँ महापारावार की ऊर्मिराशि के समान मुक्ति के आनन्द में और स्वाधीनता के गर्व में काँप रही हैं? अथवा वेद सचमुच ही अमृतफल प्रसव करने में समर्थ है—ऐसी एक शान्ति व अभय अपने पुण्यकलेवर के नीचे फैलाये हुए है कि उस ओर दृष्टिपात करने से भी, इस अकूल भव-जलधि के आँधी-तूफान के मध्य से मानवात्मा आश्वस्त व सुस्थिर हो सकती है?

इस समस्या का एक विहित समाधान होना अत्यावश्यक है। प्राचीन भाव व साधना आदि के साथ नवीन भाव व साधनाओं का, वेद के साथ विज्ञान की कुछ निर्णयात्मक बातचीत होना बहुत ही आवश्यक है। क्योंकि हमारे इस भारतवर्ष में जो प्राचीन है वह केवल पुरातत्त्व या प्रत्नतत्त्व नहीं हो गया है; प्राचीन में और नवीन में, उस समय में और इस समय में, ऐसा मेल-जोल अन्य किसी देश में इस प्रकार का हुआ है

या नहीं, हमें ज्ञात नहीं है। प्राचीन भाव व कर्मविधियाँ प्राचीन होकर एक-दम 'ईजिप्शियन ममी' की भाँति पुरातत्त्व में शामिल हो जातीं तो कोई झगड़ा या जंजाल-भूल न रहता; " 'ममी' को उसके नीरव, अन्ध-तमसाच्छन्न समाधिकक्ष से बाहर निकालकर जादूघर में लोकचक्षु की परीक्षा के सामने हाजिर करो, विज्ञानागार में ले जाकर उसके व्यवच्छेद की व्यवस्था करो",—ऐसा न कहना। कान द्वारा सुन सकने योग्य आत्मकथा कहने के उसके दिन कितने ही हजार साल पहले बीत चुके हैं। किन्तु हमारे वेद, तन्त्र आदि पुरातन होकर भी नूतन हैं, अभी भी गङ्गा, यमुना, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी आदि के पुण्यजल के सीकरों के संस्पर्श से स्निग्ध-मधुर, प्रसन्न-गम्भीर वेदमन्त्र व पौराणिक स्तवगाथायें आदि सैकड़ों-सहस्रों नर-नारियों के कण्ठों में ध्वनित होकर, उसी सामगान से झङ्कारित प्राचीन आर्यावर्त्त को हमारे परिचय व ममता के बीच सजीव व सजग किये हुए हैं, अभी भी दैन्यपीड़ित, रोगक्लिष्ट भारत के ग्रामीण आवासों के शिर पर, छान्दोग्य-बृहदारण्यक के आकाश के वही 'वाताः'[13] ठीक पहले की भाँति 'मधुक्षरण' न सही, होम-यज्ञ की धूमगन्ध-रेणुओं का वहन कभी-कभी अवश्य करते हैं। अभी भी भारत के ग्राम-ग्राम में, प्रान्तरों में,—'पन्थानः'—ठीक-ठीक 'शिवाः'[14] न होने पर भी, मन्दिर एवं देवायतन उतने सुन्दर व सयत्नरक्षित न होने पर भी, वेदपन्थी समाज के चरणचिह्नों को सहस्रशः धारण कर रहे हैं, एवं तीर्थयात्री के अवनत मस्तक के स्पर्श से अपने सञ्चित मालिन्य को कुछ-कुछ पोंछ ले रहे हैं। मैं शायद विजातीय भाव व कर्म के आवर्त में पड़कर चक्कर खा रहा हूँ, दिग्भ्रान्त हो गया हूँ, किन्तु तब भी हे सनातनी त्रयी! कैसे भूलूं तुम्हारा, इस विश्वरूप भारत के कोटि-कोटि नर-नारियों के हृदय में बिछा सिंहासन! कैसे भूल सकता हूँ वर्तमान पर तुम्हारा संयत शासन व प्रभाव, एवं भविष्य की ओर तुम्हारा शान्त अभियान!

इसीलिये कह रहा था कि वेद नाम की वस्तु उपेक्षा करके फेंक देने या छोड़ रखने योग्य नहीं है—भारतीय जीवन जिसका अवलम्बन लेकर पुष्ट व विकसित हो रहा है, एवं अभी भी, अशेष दैन्य व ग्लानि के बीच भी जिसका आश्रय लेकर मुख्य रूप से टिका हुआ है, वह वस्तु उपेक्षा के योग्य नहीं है। उसका एक नवीन परिचय लेना, नाप-जोख करना, सवाल-जवाब या पूछताछ करना, कोई छोटा काम नहीं है। सवाल-जवाब करके यदि तृप्ति न मिले, तो हो सकता है वेद के इतना बने रहने पर भी हम उसे अपने चिन्तन व कर्मराशि से हटाकर त्याग ही दें; अथवा उसकी अभी भी कोई उपयोगिता समझें तो हो सकता है हम उस ईजिप्शियन 'ममी' की भाँति वेद व तन्त्र की कुछ पोथियों को भूगह्वर में, अँधेरी समाधि में इस प्रकार से आबद्ध करके रख देंगे—सुरक्षित कर देंगे जिससे उन्हें कीड़े न खा जायें। किन्तु वैसा ही प्रयोजन

या आवश्यकता उपस्थित हुई है क्या ? प्रश्न का गुरुत्व हम जानते हैं क्योंकि एक बार कनखी से विश्वरूप देख चुके हैं ।

अब प्रश्न का उत्तर पाने के लिये हमें करना क्या होगा ? पहले देखना होगा कि वेदमत एवं वेदविधि कहाँ तक सत्य पर स्थापित है, कहाँ तक यथार्थ है ? वेदमन्त्र द्वारा देवता व पितरों की अर्चना करनी है; ठीक है; किन्तु देवता व पितरों की सत्ता कहाँ है व कैसी है ? मन्त्र के साथ उनकी सत्ता का सम्पर्क किस प्रकार का है ? इन अनुष्ठानों का कितना भाग यथार्थता द्वारा अनुमोदित है और कितना कल्पित, रूपक या प्रतीक है ? साहब पण्डित (विदेशी विद्वान्) अपने सभ्य समाज में, बहुत सी व्यवस्थाओं व अनुष्ठानों को पूर्वकालीन बर्बर समाज के अनुष्ठान आदि का ध्वंसावशेष, अनुवृत्ति अथवा प्रतीक समझते हैं । किसी-किसी स्थल पर शायद वैसा ही है भी; किन्तु हमारे प्रस्तावित विषय में भी वही है या नहीं ? वैदिक यज्ञ व मन्त्र क्या उसी बर्बर युग का मोहकलिल इन्द्रजाल (जादू) हैं; जो सर्वथा न सही अधिकांशतः निष्फल व अर्थहीन आडम्बर मात्र हैं ? सामान्य animism (जड़ात्मवाद) या इसी तरह का कोई एक सूत्र पकड़कर उस बर्बर समाज की बुजुर्गी व मन्त्र-तन्त्र क्रमशः दाने बँधकर जटिल व विशाल हो गये, सिन्धु-सरस्वती के तीर पर आकर हम उस प्राचीनतर बुजुर्गी का पुनः सिर उठाकर survival देख पा रहे हैं । इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है, और ये सब अत्यन्त गुरुगम्भीर भाव से लेने लायक वस्तुयें भी नहीं हैं ।

हम लोग अत्यन्त सभ्य हो गये हैं, किन्तु हमारी विवाहविधि की वरयात्रा, स्त्री-आचार आदि बहुत से अनुष्ठानों में क्या हम उस प्राचीन बर्बर समाज के बलपूर्वक कन्याहरण, इन्द्रजाल आदि का सुस्पष्ट निदर्शन नहीं खोज पाते हैं ? वेद व तन्त्र के असली व्यापारों की कुछ इसी प्रकार की व्याख्या विदेशी पण्डितों ने की है कि वह हममें से बहुतों के लिए भी अच्छी-खासी मुखरोचक बन गयी है । किन्तु सचमुच ही पूछने की इच्छा होती है कि असली बात है क्या ? इस समस्त वेदमत और वैदिक क्रिया-कलाप के मूल में पुरातत्त्व के अतिरिक्त कोई सत्य निहित है क्या ?

वेदमत सुनकर आप लोग विस्मित न हों । पराविद्या व उपनिषद् आदि में, जंगत् की किसी भी एक प्रकार की कैफियत देने की चेष्टा तो है ही; किन्तु वेद की जिस भाषा को अपराविद्या कहकर हम लोगों ने अब नाक सिकोड़ना आरम्भ किया है, उन क्रिया-काण्ड-स्वरूप संहिता व ब्राह्मण में भी मतवाद अन्तर्निविष्ट है । उषा लाल है, सोम-रस तेजस्कर है, इस प्रकार के कुछ एक तथ्यों की विवृति-मात्र (statement of fact) लेकर ही वेद नहीं है । ज्यों ही वेद ने कहा कि स्वर्ग की कामनावाला देवता के उद्देश्य से यजन करे, तभी हम लोग नाना प्रश्नों व मतवादों में जा पड़े ।—"देवता

कौन हैं ? उनका क्या स्वरूप है ? उनका शरीर क्या मन्त्रात्मक ही है या भौतिक भी किसी प्रकार का शरीर या विग्रह है ? स्वर्ग क्या है व कहाँ है ? मेरे यजन, अनुष्ठान के साथ देवता व स्वर्ग का सम्पर्क किस प्रकार का है ? मरण के समय आत्मा की सत्ता रहती है या नहीं ? प्रेतलोक में प्रयाण होता है या नहीं ?" ये सब मतवाद इस जरा सी वैदिक व्यवस्था में अन्तर्निविष्ट हैं। अब विदेशी पण्डितों की व्याख्या छोड़कर यह बात कुछ जोर से पूछने की इच्छा होती है कि इन सब मतवादों के मूल में सत्य कहाँ तक है ? स्वर्ग, देवता, मन्त्र, आत्मा की जन्मान्तर-प्राप्ति—ये सब बातें कहाँ तक यथार्थ हैं ? कसौटी पर कसकर, माँजकर, जाँचकर इन सब बातों को परखने की इच्छा होती है, और नाना विप्लव व रूपान्तर रहने पर भी हम जब अभी भी मुख्यतः वेदशासित व वेदानुवर्ती हैं, तब उन्हें केवल 'पुरानी चीज' (पुरातत्त्व) बना देने से हमारा काम नहीं चलेगा; परीक्षा व विचार करके हमें देखना होगा कि इस वेद का कौनसा अंश उपादेय है और कौनसा अंश हेय है। इस प्रकार की परीक्षा की प्रयोजनीयता केवल अधिक ही नहीं, ऐकान्तिक (नितान्त आवश्यक) हो गई है। क्योंकि जाति के हिसाब से, एक विशिष्ट प्राचीन सभ्यता के हिसाब से हम जियेंगे या मरेंगे, बचेंगे या समाप्त हो जायेंगे—इसकी समस्या हमारे सामने उत्कट रूप से दिखाई दे रही है। इसे जिस प्रकार एक ओर अस्वीकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दूसरी ओर निश्चिन्त भाव से दाव-ढाँककर रख छोड़ने का भी उपाय नहीं है। और इस समस्या का सचमुच ही एक समाधान हमें पाना हो तो केवल इम्पिरियल लाइब्रेरी या British Museum की घुन-खाई पोथियों की धूल झाड़कर इन्हें 'प्रत्नतत्त्व' कहने से नहीं चलेगा;—पुनः उसी विज्ञानागार में हमें घुसना होगा,—देखना होगा, नूतन विज्ञान के रेडियम, इलेक्ट्रॉन, रञ्जन-रे आदि के बीच उसी प्राचीन वेद-विज्ञान की सभ्यता का कोई आभास, इङ्गित पकड़ा जा रहा है या नहीं। पुनः उस तपोवन-सिद्धाश्रम की ओर यात्रा करनी होगी;—देखना होगा योगज प्रत्यक्ष के कोरक, पँखुड़ियाँ धीरे-धीरे खोलकर कि उनके बीच सर अलिवर लॉज, सर ऑर्थर कोनान विल" आदि की मनीषा-दृष्टि का सङ्कोच तोड़कर अचिन्तितपूर्व वास्तव इन्द्रजाल सुस्थिर होकर जगा हुआ बैठा है या नहीं ! परीक्षा का परिसर व गम्भीरता इतनी दूर तक न हो तो केवल पुरातत्त्व, भाषातत्त्व व प्रत्नतत्त्व से काम नहीं चलेगा।

वेद का कोई अंश विशेष उपादेय है और कोई अंश हेय है, इसे वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा निरूपित कर लेना होगा—यह बात सुनकर क्षुब्ध होने या भय मानने का कोई कारण नहीं है। हम बहुत से लोग मुख से वेदवाक्य को सम्मति दे देते हैं। वेद को जितना-सा समझते हैं एवं अपने जीवन में उसका जितना-सा वरण, उद्यापन कर लेने को प्रस्तुत होते हैं, उतना-सा ही हमारे प्रति उपादेय अंश है और जो अंश समझते नहीं

या गलत समझते हैं, अथवा समझने पर भी जिसे अपने जीवन में स्वीकार करके अपनी भावसाधना व कर्मसाधना में साकार कर लेने में प्रस्तुत नहीं होते, उस अंश में हम मुख से तो झुण्ड में 'हरि' बोलने के समान अस्पष्ट सम्मति दे देते हैं, हाँ में हाँ मिला देते हैं, किन्तु वास्तव में वह हमारे लिये हेय होता है। हमने उसे अज्ञात के बीच, भूल-भ्रान्ति के बीच, अवज्ञा के बीच वनवास दे रखा है। हममें से बहुतों का वेद-विश्वास व आस्तिक्य इसी प्रकार का है। इसे ठीक आस्तिक्य नहीं कहते। वेद जीवनवेद न हो तो आस्तिक्य अन्तःसाररहित हुआ करता है। हममें से बहुतों का ईश्वर में विश्वास इसी प्रकार का है। ब्रह्मदर्शी ऋषि न होने तक, चरम वेद का साक्षात्कार न करने तक, विश्वास व आस्तिक्य में कुछ न कुछ मिलावट, धोखा रहता ही है; एवं जो व्यक्ति उस धोखे को पकड़ ले, उसका सिर काट लेने का हुकुम देने पर सत्य का अपलाप ही हुआ करता है—उससे विश्वास व आस्तिक्य की विजय-दुन्दुभि निनादित नहीं होती। भाव के घर में चोरी करने से बड़ा कोई आत्मघात नहीं। एवं आत्मघाती से बड़ा अविश्वासी व नास्तिक कौन है? 'आत्मानं विद्धि'[१६] यही वेद है, आत्मा ही सब है, एवं इस सबको जान लेने से ही चरम वेद जान लिया जाता है। अतएव हेय और उपादेय—ये दो बातें सुनकर क्षोभ करना उचित नहीं। ज्ञान के बीच से, उपलब्धि के बीच से जिसे सुस्थिर भाव से पकड़ पाया हूँ उसीको मैंने स्वीकार, अङ्गीकार किया है। और जिसमें मेरे संशय, प्रमाद, कुण्ठा व कृपणता हैं, वह स्वयं वेद होने पर भी मुझसे दूर, बाहर, अस्वीकृत, अनात्मीय होकर पड़ा हुआ है। मुख से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कहने से क्या होगा, बात-बात में 'वेद शब्दब्रह्म है' की दुहाई देने से क्या होगा—जब तक काय, मन व वाक्य का ऐकमत्य नहीं है, तब तक कोई मेरा अरि है, कोई मित्र, कोई मेरे लिये हेय है और कोई उपादेय।

वैज्ञानिक परीक्षा करनी होगी यह बात सुनकर कोई-कोई शायद वेद की वैज्ञानिक व्याख्या, या अश्वडैम्बिक[१७] व्याख्या जैसी कोई अपरूप सामग्री देखने की प्रत्याशा कर रहे होंगे। आप लोगों की आशा को तोड़ना नहीं चाहता (अतः)—अभी-अभी के विज्ञान की ओर से अपनी पुरानी घरेलू बातों को परीक्षा कर लेने की दुरभिसन्धि इस अधम लेखक की थोड़ी-सी है ही। उसका परिचय आप क्रमशः पायेंगे। मन्त्रशक्ति की व्याख्या करने चला तो मुझे पहले दो-एक दिन विज्ञान के रेडियम, इलेक्ट्रॉन इत्यादि को लेकर ऐसी हाथ-सफाई एवं असाध्य-साधन-निपुणता दिखानी पड़ी थी कि मेरे किन्हीं विशिष्ट बन्धुओं ने मेरे वैदिक रेडियम को अश्वडिम्ब का ही मौसेरा भाई मान लिया था। उनके प्रति अनुयोग (नालिश) करने का उपाय आपाततः नहीं देख पा रहा हूँ। वैज्ञानिक व्याख्या आरम्भ करके तीन बातें विशेष रूप से स्मरण न रखने पर भटक जाने की सम्भावना है। पहले तो 'वैज्ञानिक व्याख्या

करेंगे' सोचने भर से ही वैसा करना हो नहीं पाता। वैज्ञानिक परीक्षा व विचार में अत्यन्त सतर्कता के साथ प्रमाणों का संग्रह, विश्लेषण व समालोचन करना होता है। जिन लोगों ने विज्ञानागार में प्रवेश करके देखा है, अथवा वैज्ञानिकों का लिखा हुआ वाङ्मय पढ़ा है, उन्हें यह बात अधिक समझानी नहीं पड़ेगी। अभिप्राय यही कि वैज्ञानिक व्याख्या बच्चों का खेल नहीं है। दूसरी ओर जब तक वैज्ञानिक परीक्षा पूरी-पूरी नहीं कर पा रहे हैं, तब तक आँख, कान बन्द करके बैठ रहें, वेद की बात आने पर कान में अँगुली डाल लें—ऐसा प्रण किये रहना भी युक्तिसंगत नहीं होगा।

विज्ञान जिसे प्रमाण या demonstration कहता है, वह होने से पहले, बहुत बार बहुत से तथ्यों का पूर्वाभास हमें अन्य प्रकार से मिल जाया करता है। पृथिवी के साथ मंगल ग्रह की अवस्था (स्थिति) के विषय में किसी-किसी अंश में सादृश्य (analogy) देखकर हम अन्दाज लगाते हैं कि शायद मंगल ग्रह में बुद्धिमान् जीव निवास करते हैं। इस अन्दाज को ही प्रमाणित सत्य मान लेना भूल होगी। किन्तु पुनः इस अन्दाज को बिल्कुल तुच्छ, हेय मान लेने पर भी प्रमाण-संग्रह तथा प्रमाण-व्यवस्था का पथ रुद्ध या संकीर्ण हो जायेगा। उपमान या Analogy की कदर विज्ञान में बहुत कम नहीं है। जल में ढेला फेंकने पर तरंग उत्पन्न होना देख लिया। अथवा किसी तनी रस्सी या तार को कँपाकर तरङ्गों का हिसाब पाया। इस दृष्टान्त पर निर्भर करके एवं इस दृष्टान्त के उपमान से, वायु, ईथर आदि में कितनी ही तरंग-सृष्टियाँ सोचकर वैज्ञानिक का मस्तिष्क बड़े-बड़े सिद्धान्त खड़े किये दे रहा है। लट्टू हममें से बहुत लोग घुमाते हैं, एवं चुरुट के धुएँ की ऊर्ध्वगति बहुतों ने प्रत्यक्ष देखी है, किन्तु हेल्महॉल्ट्स्[१८] एवं लार्ड केल्विन के मस्तिष्क ने ईथर में जो लट्टू घुमा दिया है, उसे बच्चों का खेल कौन कहेगा? ईथर में चुरुट के धुएँ के समान कुण्डली जैसे चक्कर काटते हुए जिन अणुओं की 'सृष्टि' इन लोगों ने की है, उन्हें विशुद्ध गाँजे के धुएँ से उत्पन्न कहने का साहस किसको है? हठात् कोई एक सादृश्य देखकर बहुत बड़े-बड़े सिद्धान्त (theories) वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में कौंध गये हैं। नजीर और कितनी दिखायें? अतएव जो लोग समझते हैं कि या तो विज्ञान की अग्नि-परीक्षा में श्रुति को अभी-अभी एकदम उत्तीर्ण हो जाना होगा, नहीं तो वह प्राचीना तपस्विनी के वेश में हमारे सामने उपस्थित भी रहे तो उसे पक्की असती कहकर (पैरों से ठुकरा-कर) बिदा देनी होगी—जिन्होंने सरासर ऐसी व्यवस्था कर डाली है वे विज्ञान के इतिहास के पन्नों को पुनः एक बार पलटकर देख लें तो अच्छा हो।

न्यूटन[१९] शिष्ट वैज्ञानिक थे, किन्तु 'एल्केमी' (Alchemy) (रसायन विद्या) (कीमिया) में विश्वास करते थे; उनकी वह alchemy प्राचीन पण्डितों के

उस Philosopher's stone की भाँति गत दो-ढाई शताब्दियों से प्राचीनपन्थी कट्टर वैज्ञानिकों का कितना ही विद्रूप सहकर अन्ततः समाप्त हुई है। किन्तु लगता है कि विज्ञान के भी कोई भाग्यविधाता पुरुष हैं; तुम्हारा, मेरा, यहाँ तक कि स्पेंसर[१०] (Spencer), हॅक्सले (Huxley) का भी वोट् न लेकर वे शायदविश्वमानव की दृष्टि को समय-समय पर नयी ओर नयी दिशा में घुमा देते हैं।

इस बीसवीं शताब्दी के पूर्वाह्न में ही विज्ञान में इसी प्रकार का एक युगविपर्यय सूचित हो चुका है। Alchemy अब खपुष्प अथवा नरशृंग के समान कोई नितान्त असम्भव बात नहीं रही है। रसायनशास्त्र के अणुओं (Atoms) का स्वत्व जिस दलील पर है, वह दलील स्थायी या पक्की नहीं है। अणु को भी तोड़कर चूरा किया जा सकता है एवं किया जा रहा है। एकजातीय अणु अन्यजातीय अणु में परिवर्तित हो रहा है; थोरियम, रादरफोर्ड[११] साहब की परिभाषा के अनुरूप थोरियम एक्स नामक एक नये पदार्थ में विवर्तित हो रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें मिल चुका है। चाँदी या सोने की चकरियाँ या कागज के टुकड़े (रुपये के विभिन्न रूप) मुहूर्तभर में शून्य में मिलकर बौद्धाचार्यों के निर्वाण की पदवी पा लेते हैं—इसे हम जैसे गरीब अध्यापकों या क्लर्कों का दल, जिनका बैंक में हिसाब खोलने का सौभाग्य इस जन्म में कभी नहीं होगा, प्रतिक्षण प्रत्यक्ष देख रहा है। किन्तु एक मुट्ठी धूल लेकर वैज्ञानिक के पास जाने पर वे उसमें वनमानुष की हड्डी छुआकर एक मुट्ठी सोना बना दे सकते हैं, अन्ततः भविष्य में बना सकेंगे, ऐसी कल्पना करना पुनः आरम्भ कर दिया है—यह बात मैं कुछ दिन से सुन रहा हूँ। बात सुनने पर भी उसे तोड़ फेंकना, उड़ा देना सभी के लिए सर्वथा निरापद नहीं है, विशेषतः जिनकी गृहिणियाँ अभी भी गहनों के लिए उत्कट अनुरोध नहीं छोड़ती हैं। खैर जो भी हो, एक ओर वैज्ञानिक परीक्षा का गुरुत्व हमें जिस प्रकार स्मरण रखना होगा, उसी प्रकार दूसरी ओर सतत सजग रहकर देखना होगा कि कहाँ पर कौन-सा सृष्टि-कौशल व मानव-प्रकृति का महारहस्य इंगित में कुछ चिह्न या संकेतमात्र भेजकर, अपनी अवस्थिति का हमें ज्ञान करा देना चाह रहा है, अपना अर्थ हमारे समीप खोल देने का उपक्रम कर रहा है। इस प्रकार के संकेत (analogies) दिग्दर्शन के समान तथ्य का पथ हमारी विभ्रान्त दृष्टि को दिखा देते हैं। सादृश्य व संकेतों से केवल प्रेम के राज्य में पूर्वराग सूचित होता हो ऐसा नहीं है; ज्ञान के राज्य में भी सादृश्य देखकर एवं संकेत समझकर ही हम सत्य-लोक का सन्धान पाते हैं।

गगन के सीमान्त प्रदेश (क्षितिज) में सागर के नीले जल के तरङ्गरूपी चपल बाहु छुड़ाकर भानु जल्दी-जल्दी एक प्रकाण्ड अग्निगोलक के समान कब उदित होगा इसे देखने के लिये सागर तट पर खड़ा हूँ। सूर्यदेव प्रकाश के देवता हैं। उनका

'वरेण्यं गर्भः' हैं; उनका क्या इतनी देर तक सागर के लहरोपाश के बीच पड़े रहना अच्छा दिखता है ? इसीलिये वे अब शीघ्रता से उदित होते आ रहे हैं। किन्तु उनके व्यस्त-समस्त (विलम्ब की भावना से अस्थिर) होने (घबराने) से क्या होगा, उषा के अरुणराग ने बहुत पहले ही इसका ज्ञान करा दिया था कि उन (सविता) की विपुल वरणीय देवकान्ति नीलसिन्धुजल में कहाँ किस प्रकार से आच्छन्न है। मैं दार्शनिक हूँ, शुष्क तर्कव्यवसायी हूँ—कवित्व मुझे आता नहीं; तब भी बात इतनी ही है कि सत्य के निर्मल प्रभात की सूचना हुआ करती है अनेक स्थलों पर ही, उषा के अस्पष्ट धुँधले आलोक में ही। वैज्ञानिक परीक्षा में प्रवृत्त होकर हमें यह बात भूलनी नहीं है। वैज्ञानिक व्याख्या के प्रसङ्ग में यही हमारी पहली बात है।

दूसरी बात यह है कि वैज्ञानिक परीक्षा सत्य की चरम व सुव्यवस्थित कसौटी नहीं है। यह बात हमने पिछली बार खोलकर विस्तार से कही थी। वैज्ञानिक परीक्षा में उत्तीर्ण होने से ही पक्का सिद्धान्त हो गया—ऐसा समझना पूर्वाग्रह होगा। विज्ञान स्वयं असिद्ध है, प्रतिनियत (रोज-रोज) उसके मतवाद (theories), यहाँ तक कि परीक्षालब्ध फल तक बदल रहे हैं, और कभी उलट भी जा रहे हैं। सुतरां इस शिथिल भित्ति के ऊपर कोई पक्की इमारत खड़ी करने जायें तो मूर्खता ही होगी। "यावच्चन्द्र-दिवाकरौ" (जब तक चन्द्र व सूर्य विद्यमान हैं) तब तक कोई ज्ञान प्रतिष्ठित है या नहीं यह हम नहीं जानते; जिसे हम लोग विज्ञान या science कह रहे हैं, वह तो किसी भी अंश में उक्त प्रकार का (स्थायी) नहीं है इसे तो हम भलीभाँति समझ रहे हैं। विज्ञान के अन्य नियम, ढंग तो बदल सकते हैं किन्तु जिस गणित की भित्ति पर न्यूटन, लाप्लास,[१२] लाग्राञ्ज, गाउस् आदि महाशिल्पियों ने विज्ञान की मायापुरी गत दो-तीन शताब्दियों से निर्मित की है एवं उसे लिये हुए, विश्वामित्र की भाँति अपने-आपको ब्रह्मा जैसा समझ रहे हैं; यह मायापुरी इन्द्रजाल-मात्र है इसे स्वयं वैज्ञानिक ही आज स्वीकार कर रहे हैं। Dr. Bertrand Russell[१३] ने Newtonian Dynamics के सम्बन्ध में कहा है कि यह—"First rough sketch of the ways of Nature"—प्रकृतिराज्य की व्यवस्था का एक प्राथमिक मोटामोटी आँका गया नक्शा भर है—प्रकृति के विश्वविद्यालय में नित्यपाठ्य गणित की प्रथम पुस्तक (छोटे बच्चों को पहली कक्षा में पढ़ाई जानेवाली) के सिवा कुछ नहीं है। अथच बीस-पच्चीस वर्ष पहले भी वैज्ञानिक लोग इसी प्राथमिक पुस्तक (बंगला में 'धारापात') को हाथ में ले लेने को सारी पृथ्वी का हाथ में आना समझते थे। [१४]म्याक, पोयाँकारे, [१५]कार्ल पियर्सन आदि पण्डित विज्ञान की अन्धभक्ति के प्रति असहिष्णुता प्रकट करते थे एवं पहले से ही नाना प्रकार के प्रश्न-प्रतिप्रश्न करते थे। किन्तु [१६]आइन्स्टाइन, [१७]मिन्कवस्कि आदि नवीन लोग देश व काल की जो अपरूप खिचड़ी पकाकर हम जैसे

अवैज्ञानिकों से शुरू करके Royal सोसाइटी[१८] पर्यन्त सभी के पत्तल में परोस रहे हैं, उससे भय होता है, वह गरिष्ठ भोजन शीघ्र ही हमारे दिमाग में चढ़कर तत्काल हमें fourth dimension of space का एक अपरोक्ष ज्ञान करा डालेगा।

अभिप्राय यही है कि सभी कुछ उलट-पलट हुआ जा रहा है। दो और दो चार कहने में भी किसी दिन कोई आधुनिक वैज्ञानिक मुँह बन्द कर देंगे। कोई भरोसा नहीं। विज्ञान की जब—"कहो तो माँ तारा! अब कहाँ खड़ा होऊँ?" ऐसी अवस्था है, तब उसकी theories को एकनिष्ठ भाव से पकड़े रहने, तथा उसके परीक्षालब्ध फलाफल आदि को आज का अभ्रान्त वेद मानने को हम राजी नहीं। पर केवल इसीलिए विज्ञान की परीक्षायें व विचार व्यर्थ हैं, अकिञ्चित्कर हैं, ऐसा कोई नहीं कहेगा। भले ही, आंशिक रूप से हों, सन्दिग्ध रूप से हों या सापेक्ष रूप से हों, किसी भी प्रकार से, उक्त वैज्ञानिक परीक्षा व विचार भी तथ्य-निर्णायक हुआ करते हैं अवश्य। पूरी तरह निश्चिन्त व निःसंशय न कर देने पर भी दृष्टि को प्रसारित, विचार-शक्ति को साहसप्राप्त व ज्ञान को पुष्ट कर देते हैं। इस कारण वेद आदि को भी वैज्ञानिक परीक्षा में मिला लेने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु अभी-अभी मिलाने में असमर्थ होने से ही वेद 'पत्रपाठ' व प्रतारणा में परिणत हो जायेंगे ऐसा नहीं है। विज्ञान द्वारा जितना भी समझ लें उतना ही अच्छा है। जहाँ नहीं समझ रहे हैं, वहाँ किसी प्रकार का संकेत-सूत्र (suggestive analogies) हैं या नहीं, यह भी देखना आवश्यक है। जहाँ वह भी नहीं मिल रहा, अथवा शायद विरोध ही दिख रहा है, वहाँ गेटे (Goethe)[१९] की भाँति और अधिक प्रकाश ("more light") के लिए प्रतीक्षा करनी होगी; सरासर (बिना अधिक सोचे-विचारे) हठात् वेद या विज्ञान के पक्ष में (के सम्बन्ध में) राय दे डालना हठकारिता होगी, सत्य की मर्यादा को क्षुण्ण करना होगा।

उस दिन कहा था, आज फिर कह रहा हूँ कि इस प्रकार की परीक्षाओं से आस्तिक को भय मानने का कोई कारण नहीं है। हम लोग साधारणतः जिस रूप से वेद या शास्त्र के प्रति विश्वास रखते हैं, उसे विश्वास नहीं कहते, वह विश्वास का अभिनय मात्र है। विश्वास के सुप्रतिष्ठित होने पर उससे पर्वत भी टल सकता है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जिस विश्वास ने हमारे भीतर रहते हुए हमारे जीवन को नये प्रकार से गठित नहीं कर दिया वह विश्वास अशक्त है, उसका बोझा ढोने में तो हम केवल एक मिथ्या का भार, अतीत का भार ढो रहे हैं। "भक्तिते मिलये कृष्ण तर्के बहु दूर" (श्रीकृष्ण भक्ति द्वारा मिलते हैं, तर्क करनेवाले के लिए वे बहुत दूर हैं।)—यह ठीक है, किन्तु वह भक्ति यदि भानमात्र ही हो तो सौ-सौ बार 'कृष्णप्राप्ति' हो जाने पर भी उस भक्ति द्वारा कृष्ण नहीं मिलेंगे। आस्तिक्य की ओर से आशङ्का है कि कहीं ऐसा न हो कि वैज्ञानिक परीक्षा का अर्थ केवल थ्योरी व शुष्क तर्क के भूलभुलैया,

गोरखधन्धे में घूम-घूमकर मरना भर हो। अपरोक्षज्ञान साक्षात् ब्रह्म है—जिस भी मूर्ति में वह अपरोक्षज्ञान हमारे समीप क्यों न आ जाय;—विज्ञानागार में से आये, चाहे सिद्धाश्रम में से ही भेजा जाये। इसी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर क्रमशः 'व्यपेतभीः'[७०] निर्भय होने की बात है। इसलिए सचमुच के विज्ञान से भय नहीं है। सचमुच का विज्ञान है—भूयोदर्शन, विशिष्टदर्शन तथा पर्यवेक्षण। भय है विज्ञान की धोखेबाजी या छलना, प्रतारणा से। विद्या के नाम से एक अविद्या आकर बहुत बार हमारे कन्धों पर चढ़ बैठती है;—वह प्रश्न-प्रतिप्रश्न-अतिप्रश्न करती है, तर्क करती है, विशृङ्खल, असम्बद्ध रूप से कल्पना-जल्पना करती है, किन्तु परीक्षा के नाम पर साक्षात् जड़भरत बन बैठती है। इस प्रकार के विज्ञानाभास को हम दूर से ही नमस्कार करते हैं। "ताल गिरने पर 'ढिप्' (आवाज) करता है या 'ढिप्' करते हुए ताल गिरता है"— इस 'महारहस्य' की आलोचना करते-करते हो सकता है कुछ दिन वङ्गाली मस्तिष्क का अपव्यवहार ही हो; किन्तु पश्चिमदेश में भी वैज्ञानिक महल में कुछ इसी प्रकार का मस्तिष्क का अपव्यय अज्ञात हो ऐसा नहीं लगता। प्रतिप्रश्न के बोलों में तर्क की खींचतान में कितनी वैज्ञानिक गवेषणा को पथभ्रान्त होकर आवर्त में भटक-कर समाप्त हो जाना पड़ा है—यह बात विज्ञान के इतिहास के अनेक निष्फल परिच्छेद गहरी लम्बी साँस छोड़ते हुए हमें बता चुके हैं। आज और दृष्टान्त नहीं दूँगा। तात्पर्य की बात यही है कि सचमुच विज्ञान जैसा ही विज्ञान हो तो उससे किसी प्रकार का भय नहीं है। जो भी हो, वैज्ञानिक परीक्षा में वेद को मिलाने जायें तो हमें सावधान रहने की भी आवश्यकता है और आश्वस्त होने के भी पर्याप्त हेतु हैं। इस सम्बन्ध में यही हमारी दूसरी बात है।

मुख्यतः, तीसरी बात—हमें स्मरण रखना होगा कि वैज्ञानिक परीक्षा ही तत्त्व-व्यवस्था के लिए यथेष्ट नहीं है, चरम कसौटी नहीं है। अणुवीक्षण या इसी प्रकार के यन्त्रसाहाय्य से सम्भव है हम नहीं पकड़ पायें— कि किस गुण के कारण गङ्गाजल अनेक घातक बीजाणुओं को ध्वस्त करने में समर्थ है। इस क्षेत्र में हताश्वास (निराश) न होकर हमें कोई प्रकृष्टतर उपाय खोजना या लेना होगा। पश्चिमदेशीय पण्डितों ने बाथ[७१] (Bath) तथा बाक्सटन (Boxton) नामक स्थानों के जल में भेषज शक्ति (medicinal property) का आविष्कार किया है। यह समाचारपत्र के चटकदार संवाद नहीं हैं, आधुनिक विज्ञान के प्रामाणिक (standard) ग्रन्थों में पढ़ा है। वह जल radio-active विकिरणशील है यह भी हम जान पाये हैं, उस radio-activity के कारण ही क्या यह भेषज शक्ति प्रकट हुई है? जो वस्तु स्वतः ही विभिन्न प्रकार से तड़ित् शक्ति (*aBC* rays) का विकिरण (radiate) करने में समर्थ है, उसे आधुनिक विज्ञान की परिभाषा में radio-active-body कहते हैं।

संभवत: अल्पाधिक परिमाण में सभी वस्तुयें इस शक्ति से युक्त हैं। इस सामर्थ्य से वस्तु के कणों में कौन सा व्यापार सूचित होता है, इसकी आलोचना आगामी बार वेद के जड़तत्त्व की आलोचना के स्थल पर हमें विशेष रूप से करनी होगी। आपातत: (अभी तो) radio-activity का एक स्थूल लक्षण देकर ही छोड़ देते हैं।

अब प्रश्न यह है कि रेडियम, थोरियम, पलेनियम[७२] या अन्य जिन वस्तुओं में यह ताड़ित-अणु-विकिरण सामर्थ्य विशेष रूप से है, उनको किस प्रकार की परीक्षा में हम पकड़ ले रहे हैं? पहले किस प्रकार जान रहे हैं कि ये वस्तुएँ अपने भीतर से सब ताड़ित-अणुपुञ्जों को महावेग से छिटका रही हैं? इसे पकड़ने में साधारण रासायनिक परीक्षा ने हार मान ली है। जिस spectroscope की सहायता से हम बहुदूरवर्ती ग्रह-नक्षत्र आदि के निर्माण का क्रम व माल-मसाला (संघटक तत्त्व) आदि जान पा रहे हैं, वह यन्त्र भी यहाँ परास्त है।

एक 'फोटोग्राफिक मेथड्' और एक 'इलेक्ट्रिक मेथड्'—इन दो उपायों से हमने वस्तुजगत् की इस शक्ति का सन्धान पाया है तथा सन्धान पाकर जड़तत्त्व के सम्बन्ध की अपनी धारणा को हमने इन बीस वर्षों के भीतर पूरी तरह बदल डाला है। 'साँप की छींक को बनजारा (जिप्सी) ही पहचान सकता है'—सो radio-activity हाथ आई, ताड़ितशक्ति के परिमापक सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिसाबी यन्त्र द्वारा। अब इसी बात को स्मरण रखते हुए गङ्गाजल लेकर परीक्षा करके देखनी होगी, उसमें radio-activity है या नहीं, यदि है तो वही उस (जल) की कीटाणुध्वंसशक्ति का मूल है या नहीं। पश्चिम में इस प्रकार के शौकिया अड्डों पर पानी, मिट्टी लेकर परीक्षा करने में Sir J. J. Thomson जैसे वैज्ञानिक भी लजाते या झिझकते नहीं! और हम लोग गङ्गाजल लेकर उसकी परीक्षा करने का प्रसङ्ग मात्र उठावें तो उससे 'कुसंस्कारी हो गये, ब्राह्मणता मिट गई या भ्रष्ट हो गई' यह बात जो लोग कहते हैं उनके कन्धे पर जो विलायती भूत चिपका बैठा है, वह गङ्गाजी का नाम लेने से छोड़कर भागा नहीं—इसीलिए पहले ही खास श्वेतद्वीप (विदेश) के बाथ व वाक्सटन नामक स्थानों का तीर्थोदक छिड़ककर इनका भूत भगाने की व्यवस्था करनी पड़ रही है।

अस्तु, वह जो भी हो, अणुवीक्षण यन्त्र के हार मान लेने पर ही परीक्षा छोड़ देनी होगी ऐसा नहीं है, उससे भी अधिक सूक्ष्म यन्त्रों की सहायता से, प्रकृष्टतर उपाय द्वारा परीक्षा चालू रखनी होगी। जैसा कि Radio-active bodies के विषय में आजकल हुआ है। पुन:, electric method तक जहाँ हार गये वहाँ पर हम 'परीक्षा की चरम सीमा हो गई' यह कहकर छोड़ देंगे क्या? यहाँ विज्ञानागार से बाहर निकलकर सिद्धाश्रम की ओर यात्रा करें या नहीं, यह बात हमें विशेष रूप से सोच

होगी। सिद्धाश्रम का अर्थ ही है ढोंग, चालाकी, पुराने अन्धविश्वासी विचारों का अड्डा—यह निर्णय करके जो निश्चिन्त हैं, उनसे हमारा लेन-देन नहीं है। दूसरी ओर सिद्धाश्रम होने भर से ही वह ब्रह्मलोक, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता की भूमि है ऐसा जो सोच रहे हैं, उनके साथ भी हमारा कोई कारोबार नहीं है। अध्यात्मविज्ञान नाम की कोई वस्तु यदि सचमुच ही कुछ हो, तो उसका प्रामाण्य कैसा व कितना है, उसकी दौड़ कहाँ तक है—इसकी भलीभाँति परीक्षा करके हमें निष्पत्ति या निर्णय कर लेना है। जहाँ वैज्ञानिक यन्त्र हार मान गये हैं, वहाँ संयम अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि तत्त्वनिर्णय करेंगे ? करते हैं या नहीं, इसे जाँचने के लिए परीक्षा की अपेक्षा है। सिद्धाश्रम वह कर चुका है ऐसा दावा कर रहा है। बिना विचारे उस दावे को मान लेने का परामर्श हम तुम्हें नहीं देते। किन्तु बिना विचारे उसे अग्राह्य ही कर दोगे किस व्यवस्था के बल से ? कहने का अभिप्राय यही है कि विज्ञानागार के ऊपर एक सिद्धाश्रम भी रह ही सकता है। वैज्ञानिक प्रत्यक्ष की भी जाँच कर लेने लायक एक प्रकृष्टतर अभिज्ञता रहना सम्भव हो सकता है; इस बात को 'गोल दीघी'[७] पर खड़ा होकर कहता तो मेरे श्रोतागण सह सकते या नहीं—यह नहीं कह सकता। किन्तु इस तत्त्वविद्या-समिति के भवन में मञ्च पर चढ़कर चारों ओर से 'महात्माओं' की आश्वास-दृष्टि की छाया में यह बात कहने में मुझे संकोच नहीं हुआ। अन्त तक देखा कि वेद की वैज्ञानिक आलोचना नितान्त सहज नहीं, व निरापद नहीं। तब भी, नितान्त दुष्ट सरस्वती यदि माथे पर न चढ़ी हों (मस्तिष्क दूषित न हो) तो यह आलोचना नेत्रों में ज्ञानाञ्जन का लेप तो कर ही देती है—आँखें ढँक नहीं देती, इन्द्रजाल से चौंधिया नहीं देती। धूल नहीं झोंकती। प्राणों में अभय ही ला देती है, संशय व अविश्वास से पीड़ित व अवसन्न नहीं कर देती। हमने वेद के साथ विज्ञान का जैसा सम्बन्ध बैठाने की चेष्टा की, वैसा यदि न हो तो शायद जटिलता बढ़कर और भी पक्की हो जाती। वेदपन्थी में अन्धभक्ति है एवं वह भयानक है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु विज्ञान-नवीसों में कट्टरपना नहीं है ऐसा नहीं, और वह कट्टरता साक्षात् 'बुद्धिभ्रंश' है—जिसके होने पर गीता कहती है—'प्रणश्यति'।[८]

आधुनिक विज्ञान का महातीर्थ है पश्चिम देश। वहाँ के तीर्थ के पण्डे कोई बहुत बुरे लोग नहीं हैं। उनकी प्रवृत्ति है नई दिशा से, नई दृष्टि से विचार करने की—आवश्यकता पड़े तो पहली धारणा, संस्कार-परम्परा को हठात् तोड़ डालने का, या नये ढंग में सजा लेने का साहस भी है। उस देश में वेद नाम भले न दिया हुआ हो, वस्तुतः मानव के प्राचीन ज्ञान-विश्वास आदि की (वह भूत-प्रेत के सम्बन्ध में हो या अध्यात्मशक्ति हो) एक सचमुच की परीक्षा करने का खूब माहौल बना हुआ है। किन्तु उन पण्डामहाशयों के इस देश में रहनेवाले 'छड़ीदार पुङ्गवों'

(रोबीले प्रतिनिधियों) पर हमारा कोई वश है क्या ? ये लोग विज्ञान के नाम पर कमर-कसे कितनी व्यर्थ अंधाधुन्ध उलट-फेर (अनर्थ) करते रहते हैं। इस अंधेर को रोकने के लिए उनके विज्ञान-दुर्योधन के ऊरु (जंघा) दिखाये बिना हमारा काम नहीं चलेगा। मैक, पोंयाकार आदि जिनका नाम पहले ही कहा जा चुका है, उन्हें उस ऊरु की भङ्गुरता का पता अच्छी तरह है, एवं सावधान होकर बात कहते हैं। न्यूटन का मानसपुत्र जो Dynamical science है, उसका ऊरु इसी बीच आइन्स्टाइन की गदा से टूट चुका है। किन्तु न्यूटन में शायद इतनी बड़ी मनीषा थी कि आइन्स्टाइन को आमने-सामने पाने पर उसके समस्त पाण्डित्याभिमान को वे खेल ही खेल में चूर्ण कर दे सकते थे। इस रहस्य को फिर कभी जरा खोलकर कहना होगा।

अन्तिम बात, पुनः लौटकर उपनिषदों के उन दिनों की ओर ताकते हैं, जब परीक्षा द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार न कर लेने तक कोई स्वयं को चरितार्थ न समझता था। परीक्षा विज्ञानागार में जितनी सो चल सकती है, चले; सिद्धाश्रम में जाकर जहाँ तक परिसमाप्त हो सकती है वह भी हो। हमें अब ज्ञानविशिष्ट विश्वास, अभय एवं साधना को एकनिष्ठ व सुस्थिर करने के लिये प्राचीन वेदों के साथ नवीन वेद व विज्ञान की सन्धि करने की बहुत ही आवश्यकता है। यह सन्धि (समझौता) न हो तो पुरातन में हमारी श्रद्धा व आस्था न रहेगी, नवीन में भी अनुराग व अध्यवसाय न होगा। परीक्षा के जैसी परीक्षा (सच्ची परीक्षा) होने पर तो—**"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"**

[इस धर्म का थोड़ा सा भी पालन महान् भय से रक्षा करता है।—भगवद्-गीता २।४०]

तीन

विज्ञान की सीमा : तपोवन और विज्ञान की परस्पर पूरकता

वेद व विज्ञान के सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता कहाँ है, एवं किस उद्देश्य से उस सम्बन्ध में विचार करना होगा, इसे हमने मोटा-मोटी पिछली वक्तृता में देखा है। इस संशय व नास्तिकता के युग में, हममें से बहुत से, अनभिज्ञ होने पर भी विज्ञान की बातों में आस्था रखते हैं। यहाँ तक कि हमारी आस्था की मात्रा बहुत बार चढ़कर विज्ञान की अन्धभक्ति नाम की एक अद्भुत व्याधि को उत्पन्न करती है। विज्ञानागार में घुसते ही देखने में आता है कि विज्ञान अपनी बहुत सी बातों को हाथों-हाथ जाँचकर खूब निःसंशय रूप से प्रमाणित कर देता है। दो निराकार गैसें साकार जल बन जाती हैं यह बात हमारी बुद्धि में भले न बैठे, पर परीक्षा द्वारा प्रत्यक्ष होने पर समझना अनिवार्य हो जाता है। चुम्बक की शक्तिरेखाओं (lines of force) का एक नक्शा वैज्ञानिक हमें दिखा चुके हैं। मैंने देखकर प्रश्न किया—"यह नक्शा सचमुच ही चुम्बक का शक्तिसमावेश दिखा रहा है यह क्यों मानूं ?" वैज्ञानिक ने प्रश्न सुनकर कोई तर्क नहीं भिड़ा दिया। मुझे परीक्षागार में बुला ले गये, एक कागज पर कुछ लोहे का चूरा बिखराकर एक यन्त्र की सहायता से दिखा दिया कि उनका नक्शा स्व-कपोल-कल्पित नहीं है। Xray नाम की रश्मि हमारे शरीर के भीतर के अस्थि-संस्थान तक को स्पष्ट दिखा दे सकती है, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हम चिकित्सा-विद्यालय के परीक्षागार में पाते ही हैं। यह सब देख-सुनकर हम विज्ञान के आगे सिर नहीं उठा सकते। दो-एक परीक्षायें देखकर ही उसकी सब बातें मान लेने लगते हैं। इसमें कुछ भूल है। सभी परीक्षाओं को एकजातीय समझ लेने में हम भूल करते हैं। विज्ञान की बहुत सी परीक्षाओं का फल-अफल एक प्रकार से प्रतिष्ठित हुआ है, यह समझें तो उतना दोष नहीं है, किन्तु बहुत सी परीक्षाओं का फलाफल अब तक अव्यवस्थित है, अथच उस विषय में बात-चीत, मतवाद खूब चल रहे हैं। पुनः एक ऐसा स्थल है जहाँ बातों का परस्पर खण्डन, विभिन्न मतवादों की झड़ी ही अधिक है; किन्तु उन स्थलों पर हाथों-हाथ परीक्षा अभी भी विशेष कुछ नहीं हुई हैं, अथवा की नहीं जा सकी है। पिता-माता के स्वोपार्जित धर्मों (acquired characters) को सन्तान उत्तराधिकार में पायेगी या नहीं; मैंने बहुत पढ़ाई-लिखाई करके आँखें खो-सी दीं, मेरी सन्तान कृपण-दृष्टिशक्तिवाली उत्पन्न होगी क्या ?—इन सब बातों को लेकर 'Weismann' साहब ने राय दी है—"नहीं, ठीक स्वोपार्जित धर्म सन्तान में संक्रमित

नहीं होते।" किन्तु उनकी परीक्षा को अब भी सबने मान नहीं लिया है। परीक्षा अभी भी चल रही है, एवं विभिन्न परीक्षकों के फलाफल में भी कुछ न कुछ कमी-बेशी, अन्तर आ रहा है। अन्त में हो सकता है Weismann साहब की बात टिक भी जाय; पर अभी भी संशय बहुत है।

एक व्यक्ति की परीक्षा को दूसरे की परीक्षा रद्द कर दे रही है। पहली परीक्षा बाद की परीक्षा द्वारा संशोधित हो रही है। बोतल में थोड़ा सा पानी खूब अच्छी तरह उबालकर डाला, फिर कस के काक, डॉट लगाकर रखकर किसीने देखा। कुछ समय बाद पानी में बहुत सूक्ष्म सजीव पदार्थ अपने-आप ही उत्पन्न होकर दिखाई दिये। इससे उस व्यक्ति ने सिद्धान्त बनाया कि जड़ पदार्थ से सजीव पदार्थ की स्वाभाविक उत्पत्ति (spontaneous generation) हो सकती है। किन्तु फिर अन्य किसीने उसी परीक्षा को अधिकतर सावधानता के साथ करके देखा कि बोतल के पानी में और कुछ नहीं उत्पन्न होता, यदि बाहर की वायु आदि के साथ उस जल का सम्पर्क न रहे। बहुत से दृष्टान्तों की आवश्यकता नहीं। कुछ-एक मोटी बातें भूल जाने पर ही हम विज्ञान के अन्ध स्तावक या कट्टर भक्त बन बैठते हैं। वस्तुतः हाल की यह प्रकृतिविद्या मायाविनी अपरा विद्या है। उसके अजब कारोबार में कुछ न कुछ निशाना लग ही जाता है। Poulet Ross Smith[७६] विमान में चढ़कर आकाश-मार्ग से पृथ्वी के किसी प्रान्त से हमारे शहर के ऊपर आ गये; हमने तो सारा जीवन पदयात्रा में, किरानीगिरी करते-करते, वसुन्धरा के 'वसु' का परिचय धूल-कीचड़ में ही पाया; रामायण-महाभारत के उस पुष्पक रथ, कपिध्वज रथ आदि की बात सुनकर विश्वास नहीं किया; और आज जब सचमुच ही आकाश-पोत पंख फैलाये हमारे सिर के ऊपर उड़ान भरता है तो हमारे अवाक् होने की ही बात है। विज्ञान के ये सब इन्द्रजाल देखकर हम लोग अभिभूत हो जाते हैं। और भी, विज्ञानागार में एक-आध बार घुसकर हाथों-हाथ परीक्षा के जो दो-एक फलाफल देख लिये हैं, उनसे विश्वास और भी दृढ़ हो गया है। विज्ञान या science की बात सुनने पर सिर हिलाने का अब साहस नहीं होता। किन्तु यह जो विश्वास का बढ़ते जाना है यह एक मोह ही है। यह मोह जमकर थक्का बँध जायेगा तो मानवात्मा का स्वास्थ्य व कल्याण नहीं है।

क्यों विज्ञान के साक्ष्य को चरम साक्ष्य कहकर स्वीकार नहीं किया जा सकता, इसका एक निदान पहली एक वक्तृता में देने की चेष्टा हमने की है। संक्षेप में गिनती की दो-तीन बातों में ही विज्ञान की अप्रतिष्ठा व अव्यवस्था का एक निदान हम खोज पाते हैं। प्रधानतः, विज्ञान जिस यन्त्रराशि को लेकर परीक्षा करता है वे सम्पूर्ण रूप से विशुद्ध व चरम नहीं हैं। दूसरी बात यह कि जिन व्यक्तियों द्वारा वैज्ञानिक परीक्षायें हुआ करती हैं, वे साधारणतः पक्षपात-रहित, राग-द्वेषादि के संस्पर्श से रहित नहीं हैं;

अथच परीक्षा को विशुद्ध होने के लिए परीक्षक को पक्षपातरहित होना ही चाहिए। तीसरी बात यह कि परीक्षा के फल के ऊपर निर्भर रहकर जो व्याख्यायें व मतवाद गढ़ लिये जाते हैं उनमें विश्लेषण-दोष, विचार-दोष आदि थोड़ा-बहुत रहने की सम्भावना रहती ही है, इसीलिए माल-मसाला पहले दर्जे का होने पर भी गढ़ने के दोष से इमारत पक्की नहीं बन पाती। एक ही सामग्री लेकर कोई गढ़ रहा है शिव, कोई गढ़ रहा है बन्दर। डार्विन[७७] व 'वेल्स' दोनों ही समसामयिक वैज्ञानिक धुरन्धर हैं। पर्यवेक्षण व परीक्षा के द्वारा लब्ध तथ्य दोनों के ही प्रायः एक जैसे हैं; साधारणतः दोनों के मतवाद में मेल है। किन्तु मानव का पूर्व-पुरुष खोजने जाकर एक किष्किन्धा[७८] में हाजिर हो गये, दूसरे ने सभी प्रमाणों का निगमन देखा बाइबिल के उस महावाक्य में—'भगवान् ने मनुष्य की सृष्टि अपने अनुरूप की है।'

प्रधान रूप से इन्हीं तीन कारणों से विज्ञान का आयतन शिथिल व भङ्गुर है। केवल यह ऊपरी इमारत ही भङ्गुर है ऐसा नहीं, उसकी बुनियाद भी बहुत सुस्थिर नहीं है। उस दिन मैंने कहा था कि न्यूटन का मानसपुत्र गतिविज्ञान (Dynamics) दुर्योधन के समान पिछली दो-तीन शताब्दी से कितनी डींग हाँक रहा था, किन्तु आइन्स्टाइन आदि के गदा-प्रहार से अब उसका ऊरुभङ्ग हो गया है। जिस मापदण्ड की सहायता से इतने दिन हम प्रकृति का हिसाब ले रहे थे, उस माप में ही अब भूल पकड़ में आई है, उस भूल को न हटा लेने तक हमारा हिसाब ठीक नहीं होगा। न्यूटन, लॉग्राञ्ज के शिष्य लोग जान-बूझकर इतने दिन जूआ-चोरी (प्रवञ्चन) करते आ रहे थे ऐसा नहीं है, नये कुछ आविष्कार व परीक्षाओं—जो न्यूटन के समय शायद कतई सम्भव न थे—ने हमें भूल पकड़ने का सुयोग दिया है। अभिज्ञ व्यक्ति यहाँ इशारे से समझ लेंगे कि मैं किन परीक्षाओं की ओर इङ्गित कर रहा हूँ। वे हैं—मॅलि-निकल्सन-एक्सपेरिमेन्ट, लॉरेन्ज-फ़िट्-जिरॉल्ड-एक्सपेरिमेन्ट, ब्रेस-बाली एक्स०[७९] आदि। खैर, जो भी हो, यह आखिरी बात बहुत बड़ी होने पर भी आज इसकी और आलोचना में प्रवृत्त न होंगे। कहना यही है कि इन सब कारणों से विज्ञान की अन्धभक्ति बिल्कुल नहीं जँचती। 'विज्ञान' नाम सुनने भर से हमें भय व विस्मय से अवाक् होने के कोई भी कारण नहीं हैं।

दूसरी ओर, उस दिन सिद्धाश्रम की अन्धभक्ति की बात भी मैंने कही थी। जो लोग वास्तव में सिद्धाश्रम के आश्रमी हैं उनमें यह अन्धभक्ति न रहने की ही बात है; जैसे कि जो विज्ञान-महातीर्थ के बड़े-बड़े पण्डे हैं, उनमें सङ्कीर्णता व अभिमान कम ही देखा जाता है, किन्तु एक ओर विज्ञान के 'छड़ीदार' महाशय जैसा दल बाँधकर भ्रम फैलाये रहते हैं, वैसे ही दूसरी ओर साधन के क्षेत्र में भी चेले और

महाराज लोग सत्य की सरलता व उदारता की बात भूलकर अधिकतर कूपमण्डूक बन बैठते हैं। आसन पर बैठकर अपने हाथ से नाक-कान मलने से ही तत्क्षण ब्रह्मदर्शी हो गये, छपे अक्षरों में जो भी पढ़ते हैं वही अभ्रान्त वेदवाक्य है,—ऐसे एक प्रकार के भीषण अन्धतामिस्र ने हममें से बहुतों को अभिभूत कर रखा है। इससे भी परित्राण चाहिये। परित्राण के लिए तर्क की झोली में घुस बैठने से काम नहीं चलेगा। परीक्षा व साधना चाहिये। विज्ञान स्वयं अप्रतिष्ठित व असिद्ध होने पर भी परीक्षामूलक होने से ही बहुत बार, साक्षात् सम्बन्ध से न सही, आभास या इङ्गित से ही सत्य का सूत्र हमें पकड़ा दिया करता है। विशेष रूप से जहाँ संशय व क्लैब्य आकर अर्जुन के समान हम लोगों को घेरकर विनाश की ओर खींच ले जाना चाहता है, वहाँ विज्ञान का दिया सूत्र पकड़कर हम सत्यस्वरूप श्रीभगवान् का विश्वरूप देखने के समान क्रमशः भूमि पर उतर सकते हैं तथा इसीके फलस्वरूप 'छिन्नसंशय' एवं 'विगतज्वर' हो सकते हैं। अर्जुन ने स्वय भगवान् के मुख से कितना सांख्ययोग, भक्तियोग इत्यादि सुना, किन्तु पूर्णरूप से छिन्नसंशय नहीं हो सके—जब तक कि भगवान् का विश्वरूप नहीं देखा। यह देखना या अपरोक्ष ज्ञान न आने तक जीव को सुस्थिरता नहीं है।

विज्ञान भी सत्य को भूमा रूप से न सही, अल्प रूप से तो दिखा ही रहा है। कुछ भी न देखने की अपेक्षा ऐसे (अल्प) देखने का भी लाभ है। जिस किसी तरह भी हो, देख-सुनकर परीक्षा कर लेने का एक नशा जीवन में आ जाने पर धीरे-धीरे कुछ भी आना बाकी नहीं रहेगा। जो वैज्ञानिक प्रायः सारा जीवन जड़तत्त्व लेकर परीक्षा व गवेषणा में बिता चुके हैं—अचानक वृद्धावस्था में उनके विज्ञानागार के द्वार पर दो-एक अध्यात्म-तत्त्व छिटक पड़ें तो वे निश्चिन्त भी नहीं रह सकेंगे और अति-विज्ञ के समान चुटकियों में उड़ा भी नहीं सकेंगे। उनके चिर-परिचित जड़-राज्य में जिस कठोर परीक्षा की व्यवस्था उन्हें चलानी पड़ी है, उस व्यवस्था के अनुसार ही उन्हें नवीन अतिथि को अपने ज्ञान-विश्वास के इलाके में दाखिल कर लेने में प्रयास (कठिनाई या परिश्रम) पड़ता है। और जब तक वैसा न कर लें उनकी आँखों में नींद नहीं आती। इसीको कहते हैं देखने का नशा। Sir Oliver Lodge, Sir William Crooks और भी कितने ही इसी नशे में पागल हैं। विज्ञानागार के खिड़की-दरवाजे खूब अच्छी तरह बन्द करके जो गैस के धुएँ में समाधि लेंगे, इसी आशा से ही जो टेस्ट ट्यूब को नाक में फँसाये बैठे हैं, उनकी सिद्धि अवश्य ही उनके भाव के अनुरूप होगी। किन्तु जिन्होंने खिड़की-दरवाजों में थोड़ी फाँक रखी है, वे दैवात् दो-एक नये अतिथियों को अतर्कित रूप से द्वार पर आ धमकते हुए देखते हैं। पश्चिम देशों में ये नये अतिथि आजकल Psychic Research व Spiritualism आदि हैं। किन्तु, जैसा कि कह चुका हूँ, नया कुछ आते ही उसको बिना परीक्षा व बिना विचार किये उपादेय या

हेय मान लेना पाश्चात्य विज्ञानागारों का दस्तूर नहीं है। इसीलिये वहाँ सभी–प्राचीन, अर्वाचीन सभी बातों–को टिकट दिखाकर गेटपास लेकर भीतर घुसना होता है। साध्य की ओर झूठ-मूठ हिसाब मिलाना वहाँ नहीं चलता। यह जो अपरोक्ष अनुभूति के लिये तीव्र स्पृहा व प्राण-पन से साधना की आकांक्षा है यह कम बड़ी बात नहीं है— उस अपरोक्ष अनुभूति का लक्ष्य व विषय आपाततः जो भी हो। विषय यदि आपाततः पहले तुच्छ भी हो, तब भी यह स्पृहा व साधना कभी एकदम मोड़ ले सकें तो इन्हें निखिल अभ्युदय व साक्षात् निःश्रेयस् का उपाय बना लेने में कोई बहुत आयास नहीं होगा।

विज्ञान के सिद्धान्तों के लिये उसका आदर जितना सा किया जाय या न भी किया जाय, उसकी जिज्ञासा तथा अनुसन्धित्सा का आदर तो हमें करना ही होगा। हममें से बहुतों में इस जिज्ञासा व अनुसन्धित्सा का बहुत अभाव दिखाई देता है। अथ च भीतर वेद व शास्त्र आदि के विषय में संशय का कोई आदि-अन्त नहीं है। भाव के घर में चोरी करते हुए, भले ही हम मुँह से सम्मति देते जा रहे हैं, तब भी हमारा साधन-भजन, उद्योग-अनुष्ठान, काम-काज इतना शिथिल, पङ्गु, अशोभन हो गया है कि भाव के घर की चोरी अब ढककर नहीं रखी जा सकती।

इस बात को दृष्टान्त देकर और खोलना (फेनाना) होगा क्या ? जो गतानुगतिक भाव से हाँ में हाँ मिलाते जा रहे हैं, काम-काज में भी विधि व निषेध थोड़ा-बहुत मानते जा रहे हैं, उनके भी भीतर अविश्वास, संशय गाढ़ हो उठ रहा है, काय-मन-वाक्य में एक सामञ्जस्य बैठा लेने का बल व साहस इनमें नहीं है। दूसरी ओर जो मुँह से हामी भी नहीं भरते, काम-काज में भी शास्त्र का शासन नहीं मानते, उनका भी रोग है दुर्बलता व अवसाद। जिज्ञासा व परीक्षा किसी ओर भी नहीं है। आस्तिक भी आँख-कान बन्द करके चल रहे हैं, नास्तिक भी। अवश्य ही नास्तिक महाशय कुछ वाचाल अधिक हैं— यही अन्तर है। असली बात यह कि इस प्रकार का आस्तिक या नास्तिक हो रहने की अपेक्षा मर जाना अच्छा है। हमारी वर्तमान वेद व विज्ञान की आलोचना का उद्देश्य है—इस रोग का एक प्रतीकार खोजना। कालापानी न हो आने तक आजकल किसी भी वस्तु की कदर हमें नहीं होती। इसीलिये इन आलोचनाओं में यदि हम प्राचीन वेद, पुराण, तन्त्र आदि को कम से कम एक समस्या (Problem) के समान भी पश्चिम के वैज्ञानिकों की परीक्षा के भीतर ला सकें, तो वे प्राचीन घरेलू वस्तुएँ हमारे लिये भी बहुत कुछ आदरणीय हो सकती हैं।

तन्त्र का नाम सुनकर नाक सिकोड़ना हम लोगों में एक फैशन बन गया था, किन्तु, बन्धुवर Sir John Woodroff तन्त्र को ऐसी सज्जा से हमारे सामने लाये कि उसे

अपना बनाकर घर में वरण कर लेने में हममें से बहुत लोग फिर से गौरव समझने लगे हैं। परीक्षा के उपयोगी विषय हों तो हम या तो कुछ भी न करके चुपचाप बैठ रहते हैं, या फिर सब कुछ जाननेवाले बनकर उसे हँसी में उड़ा देने की चेष्टा करते हैं। किन्तु पश्चिम का चलन और ढंग का है। गङ्गाजल में radio-activity है या नहीं इस प्रश्न में दोनों ही पक्षों का कोई इष्ट-अनिष्ट नहीं है, अथ च कोई यह प्रश्न उठाये तो समाधान कुछ भी हो, उसके लिये जरा भी चिन्तित न होकर या तो कान में अङ्गुली डाल लेते हैं, नहीं तो हँसकर उड़ा देते हैं। जो आस्तिक्य में बड़ाई मानते हैं उन्हें भय रहता है कि यह प्रश्न लेकर विवेचना करने से मानो पतितपावनी गङ्गाजी की पवित्रता घट जायेगी। और जो कुछ प्रकाश में आ गये हैं, उनकी असहिष्णुता का हेतु है—"जगत् में इतने तरह के काम पड़े हुए हैं उन्हें छोड़कर कहाँ गङ्गाजल में घोड़े का अण्डा पड़ा हुआ है, उसीको ढूंढ़ने फिरते हैं।" किन्तु पश्चिम के पण्डित इन दस-बीस वर्षों के भीतर radio-activity की खोज में जल, मिट्टी, वायु आदि भूतों को लेकर अत्यन्त व्यस्त रहे हैं। लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिक Sir J. J. Thomson अपने "Electricity and Matter" नामक ग्रन्थ में कहते हैं :—"These radio-active substances are not confined to rare minerals. I have lately found that many specimens of water from deep wells contain a radio-active gas. Elastea and Geitel have found that a similar gas is contained in the soil." अर्थात् "कुछ एक पदार्थों में ही रेडियो क्रिया सीमित होकर आबद्ध है, ऐसा नहीं है। मैंने स्वयं कई प्रकार के जल में इस शक्ति का परिचय पाया है। दूसरों ने मिट्टी में भी इस शक्ति को देखा है। Rutherford साहब इस अभिनव बिज्ञान के एक प्रधान ऋषि हैं। उन्होंने अपने Radio-activity नामक ग्रन्थ में (५११ पृ॰) सर जे॰ जे॰ टॉम्सन की उक्त परीक्षा का उल्लेख करते हुए लिखा है—"This led to an examination of the waters from deep wells in various parts of England and J. J. Thomson found that in some cases, large amount of emanation could be obtained from the well-water." बाद में Adam साहब ने कुएँ का जल लेकर और भी विशेष रूप से परीक्षा की है। रादरफोर्ड साहब की भाषा में परीक्षा का फल यह समझा जा सकता है—'Thus it is probable that the well water in addition to the emanations mixed with it, has also a slight amount of a permanent radio-active substance dissolved in it." इसीलिये देख पाते हैं कि पश्चिम के पण्डित स्थान-स्थान पर मिट्टी, जल, वायु आदि लेकर परीक्षा में प्रवृत्त होना दूसरे का काम नहीं समझते।

रादरफोर्ड साहब के उक्त प्रामाणिक ग्रन्थ में एक बहुत वड़ा अध्याय है—'Radio-activity of the atmosphere and of other elements.' इसमें कितने लोगों की कितनी ही परीक्षाओं के फलाफल की बात उल्लिखित व आलोचित हुई है। हम यदि अपने देश के नदी-नाला, पहाड़-मैदान आदि स्थानों में उस प्रकार की परीक्षाएँ आरम्भ कर दें तो क्या बिल्कुल सर्वनाश हो जायेगा ? भले ही वह हिन्दुओं के आराध्य नद-नदी का जल हो अथवा अभीष्ट तीर्थस्थानों की पवित्र भूमि हो। पश्चिम देश की परीक्षा के फलस्वरूप विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार की radio-activity या तड़ित्-रेणु-विकिरणशक्ति देखने में आई है। हमारे देश में भी विल्सन-होटल एवं विश्वेश्वर का मन्दिर इन दो स्थानों में यदि उस शक्ति का तारतम्य देख पायें तो उसमें मनस्ताप या विस्मय करने का कुछ है क्या ? असली कहना यही है कि निरपेक्ष रूप से परीक्षा करके देखना चाहिये। परीक्षा का फलाफल जो भी हो, उसके लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। मान लो, परीक्षा के फल में पाया कि कुएँ के जल के समान गङ्गाजल में भी वह शक्ति है। तब प्रश्न उठेगा कि वह शक्ति रहने न रहने का उस जल की पवित्रता से कोई सम्पर्क है क्या ? उस शक्ति का रहना क्या जल को विशेष-गुण-सम्पन्न कर देता है जिससे कि वह जल आदरणीय हो जाता है ? जिस पदार्थ के अणुओं (atoms) में एक विप्लव, जोड़-तोड़ चल रही है, जिस पदार्थ के भीतर से अणु से भी सूक्ष्मतर अणुओं के दानों जैसे तड़ित्-कण प्रबल वेग से छिटककर वाहर आ रहे हैं, उसी पदार्थ को आधुनिक विज्ञान की भाषा मे radio-active कहा जाता है। वेद के जड़ तत्त्व की आलोचना करने जाकर इसकी बात हमें विशेष रूप से कहनी होगी। आपाततः प्रश्न यह है कि गङ्गाजल यदि उक्त लक्षण से विशिष्ट हो भी तो क्या आया-गया ? गङ्गा का माहात्म्य बढ़ने या घटने की सम्भावना कहाँ से आई ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए धैर्यपूर्वक चेष्टा करनी होगी। प्रश्न बिल्कुल व्यर्थ नहीं भी हो सकता है। Sir J. J. Thomson का गहरे कुएँ के जल में इस शक्ति का आविष्कार अवान्तर व्यापार कहकर उड़ा देने का नहीं है।

रेडियो एक्टिव पदार्थ अक्षय ताप के भण्डार हैं, इसे परीक्षा में देखा गया है। सामान्य एक टुकड़ा रेडियम इतना ताप छिटका सकता है जिसे सोचने पर विस्मय होगा। वैज्ञानिक उसके भीतर ताप उत्पन्न होने की एक व्याख्या भी दिया करते हैं। किन्तु व्याख्या कुछ भी हो, बात सच्ची है। अब, यह रेडियम दुर्वासा मुनि की तरह गरम ही है, इसे स्मरण रखें तो हमारी पृथ्वी की आयु-निरूपण-समस्या में एक नया आलोक जैसा मिला है ऐसा प्रतीत होता है। हमारी पृथ्वी की भीतरी सतहें क्रमशः नीचे-नीचे अधिक गरम हो गई हैं। इससे अनुमान होता है कि पृथ्वी किसी समय भीतर-बाहर खूब गरम थी; अब क्रमशः बाहर ठण्डी हो गई है, पर भीतर की ज्वाला

अभी भी बुझी नहीं। ताप-विकिरण (radiation) की धारा के अनुसार इस प्रकार बाहर ठण्डा व भीतर गरम रहने में कितने करोड़ वर्ष लगे हैं, उसे प्रसिद्ध लॉर्ड केल्विन ने गिना था। किन्तु पृथ्वी की गम्भीरतर सतहों में यदि यथेष्ट परिमाण में रेडियम-जातीय पदार्थ विद्यमान हों तो पृथ्वी के ताप की उत्पत्ति व परिणति की व्याख्या अन्य प्रकार की हो जा सकती है; कम-से-कम केल्विन साहब की गणित की लेख-पुस्तिका बहुत कुछ सुधारनी पड़ सकती है। अथक भाव से व प्रचुर परिमाण में ताप एकत्र करने का भार यदि पृथ्वी के गर्भ में स्थित रेडियम ने ग्रहण किया हो, या कम-से-कम आंशिक रूप में ही वैसा किया हो, तो पृथ्वी की आयु का आनुमानिक इतिहास शायद हमें फिर से ढालकर गढ़ना होगा। पहले गरम वस्तु क्रमशः ठण्डी होते-होते वर्तमान अवस्था में आई है—ऐसा ठीक (निश्चित) कुछ-एक करोड़ वर्षों के मध्य ही नहीं भी हो सकता है। पृथ्वी के गर्भ में radio-activity नामक जो यज्ञाग्नि निरन्तर जल रही है, उसी-ने शायद पृथ्वी को ऐसा—बाहर ठण्डा, भीतर गरम बहुत समय से बना रखा है। तात्पर्य यह कि यह यज्ञ जब पृथ्वी के भीतर ताप के उत्पादन का एक मुख्य कारण है, तब इसे छोड़कर पृथ्वी का इतिहास गढ़ने जायें तो भूल होगी ही, और लार्ड केल्विन से वह भूल सम्भवतः हुई भी थी।

गहरे कुएँ के जल में सचमुच ही radio-activity पकड़ी जाकर उक्त बातों को कल्पना-जल्पना में से खींचकर निश्चय कोटि के आसपास बहुत दूर तक नहीं ले आती है क्या ? पृथ्वी के स्तरों में radio-active पदार्थ प्रचुर परिमाण में रहें तो रह सकते हैं, एवं वही पृथ्वी के अन्तर्दाह (Plutonic-energy) का एक मुख्य कारण है—इस बात में अब हम कुछ भी विस्मयजनक नहीं देखते। इसलिए परीक्षा सामान्य विषय को लेकर होने पर भी, उसके फल का मूल्य असामान्य हो सकता है। गङ्गाजल लेकर परीक्षा करने को इसी कारण तुच्छ या अनादरणीय समझना अच्छा न होगा। वायुशून्य काँच के पात्र के बीच बिजली लेकर रंग-बिरङ्गे खेल करना किसी समय विज्ञानागार में एक कौतुक की बात थी, किन्तु अब यह कहने से शायद अत्युक्ति न होगी कि बीसवीं शताब्दी के नवीन पदार्थविज्ञान ने ही इसी निर्वात (वायुरहित) कल्पपुरी में एक प्रकार से जन्म लिया है। विशेषज्ञों को यह रहस्य मालूम है और स्वयं radio-activity की गरिमा की भी तो सीमा नहीं है। आजकल के वैज्ञानिकों ने-जड़तत्त्व के रहस्य को प्रकट किया है—उसकी मर्मकथा सुनाई है हमें इस रेडियम ने। यह न आता तो जड़ का कुहक (रहस्य; भेद) हमारे लिए इतनी जल्दी न टूटता; हम न पहचान पाते कि जिसे बहुधा जड़रूप में देख रहे हैं, वह मूलतः आकाश में शक्ति की विचित्र क्रीड़ा है और कुछ नहीं। इसीलिए परीक्षा छोटी वस्तु को लेकर होने पर भी उपेक्षणीय नहीं है।

सबसे पहले, जिज्ञासा व परीक्षा का आग्रह फिर से, नवीन रूप से हमारी मूर्च्छित जातीय-प्रकृति में से जगा लेने के लिए आवश्यक है परीक्षा। वह गङ्गाजल लेकर हो, चाहे गोवर लेकर हो। परीक्षा विना ही, किसी अन्दाजी बात को लेकर आलोचना हमारे देश में चली है उसीको नाम देते हैं गवेषणा; एवं उसको जिन्होंने सड़ा गोबर कहकर फेंक दिया था उन्होंने कोई बहुत बुरा नहीं किया। किन्तु मैं जिस जाति (प्रकार) की परीक्षा व गवेषणा का आह्वान कर रहा हूँ, वह प्राचीनकाल में इस देश में थी, किन्तु अब कम-से-कम हम जैसे शिक्षिताभिमानी लोगों के लिये वह भयावह हो उठी है। एक चाय के प्याले में आँधी-तूफान उठाकर अब हम सभी विषयों में किला फतह कर लेना चाहते हैं; किन्तु शुद्ध चालाकी के जोर पर परीक्षा की जाति बड़ी हो जायेगी क्या?

एक ओर जैसे हमें विश्वास पैदा करने के लिए विज्ञानागार में प्रवेश करना चाहिये, वैसे ही दूसरी ओर विज्ञान की कट्टरता तोड़कर उसकी दृष्टि को प्रसारित, निर्मल व असङ्कुचित बनाने के लिये सिद्धाश्रम में भी जाने की आवश्यकता है। यह बात हम पहले ही हेतुवाद (कारण-विषयक युक्ति-प्रत्युक्ति) दिखाते हुए समझा चुके हैं। बहुत सी बातों की परीक्षा विज्ञानागार में सम्भव न होगी। उनकी परीक्षा के लिये तपोवन की यात्रा आवश्यक रहेगी। हमारी इस चर्चा के प्रसङ्ग में हम क्रमशः इस आवश्यकता को देख पायेंगे।

विश्वास उत्पन्न करने के लिये विज्ञानागार में घुसने से पहले विज्ञान की बहुत सी नवीनतम बातें सुन लेने पर भी बहुत बार उनमें तथ्यानुसन्धान का सूत्र दिखाई पड़ता है। गीता में स्वयं भगवान् के मुख से सुना—"यज्ञात् भवति पर्जन्यः" (३।१४); किन्तु विश्वास नहीं हो रहा है। ठीक-ठीक विश्वास के लिये सचमुच विहित यज्ञ का अनुष्ठान करना होगा। किन्तु विशुद्ध रीति से सर्वथा विधिवत् यज्ञ करने में आयास बहुत है। उसके अतिरिक्त उस अनुष्ठान में प्रवृत्त होने के लिए पहले ही कुछ विश्वास मन में रहना अपेक्षित है, क्यों व्यर्थ ही अग्नि में घी डालूँ? वह घी अग्नि में डाला जाकर आकाश में पहुँच जायेगा और मेघ बना देगा—इस पर क्या किसी भी तरह विश्वास किया जा सकता है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न मन में उठा करते हैं। विज्ञान के प्रयोग-विवरणों व आधुनिक समाचारों को सुनने से एवं परीक्षायें देखने से यदि उन प्रश्नों का किसी न किसी प्रकार का समाधान पायें तो सुविधा होगी कि नहीं? हमने ? स्वाभाविक शब्द या मन्त्र के प्रसङ्ग में विज्ञान की दो-एक बातें कहकर दिखाया था कि यज्ञ से पर्जन्य (मेघ) की सृष्टि हो भी सकती है। मन्त्र के सम्बन्ध में और भी दो-एक अद्भुत बातों की, विज्ञान की ओर से, कैफियत देने की चेष्टा हमने की थी। वर्तमान आलोचना में भी प्रसङ्गतः वे सब बातें पुनः परीक्षा के लिए उपस्थित होंगी। उन

सबकी प्रकृष्ट आलोचना के लिए पहले हमें जड़-तत्त्व को भलीभाँति समझ लेना होगा। प्राचीन वेद का अभिमत जड़तत्त्व क्या है और अभिनव वेद या विज्ञान (science) का जड़तत्त्व क्या है, इस सम्बन्ध में एक स्पष्ट समझ पा लेनी होगी। अग्रसर होने से पहले आप याद रखेंगे कि वेद का जो लक्षण हमने बना लिया था, उसमें ऋक्, यजु आदि कुछ पोथियों को ही 'वेद' नाम देकर हम निश्चिन्त नहीं रहे हैं। हमने वेद शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ में किया है। यह भी कहा है कि एक चरम वेद (या Veda in the limit) से अतिरिक्त और कोई भी वेद पूर्ण या निरतिशय रूप से विशुद्ध नहीं है।

वेद व विज्ञान की आलोचना करते समय यदि मैं गीता, पातञ्जल आदि दर्शनों, पुराणों या कभी तन्त्र की भी बातें उठाऊँ तो आप उन्हें अप्रासङ्गिक समझकर मुझे बैठा न दीजियेगा। शिष्टों द्वारा परिगृहीत गुरुपरम्परा से आये हुए वेद को आधार बनाकर जो प्राचीन विद्या (ancient wisdom) यहाँ पर नाना शाखाओं में नाना धाराओं में प्रवाहित होती आई है, जहाँ तक उसका मूल से विरोध नहीं, वहाँ तक उस सम्पूर्ण विद्या को ही हम 'वेद' शब्द से कहा गया अर्थ समझेंगे। स्मृति, दर्शन, पुराण आदि में जो बातें बहुत स्पष्ट रूप में पाते हैं, वेद की मूल कुछ पोथियों (संहिताओं) में वे इतनी स्पष्ट नहीं हैं। अवश्य ही उन बातों का मूल है या नहीं, इसका अनुसन्धान कर लेना होगा। इस प्रकार की आलोचना को जो वैदिक आलोचना कहने में राजी नहीं, वे सम्भवतः हमारी वर्तमान चर्चा को वैदिक न कहेंगे। किन्तु नाम कुछ भी दिया जाय, हमारी जाति की विशिष्ट सभ्यता व साधना के अतीत व भविष्य की ओर दृष्टि रखकर इस प्रकार की चर्चा को प्रयोजनीय (करने योग्य, आवश्यक) तो मानना ही होगा।

प्राणायाम को ही ले लीजिये। पातञ्जल आदि योगशास्त्र व मन्त्रसमूह में उसके विषय में खूब विस्तार किया गया है। श्रुति में भी उसका मूल खोजने से मिलता है। अब वह उपनिषद् का हो या तन्त्र में हो इस अनुष्ठान को सभी प्रकार के धर्म-कर्म व साधन-पद्धतियों में एक मुख्य आसन अवश्य मिला है; प्राणायाम के बिना धर्म-कर्म भी नहीं होते, साधन भी नहीं होते। इतनी बड़ी वस्तु की आलोचना में प्रवृत्त होकर यदि हम अवैदिक बन जायें (या कहलायें) तो वैसा अवैदिक होने से मुझे कोई कुण्ठा नहीं होगी। हमारे मन में अनेक विषयों में संशय हैं और उन संशयों के निरसन के लिये वैज्ञानिक परीक्षा व विचार थोड़ा-बहुत कर लेने से सुविधा ही हो सकती है—यह मैं पहले से ही कहता आ रहा हूँ। प्राणायाम की विभूति व फलाफल सुनकर मन में अविश्वास भी हो सकता है। सुस्थिर विश्वास लाने के लिए तपोवन की यात्रा करके, प्राणायाम का अनुष्ठान करके देखना होगा, किन्तु काम चलाने लायक विश्वास लाने के

लिए आधुनिक विज्ञान की दो-एक बातें सुनने व दो-एक परीक्षाएँ देखने से भी हमारा कुछ तात्कालिक (आशु, शीघ्र) उपकार अवश्य हो सकता है।

जिस जड़तत्त्व की बात मैं कह रहा था, उसकी भलीभाँति आलोचना से पहले प्राणायाम की व्याख्या में हाथ डालने से काम कुछ कच्चा अवश्य हो रहा है, किन्तु हमारे उद्देश्य के विवरण की ओर कुछ सुविधा होगी। इस आशा से प्राणायाम-चर्चा के अन्तर्गत नाना बातों में से केवल एक का संक्षिप्त विचार यहीं पर कर लेने के लिए आप सबसे अनुमति चाहता हूँ। इस विचार के फलस्वरूप शायद समझ पायेंगे कि हम प्राचीन विद्या का हिसाब लेने जाकर क्यों अर्वाचीन विद्या या विज्ञान के द्वार पर आ पहुँचते हैं। सीधे तपोवन की ओर यात्रा करना क्या अच्छा न होता? अच्छा तो शायद होता, किन्तु वह यात्रा करता कौन है? हाथोंहाथ परीक्षा करके देखो, यह बात सत्य है या अन्धविश्वासभर है—यह ज्यों ही सुना, त्योंही अनन्यकर्मा व अनन्यचित्त होकर प्राणायाम करने बैठ गये ऐसा होता तो झंझट मिट जाती, पर ऐसा होता कहाँ है? केवल बात सुनने से तो दाल नहीं गलती। इसीलिए मूल में ही किसी उपाय से कुछ न कुछ संशय मिटाकर विश्वास उत्पन्न करने की आवश्यकता है—सुस्थिर विश्वास न सही, कामचलाऊ विश्वास तो उत्पन्न होना ही चाहिए।

साँझ-सवेरे चाय की प्याली न चढ़ाकर, हाथ-पाँव धोकर, एक शुद्ध वस्त्र पहन-कर नाक दबाने न भी बैठें तो आधुनिक विज्ञान की दो-चार बातें ही सुन लेने से काम चल सकता है। और जिस समय स्वामीजी लोग गेरुआ वस्त्र के साथ 'नेकटाई' लगाये हुए सिद्धाश्रम से उतर आकर भी हममें किसी विस्मय का उद्रेक नहीं कर रहे हैं उस समय प्राणायाम करने जाकर सचमुच ही चाय-बिस्कुट सरकाकर रख देने होंगे, ऐसा क्यों सोचें? शिष्ट समाज में कोरा सन्ध्याह्निक पहले से ही चला आ रहा है किन्तु वह अनुष्ठान निर्जल है, अतः नीरस है। अब गंगामाता यदि लोगों को रुचि व सुविधा समझकर 'कोशाकूशि' (ताँबे के पूजापात्र) छोड़कर चाय के प्याले व चम्मच में अपनी दूसरी मूर्ति बना लें तो उसमें आपत्ति किस बात की? विशेषतः सर्दी के दिनों में गङ्गाजल में radio-activity का सन्धान करने जाना झखमारी ही है एवं सम्भवतः मरीचिका का अनुगमन है। किन्तु चाय के प्याले में तो radio-activity प्रत्यक्ष है। तात्पर्य यह है कि प्राणायाम के प्रसङ्ग में दो-चार विज्ञान की बातें सुन लेने में शायद कोई नाराज न होगा।

मान लीजिये, पातञ्जलदर्शन के विभूतिपाद में देखते हैं कि उदानवायु पर विजय होने पर देह इतनी लघु हो जाती है कि रुई के समान शून्य में तैर सकती है;

कीचड, कण्टक, जल इत्यादि पर से स्वच्छन्द विचरण कर सकती है। इसी प्रकार की अनेक अद्भुत बातें वहाँ मिलती हैं। प्राणायाम की नाना विभूतियों में से यह एक कही गयी; प्राणायाम की वास्तविक सिद्धि आध्यात्मिक राज्य में है। जो भी हो, प्राणायाम के सम्बन्ध में जो दो-एक बातें सुनीं वे बहुत ही अद्भुत होकर रह गयीं। आपाततः प्रत्यक्ष की विरोधी ही प्रतीत हुईं। यदि "हरिदास साधु की भाँति पुनः इन ५०-६० वर्षों के बाद आकर कोई हमें वे विभूतियाँ दिखा दें, तब तो फिर सिर हिला नहीं पायेंगे अवश्य, किन्तु तब भी मन में संशय की गड़बड़ी मिटेगी नहीं। मन तर्क-जाल बुनेगा कि यह कैसे हुआ, क्या हुआ ? किस प्रकार व क्यों हुआ ? कुछ बात तो समझ में आती नहीं। धोखा तो नहीं है ? आकाश में सूत्रक्रीड़ा के समान इन्द्रजाल तो नहीं है ? धोखा कह देने भर से भी छुट्टी नहीं मिलती। धोखा भी क्या है ? कैसे होता है ? यह प्रश्न भी समाधान चाहते ही हैं। इसी कारण कह रहा था कि इन सब प्रश्नों व संशयों पर विज्ञान यदि कुछ प्रकाश डाल सके तो उससे उपकार ही होगा, अपकार नहीं। इस बात की विस्तृत व विशद आलोचना यहाँ नहीं होगी, तब भी संकेत देने में ही दो-चार बातें आपके प्रति निवेदित करने पर अन्ततः इतना-सा आप स्वीकार कर लेंगे कि विज्ञान की ओर से हमारे पुराने ज्ञान, विश्वास व व्यवस्थाओं को समझ लेने से मन का काँटा भी बहुत कुछ निकल सकता है एवं सच्ची तथा मूलपर्यन्त परीक्षा करने में प्रवृत्ति व साहस भी उत्पन्न होता है। उसीको आवश्यकता है। हम शिशु भले न हों, अबोध अवश्य हैं। हमें मीठी बातों से फुसलाकर काम पर लगाने में कुछ श्रम अवश्य करना पड़ता है। प्राचीन लोग अर्थवाद आदि का जाल फैलाकर जनसाधारण की मति-गति वैदिक क्रिया-कलाप व उपासना की ओर लाते थे। (हमारे समय) हमारे भाग्य से अर्थ सचमुच ही छूट गया है; विश्वास की भी वैसी ही दशा है; अतः है केवल वाक् एवं शब्द। सुनता हूँ बहुत-सी बातें, बकता हूँ और भी अधिक, ज्ञान व विश्वास कोई विशेष नहीं उत्पन्न होता; ज्ञान थोड़ा-सा हो भी तो अर्थ-प्रतिपत्ति व साक्षात्कार तो बिल्कुल नहीं होता।

अच्छा, पातञ्जल के विभूतिपाद में ३९वें व ४२वें सूत्रों में वायुजय के फलस्वरूप **"जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च"** एवं काया व आकाशादि के सम्बन्ध में ध्यान आदि के फलस्वरूप **"लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्"**—ऐसी-ऐसी विभूतियाँ कही गयी हैं। इन बातों का श्रुति से विरोध नहीं, इतना ही नहीं, इनका मूल भी श्रुति में है। छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय में ही प्राण, अपान एवं इन दोनों की सन्धि-स्वरूप व्यान का उल्लेख है एवं व्यान की उपासना भी विशेष रूप से विहित की गयी है। इसके प्राचीनत्व व अर्वाचीनत्व के सम्बन्ध में अब और प्रश्न नहीं उठायेंगे। अब कहना यह है कि यह जिन विभूतियों की बात कही जा रही है, यह क्या वातरोग से ग्रस्त

(उन्मत्त) का प्रलाप है, अथवा इसके मूल में सचमुच कोई सत्य है। जो परीक्षा करके देखेंगे उनका कोई अमङ्गल नहीं होगा, किन्तु परीक्षा के पूर्वाह्न में एक कैफियत सुनने की प्रवृत्ति तो हो ही रही है। चलिये, विज्ञानागार में, उसके पश्चात् आवश्यकता हो तो शायद हरिदास ठाकुर के अखाड़े में भी जायेंगे। विज्ञानागार में प्रविष्ट होकर देखते हैं कि वैज्ञानिक दो जड़ द्रव्यों के परस्पर आकर्षण (gravitation) का हिसाब ले रहे हैं। दो जड़ द्रव्यों में परस्पर कोई खींचातानी है क्या? यदि है तो वह कहाँ तक किस पर निर्भर है? इसे वैज्ञानिक ने हमें अच्छी तरह दिखा-समझा दिया है। इस आकर्षण के नियम का विवरण देकर न्यूटन यशस्वी हो गये हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी ज्योतिष्कों के चलने-फिरने की इतनी सुन्दर कैफियत इस विवरण में हमें मिली है कि इन दो-तीन शताब्दियों से हमारे दर्प की सीमा नहीं है। न्यूटन के आकर्षण के नियमों तथा चलने-फिरने (गति) के नियमों (laws of gravitation and laws of motion) को पूंजी बनाकर लाप्लास आदि गणितविदों की आशा का पार नहीं रहा—समस्त जड़ जगत् (celestial sphere) को एक घड़ी के समान या एक इंजन के समान व्याख्या कर लेने की आशा इन्हें थी। तब भी मजे की बात यह है कि दो वस्तुओं से इतर कोई और एक वस्तु उपस्थित हो तो उनके परस्पर आकर्षण का विवरण देने में इनकी पूंजी समाप्त-सी होने लगती है।

जो भी हो, विज्ञानागार में जड़ द्रव्य के आकर्षण का हिसाब पाकर हम पुलकित हुए खड़े हैं, इसी समय कोई नवीन वैज्ञानिक पुकारकर पूछता है कि जड़ का आकर्षण समझने की तुम्हारी साध है, किन्तु जड़ स्वयं क्या है और दूसरे को क्यों खींचता है इस पर भी विचार किया है क्या? यह प्रश्न सुनकर हम अपने को पुनः विपद्-ग्रस्त मानने लगते हैं। जड़ के आकर्षण की व्याख्या तो अनेकों ने अनेक प्रकार से करने का प्रयास किया है, किन्तु अब जड़ के विषय में विज्ञान की धारणा ही जब बदल गयी है तो उस पहली (Le sage आदि की) व्याख्या को भी पुनः टाँका लगा लेना (soldering) होगा। जड़-सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक मत को—Electromagnetic theory of matter अथवा Electronic theory of matter कहा जाता है। इसका विवरण आगामी बार ही हम विशेष रूप से देखेंगे। तब भी आपाततः इतना-सा कहना पर्याप्त होगा कि विद्युत् का नाम हम सभी ने सुना है एवं बल्ब-ट्यूब आदि के प्रकाश में, ट्रामगाड़ी, टेलीफोन आदि में उसकी लीला प्रत्यक्ष देख रहे हैं। यह तड़ित्-द्रव्य सचमुच क्या है इसे वैज्ञानिक ठीक-ठीक नहीं कह पाते हैं। पहले इसे दो जातियों का एक प्रकार का तरल पदार्थ माना जाता था जो तार में से होकर स्रोत की भाँति बह सकता है, अब Farade, Maxwell के बाद से इस बात में विशेष सन्देह नहीं रह गया है कि यह तड़ित् नाम की वस्तु अतिसूक्ष्म अलग-अलग दानों से गठित है। तड़ित् दानेदार

पदार्थ है यही आजकल का प्रसिद्ध atomic structure of electricity है। यहाँ प्रमाण-प्रयोग का अवकाश नहीं हैं, तब भी Helmholtz ने अपने Frade Leicture में क्या कहा है सुन लीजिये—"If we accept the hypothesis that the elementary substances are composed of atoms, we cannot avoid the conclusion that electricity, positive as well as negative, is divided into definite elementary positions which behave like atoms of electric.ty." तड़ित् के इन सब दानों का नाम J. J. Thomson ने दिया है—'Corpuscles', "Dr. Johnston Stoney ने दिया है 'Electrones'। यह द्वितीय नाम ही अधिक चल गया है। इसीलिए तार में से होकर विद्युत् दौड़ जाती है, तब ठीक तैलधारा के समान अविच्छिन्न कुछ एक चला जाता है ऐसा नहीं है; ये electrons समूहों में एक विपुल सेना के समान अभियान करते हैं। फलतः इस उपमा से वैज्ञानिक इलेक्ट्रोनों के दल को Company, army आदि नाम देने लगे हैं।

जो भी हो, ये तड़ित्-कण रसायनशास्त्र में अणु या atoms से भी बहुत छोटे हैं। हाइड्रोजन के अणु तो शायद एक तड़ित्-कण से हजारगुने बड़े व भारी होते हैं। वैज्ञानिक इनका भी माप-जोख कर रहे हैं। अब आधुनिक मत यह है कि जिस वस्तु को हम जड़ का अणु (atom) कह रहे हैं, वह वास्तव में सूक्ष्मतर तड़ित्-कणिका (positive and negative charges of electricity) से गठित है। एक अणु मानो एक बालखिल्य सौर जगत् है। एक अणु के भीतर तड़ित्-कणिकाएँ, सौरजगत् में ग्रह-उपग्रहों की भाँति, अपने-अपने कक्ष में तेजी से घूम रही हैं, समय-समय पर छिटक भी जा रही हैं। छिटक आने पर अणु के भीतर खण्डप्रलय हो जाता है, १७ दिसम्बर को कुछ एक 'गँवार गोविन्द' (अशिक्षित) असमसाहसिक 'काण्डज्ञान हीन' नासमझ ग्रह एकजुट होकर जैसे खण्डप्रलय कर देंगे ऐसी आशङ्का हम कर रहे हैं, कुछ वैसा ही। अणु के भीतर खण्डप्रलय हो रहा हो तो बाहर उसकी जो अभिव्यक्ति होती है वही radio-activity है—इस बात को आगे और भी खोलकर कहूँगा।

अस्तु, अणु यदि तड़ित्‌रूपी उपकरण से ही निर्मित होता है, तब तो दो अणुओं में जो आकर्षण है, अर्थात् प्रत्येक जड़ में जो परस्पर खींचतान है उसका मूल तड़ित् में ही खोजना होगा। दो जड़ जब दो बिन्दु तड़ित् हैं तो जड़ों के आकर्षण का अर्थ है उन दो तड़ित्-बिन्दुओं का ही आकर्षण। किन्तु तड़ित्-बिन्दुओं में पुनः जातिभेद है। परीक्षा में देख पाते हैं कि तड़ित्-बिन्दु सजातीय हों तो एक-दूसरे को दूर हटा देते हैं। वहाँ पर भी चिरन्तन जाति-विरोध है। विजातीय हों तो एक-दूसरे को खींच लेते हैं। 'पराये को अपनाया, अपने को पराया कर दिया'—ऐसा खेद आणविक बालखिल्य

जगत् के कवियों ने भी किया है। अब मान लीजिये, सीधे-सीधे समझ लें कि एक अणु में दो विजातीय तड़ित्-विन्दु प्रकृति व पुरुष के समान, परस्पर अध्यस्त होकर रहते हैं। टॉमसन साहब की भाषा में मान लीजिये, एक अणु जैसे एक electrical doublet है। वास्तव में किन्तु अणुओं का गठन विचित्र है। अब 'क' अणु में ये दो विन्दु विजातीय तड़ित् आवद्ध होकर स्थित हैं, 'ख' अणु में भी वही है। 'क' का एक विन्दु तड़ित् अवश्य 'ख' के इलाके में भी अपने विजातीय तड़ित्-विन्दु को आकर्षित कर रहा है; पुनः 'क' के अन्तर्गत अन्य विन्दु 'ख' के अन्तर्गत स्वजातीय विन्दु को ठेल रहा है। इससे क्या मिला ? 'क' अणु 'ख' को खींच भी रहा है एवं ठेल भी रहा है। खींचना व ठेलना यदि ठीक समान-समान हो तो दोनों के वीच में कार्यतः (effectively) आकर्षण व ठेलाठेली न रहना ही हुआ। मैं तुम्हें जितने जोर से खींच रहा हूँ तुम यदि मुझे ठीक उतने ही जोर से ठेल दो, तो मैं भी तुम्हें खींचकर पास नहीं ला पाया, न तुम ही मुझे ठेलकर दूर हटा पाये। किन्तु खींचने का जोर यदि ठेलने के जोर से थोड़ा भी अधिक हो तो वात कुछ और बन जायेगी। अणुओं में भी सम्भवतः ऐसा ही होता है। स्वजातीय तड़ित्-कणिका परस्पर को जितने जोर से ठेल देती हैं, उसकी अपेक्षा विजातीय तड़ित्-कणिकाएँ परस्पर कुछ अधिक जोर से खींचती हैं। फलस्वरूप 'क' व 'ख' के वीच थोड़ा-सा ही आकर्षण रहा। दोनों के बीच द्वेष व राग भी है। किन्तु वे एक-दूसरे को जितना-सा द्वेष करते हैं, उसकी अपेक्षा कुछ अधिक परस्पर चाहते भी हैं। फलस्वरूप दोनों में थोड़ा-सा प्राणों का आकर्षण (resultant attraction) ही देखा जाता है। राग में से द्वेष का खर्चा घटा देने पर कुछ वच रहता है, इसीलिए थोड़ा-सा आकर्षण है। नहीं तो (द्वेष ही बच रहता तो) इस जगत् में कोई भी किसी दूसरे के साथ घर न बसा सकता। अणुओं में भी ऐसा कुछ उद्वृत्त (घटाकर बचा हुआ) आकर्षण है, वही जड़पदार्थों की परस्पर खींचतान या gravitation है। १९०४ के दिसम्बर को Philosophical Magazine में "W. Sutherland ने Electron theory of gravitation के प्रसङ्ग में कहा है—"The attraction between opposite charges is greater than tne repulsion of similar charges in the ratio of ($1 + 10^{-४३}$); thus accounting for a very small resultant attraction." Sir J. J. Thomson ने लिखा है—"In another development of the theory the attraction is supposed to lightly exceed the repulsion so as to afford a basis for the explanation of gravitation."

अच्छा, यह जो कुछ सामान्य, कुछ अधिक खींच है वही यदि दो जड़ पदार्थों के बीच gravitation हो तो उस थोड़ी-सी खींच को हटा देने पर फिर वे एक-दूसरे

को आकर्षित नहीं कर सकेंगे। कुछ बाकी बचा रहेगा तो वे एक-दूसरे को ठेल देंगे। यह बात स्मरण रखनी चाहिए। बढ़ी हुई खींच बहुत कम होने पर भी तड़ित्-विन्दुओं में आकर्षण-विकर्षण बहुत अधिक है। ये भले ही अणुराजत्व में वास करते हों, आकार में 'अणोरणीयान्' हों, तब भी शक्ति या सामर्थ्य में तो 'महतो महीयान्'[३] हैं। दो 'ग्राम' के दो टुकड़े सीसा लेकर परस्पर एक सेण्टीमीटर दूर रखने पर उनमें उक्त बढ़ी हुई खींच या gravitation 6.6×10^{-3}dynes, है—यह इतना कम है कि हमारे आविष्कृत किसी भी यन्त्र से उसका ठिकाना नहीं मिलता। किन्तु दो 'ग्राम' electricity यदि इतने व्यवधान पर रखी जाय तो उनकी ठेलाठेली की मात्रा सोचने में कल्पना भी थक जायगी, वह है 31.4×10^{34} dynes अथवा 320 quadrillion tons। अणु से भी छोटे होने के कारण हम इनकी उपेक्षा कर रहे थे। "Even if they were placed one at the north pole of the earth and the other at the south pole, they would still repel each other with a force of 192 millicn tons, and that in spite of the fact that the force decreases the square of the distance."

अवश्य ही हमारे कल्पित 'क' अणु व 'ख' अणु में केवल दो-दो तड़ित्-कणिका हैं, एक 'ग्राम' तड़ित् नहीं है। तब भी स्मरण रखना होगा कि दोनों में आकर्षण या विकर्षण खूब कम होने पर भी इसी माप के दो जड़ पदार्थों के gravitation की तुलना में वह 10^{34} गुणा अधिक है। तड़ित् की शक्ति ऐसी ही विपुल है। तड़ित्-शक्ति द्वारा केवल gravitation का ही हिसाब लेना होगा ऐसा नहीं, जड़ पदार्थ में अन्य जितने प्रकार के राग-द्वेष देखने में आते हैं, उन सभी का मूल यहाँ खोजना होगा। उदाहरणस्वरूप J. J. Thomson ने कहा है—"The view that the forces which bind together the atoms in the molecules of chemical compounds are electrical in their origin was first proposed by "[४]Berzelins; it was also the views of "[५]Dary and Farada. Helmholtz too, declared that the mightiest of the chemical forces are electrical in origin."

अरे, धान कूटते-कूटते यह "[६]महीपाल का गीत क्यों होने लगा? प्राणायाम से देह की लघुता होती है एवं उसके द्वारा 'जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग' व 'आकाशगमनम्' होता है, इसकी व्याख्या करने जाकर अणु-परमाणु लेकर इतनी खींचतान व ठेलाठेली क्यों होने लगी? इसका कुछ कारण है। देह की गुरुता का अर्थ क्या है? धरित्री व मेरी देह के बीच माध्याकर्षण का बल ही वह गुरुता है। मेरी देह का भार यदि डेढ़ मन हो तो वही इस जड़पदार्थ-युगल के माध्याकर्षण का माप या परिमाण है। इस आकर्षण के कारण उड़ने की विलक्षण इच्छा रहने पर भी मुझे धरणी की पीठ से ही

लगा रहना पड़ता है। "'पुल' के समान यन्त्र की सहायता से उड़कर आ सकें तो अलग बात है। उस क्षेत्र में मोटर के जोर पर पृथिवी के आकर्षण के विपरीत दिशा में एक आकर्षण की सृष्टि की गयी है। पक्षी तो कितने ही लाख सालों से आकाश में एक प्रकार का वायुयान चलाते आ रहे हैं। पक्षी के पंख चलाने में ऐसा कौशल है जिससे उसकी देह की लघुता व आकाश-गमन स्वभावसिद्ध हो गया है। हम भी कुछ लम्फ-झम्फ (कूद-फाँद) करके पृथ्वी की पीठ छोड़कर उठ सकते हैं। किन्तु बहुत चालाकी करना चलता नहीं। डार्विन मनुष्य का पूर्वपुरुष खोजने जिस देश में घूमने गये थे, उस राज्य के अधिवासी (बन्दर) कूद-फाँद करके ऐसी बहुत-सी बहादुरी दिखा सकते हैं। इस देश में भी पृथ्वी के माध्याकर्षण के विरुद्ध एक सहज कौशल बहुत दिनों से आविष्कृत हो चुका है। पेड़-पौधे सामान्यतः पृथ्वी पर सिर डाले पड़े न रहकर आकाश की ओर बढ़ते हैं, कोई-कोई—शाल, ताल, नारियल, देवदारु आदि कितने ही ऊँचे उठ जाते हैं। यहाँ भी पृथ्वी के माध्याकर्षण के विरुद्ध जाने का एक स्वाभाविक प्रयास है; जो कर रहे हैं वे उदार वायु हों या अन्य कोई भी देवता हों। इस प्रकार के दृष्टान्त बहुत से हैं। मान लीजिये, हमारी देह को पृथिवी का माध्याकर्षण जिस पथ पर खींच रहा है, वह पथ मोटामोटी हमारे मेरुदण्ड के समीप कहीं है। मान लीजिये, इस रेखा पर ही पृथ्वी का बढ़ा हुआ आकर्षण हम पर काम कर रहा है। अब इस आकर्षण को रद्द कर देना हो तो मैं क्या करूँगा? छान्दोग्य-प्रोक्त ध्यानशक्ति के बल पर कुछ ऊँचे कूद लूंगा, नहीं तो किसी विमान में ही चढ़ बैठूंगा। इसके अतिरिक्त मेरे पास और उपाय ही क्या है? है, और वही प्राणायाम है। कुम्भक करके देह को बैलून के समान वायुपूर्ण कर लेने पर वही उठ जायेगा ऊपर की ओर—यह कहें तो हास्यास्पद बनना होगा। क्योंकि बात वैसी नहीं है। अवश्य ही प्राणायाम द्वारा देह उठ सकती है, यदि प्रक्रिया तदनुकूल हो। हमने देखा है कि दो जड़ वस्तुओं में जो अतिरिक्त आकर्षण है वही शायद gravitation है। असली व प्रबल खींचतान व ठेलना तड़ित्-शक्ति का ही काम है। खींच ठेलने से अतिरिक्त हो तभी gravitation का आविर्भाव होता है। पृथिवी तथा मेरी देह के बीच यह अतिरिक्त आकर्षण है एवं इसीका नाम है—मेरे शरीर का भार या गुरुत्व डेढ़ मन है। किन्तु ठेल यदि खींच के समान या उससे अधिक हो तो मेरे शरीर का गुरुत्व पृथिवी के सम्पर्क में न रहेगा—मेरी लघुतूल-समापत्ति (रुई जैसा हल्कापन लानेवाली आन्तरदशा) हो जायेगी। बहुत सम्भव है कि प्राणायाम मेरुदण्ड में पृथ्वी की खींच के विपरीत कोई खींच उत्पन्न करता है, शायद उसे परीक्षा में electric repulsion कहा जा सकता है। तड़ित्-शक्तियाँ (Electric forces) gravitation की तुलना में कितनी विपुल हैं इसे हम देख चुके हैं। दो 'ग्राम' सजातीय तड़ित् में जो ठेलाठेली है उसका माप है—320

Quadrimillion tons, इसीलिए तड़ित्-शक्ति के लिए हमारे शरीर का भार (डेढ़ मन) उठा फेंकना कठिन नहीं है। असली बात यह है कि प्राणायाम के फलस्वरूप मेरुदण्ड के माध्यम से पृथिवी की खींच के विपरीत एक खींच का विकास हो जाता है एवं बहुत सम्भव है कि वह तड़ित्-शक्ति की अथवा उसीके अनुरूप अन्य किसी शक्ति की खींच है।

इन्हीं कुछ बातों में प्राणायाम की इस विभूति की कैफियत खोजनी होगी। सन्तोषजनक कैफियत अभी भी मिली नहीं है एवं प्राणायाम की वैज्ञानिक व्याख्या भी छिटपुट भाव से तैयार अभी नहीं हुई है। किन्तु जिज्ञासा है कि नवीन विज्ञान ने ताड़ित विन्दु व उनके परस्पर आकर्षण-विकर्षण की सहायता से gravitation व अन्यान्य जड़ व्यापारों की जो व्याख्या देना आरम्भ किया है, उसमें पातञ्जल-दर्शन में कही गयी उक्त विभूतियों का एक सन्तोषजनक हेतुवाद हमें भविष्य में मिलेगा ऐसी आशा क्या हम नहीं कर सकते? ठीक वैज्ञानिक व्याख्या देने के मार्ग में बाधा व असुविधा अभी भी बहुत है। देह की ताड़ित शक्तियों का परिमाण व समावेश कैसा है? प्राणायाम के द्वारा उस शक्ति के परिवर्तित होने पर सचमुच ही क्या मेरुदण्ड (या सुषुम्णा) के मार्ग से किसी शक्ति का ऊर्ध्वस्रोत होता है—एक electro magnetic impulsion के समान, जिसकी गति की दिशा पृथ्वी के आकर्षण की गति दिशा से विपरीत है? यदि ऐसा है तो उसका परिमाण (magnitude) कितना है? इन सब प्रश्नों की ही घोर परीक्षा व विचार द्वारा समाधान करना चाहिए, केवल सुनकर उन्हें अद्भुत या ध्रुवसत्य मान लेने का काम यहाँ नहीं है। इसीलिए वैज्ञानिक व्याख्या आपाततः न मिलने पर भी आधुनिक विज्ञान ने जड़तत्त्व एवं माध्याकर्षण का जो रहस्य हमें सुनाना आरम्भ किया है, उससे, विभूति की बातें सुनकर ही विज्ञ की भाँति हँस उठने का साहस नहीं होता। हमारे प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के साथ मिलाने पर यही थोड़ा-सा लाभ है ऐसा देख रहा हूँ। विज्ञानागार में घुसे थे यही आशा लेकर। विज्ञान की नवीन परीक्षाएँ व बातें ऐसी ही हैं। आभास से या संकेत से सत्य का पथ दिखाकर बहुत कुछ आश्वस्त अवश्य कर सकती हैं।

पहले ही कह चुका हूँ कि विज्ञान के मन्दिर में पूजा व बलि देकर ही हम झटपट सर्वकाम हो जायेंगे यह आशा नहीं है। परीक्षा का अन्त देखने के लिए तपोवन जाने की भी आवश्यकता है। अगली बार सुस्थिर रूप से वेद व विज्ञान के जड़तत्त्व की आलोचना में प्रवृत्त होना होगा। वास्तविक चर्चा तभी आरम्भ होगी। आज एक बार उसी छान्दोग्य श्रुति के दिनों में लौट चलें—देखें जाकर उस समय के आरुणि व श्वेतकेतु किस प्रकार एवं किस पद्धति से तत्त्व-परीक्षा व तत्त्व-मीमांसा करके छिन्न-संशय होते थे।

"पिता आरुणि त्रिवृत्करण समझाते हुए कहते हैं—"अन्न खाये जाने पर उसका सूक्ष्मतम (अणिष्ठ) अंश मन बनता है। उसी प्रकार जल पिये जाने पर उसका सूक्ष्मतम अंश प्राण बनता है। पुनः उसी प्रकार 'तेजस्' भीतर लिये जाने पर उसका सूक्ष्मतम अंश बनता है वाक्।" श्वेतकेतु सुनकर नहीं समझ पाये कि किस प्रकार मन अन्नमय है, प्राण अपोमय है व वाक् तेजोमय है। पिता ने कितने ही दृष्टान्त व उपमा दिखाई—हे सोम्य, दही मथे जाने पर उसकी अणिमा (नवनीत-कण) जैसे घृत होकर ऊपर उठ आती है, उसी प्रकार खाये गये अन्न का सूक्ष्मांश मन होकर ऊपर उठता है। किन्तु ये सब उपमान देखकर श्वेतकेतु के मन का संशय दूर नहीं हुआ। उसने पुनः कहा—'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु' (हे भगवन्, मुझे फिर से समझाइये) तब पिता ने उसे साक्षात् परीक्षा में लगा दिया। कहा—"पुरुष षोडशकल है चन्द्र के समान। तुम पन्द्रह दिन तक कुछ भी मत खाना। यथेच्छ जल अवश्य पीते रहना।" एक पक्ष तक उपवास की व्यवस्था हो गयी, पर श्वेतकेतु की भक्ति कच्ची नहीं थी, जिज्ञासा खेल नहीं थी, भक्ति बनी रही, प्राणों में भी द्विधा न आयी। आगे तर्क नहीं किया, जिरह नहीं की—श्वेतकेतु न खाते हुए पन्द्रह दिन पड़ा रहा। सोलहवें दिन पिता के समीप आया तब पिता ने उसे वेद-विषयक प्रश्न पूछा। पुत्र ने उत्तर दिया—"मेरी स्मृति में कुछ भी नहीं आ रहा है, कुछ भी प्रतिभात नहीं हो रहा है।" तब पिता ने कहा—"चन्द्रमा की सोलह कलाएँ हैं। कृष्णपक्ष में प्रतिरात्रि क्रमशः क्षीण होती हैं। अन्त में एक ही कला अवशिष्ट रहती है, वैसे ही उपवास से तुम्हारा मन क्रमशः क्षीण होकर केवल एक कला पर जाकर अटक गया है, उस एक कला से कुछ भी स्फूर्त नहीं हो रहा है। अग्नि का जब जुगनू जैसा एकमात्र अङ्गार अवशिष्ट रहता है, तब उसमें दाहिका शक्ति का कितना-सा प्रकाश रहता है? पुनः तृण, काठ आदि जुटाकर उसी अङ्गार की दाहिका शक्ति को जगा लें तो सभी कुछ भस्म हो सकता है। तुम भी पुनः आहार करके मन की कलाओं को पुष्ट कर लो, पुनः वेद-विद्या तुम्हें प्रतिभात हो जायेगी।" हुआ भी वही; तब श्वेतकेतु अन्वय-व्यतिरेक से अन्न व मन का सम्पर्क समझकर निश्चिन्त हुआ। उस छान्दोग्य के दिन से अनेक सहस्र वर्षों का उपवास करने के कारण हमारी भी धीवृत्ति (बुद्धि) क्षीण खद्योत जैसी ही रह गयी है—इस बुद्धि में अब निर्मल वेदविद्या की स्फूर्ति नहीं हो रही है। अब तो हे वेदमाता, तुम्हारी स्तन्यसुधा (दुग्धामृत) जाह्नवी-धारा के समान अपरोक्षानुभूति रूप से हमारे प्राणों में यदि पुनः न पहुँचेगी तो हम चिरकाल तक ऐसे ही मूढ़ व वेद-विगर्हित रह जायेंगे। श्वेतकेतु के समान हममें भी बस एक ही स्मृति परिस्फुट है कि इस मृत्यु-तुल्य अवसाद व दैन्य में डूबे होने पर भी हम हैं—"अमृतस्य पुत्राः।"[८]

चार

जड़ और चेतन का विवेचन

भूमिका बनाने में ही हमारा बहुत समय बीत गया है। अवश्य ही, जिन्होंने पूरे मनोयोगसहित इस भूमिका को आद्योपान्त सुना है, वे इसकी आवश्यकता को बिल्कुल अस्वीकार न करेंगे, ऐसी आशा है। वर्तमान चिन्तन की प्रणाली व फलों को पुरानी चिन्तन-प्रणाली व फलों के साथ मिलाकर देखने की चेष्टा में दोष कुछ भी नहीं है, बल्कि नवीन यदि पुरातन के लिए अग्राह्य, अनादरणीय हो एवं प्राचीन यदि नवीन के लिए अपरिचित हो व अश्रद्धेय ही रहे, तो नवीन व प्राचीन किसीका भी कल्याण नहीं है, क्योंकि वृक्ष में जैसे पुराने तने को आश्रय बनाते हुए ही नयी शाखा-प्रशाखा, पत्र-पुष्पादि उत्पन्न होते रहते हैं एवं नवजात शाखा-पल्लव आदि के द्वारा ही जैसे पुराना तना शोभनता व सार्थकता पाता है, समाज व सभ्यता के पक्ष में भी ठीक ऐसे ही पुराने कर्म की नवीन अभिव्यक्ति हुआ करती है एवं इस नवीन विकास का आनन्द ही प्राचीन को सुन्दर व सार्थक बनाता है। यही समाज का विश्वरूप है।

गीता में भगवान् ने वेद को जैसे एक प्राचीन अव्यय (कभी क्षीण न होनेवाले) अश्वत्थ वृक्ष रूप से जिज्ञासु को दिखाया है, हम समाज के लिए भी बहुत कुछ वैसा ही समझ सकते हैं। इस अव्यय महावृक्ष के तरुण कोंपलों व कुसुम-कलिकाओं को ही जिसने सार समझ लिया, उसने अवश्य भूल की है और जो इसके प्राचीन विशाल मूल तने को ही सर्वस्व समझकर पकड़ बैठा है, सिर उठाकर ऊपर देखता भी नहीं कि उदार गगनतले विपुल आलोक में उसी मूलकाण्ड की श्याम सजीवता कैसे राशि-राशि फूल-पत्तों के उगने से सुन्दर एवं फल-सम्भार के परिपुष्ट होने से सार्थक हुई है, हो रही है—उसकी दृष्टि-कृपणता भी मार्जनीय नहीं। हमने वेद को एक महान् वृक्ष के आकार में देखनेभर का ही श्रम किया है, इसीलिए भारतीय आर्ष ज्ञानधारा को इसका मूलतना समझने पर भी वर्तमान विज्ञान-सन्तति को इसीकी किसी-किसी शाखा के पत्र-पुष्प-फल आदि समझने में हमें जरा भी कुण्ठा नहीं हुई।

पहले प्राणायाम का दृष्टान्त लेकर हमने देखने की चेष्टा की थी कि आधुनिक विज्ञान ने ताड़ित-कणिकाओं (electrons) की सहायता से जड़ द्रव्य के परस्पर आकर्षण (gravitation) की जो व्याख्या देना आरम्भ किया है, उस व्याख्या में प्राणायाम, आकाशगमन आदि अनेक विभूतियों की कैफियत का सूत्र खोजा जा

सकता है। इतनी चर्चा के फलस्वरूप केवल यही बात प्रतिपादित हो पायी है कि उत्तम प्राणायाम-सिद्धि के फलस्वरूप देह भूमि को छोड़कर शून्य में उठ जाता है यह योग-शास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर लिखित है। उक्त विभूतियों की दो-चार कहानियाँ भी हम सुन ही चुके हैं। किन्तु यह बात ठीक है क्या ? यह तथ्य-निरूपण-विषयक प्रश्न है (a question of fact)। इस सम्वन्ध में 'हाँ' अथवा 'ना' कोई भी उत्तर देने का अधिकार हममें नहीं है। इस अनुसन्धान का विषय भी परीक्षा करने योग्य है। आजकल शून्यमार्ग में गमनागमन खूब चल रहा है, अवश्य ही यन्त्र की सहायता से; अन्य किसी उपाय से यह सिद्धि मिल सकती है या नहीं यह प्रश्न उठाने पर नितान्त अप्रासङ्गिक व अनावश्यक प्रश्न उठाना हो जायेगा—ऐसा कोई न समझें। पाँच-सात वर्षों से मानव-समाज इस सिद्धि को ही सबसे बड़ी एवं गौरवयुक्त मानने लगा है।

अव यदि प्राणायाम की विभूति सच ही कोई तथ्य हो तो प्रश्न उठेगा—यह कैसे घटित होता है ? भारी शरीर रूई के समान हल्का होकर हवा में कैसे डोल उठता है ? पृथ्वी का माध्याकर्षण देह को खींचे रखता है, उस खींच को व्यर्थ करके विपरीत दिशा में एक प्रवलतर खींच की सृष्टि प्राणायाम कैसे कर देता है ? इन प्रश्नों का उत्तर देने में हमने माध्याकर्षण अथवा जड़द्रव्य के परस्पर आकर्षण को नये तौर से समझा था। दो जड़ द्रव्यों के परस्पर आकर्षण का अर्थ क्या है ? एवं क्या व्यवस्था होने पर वे एक-दूसरे को खींचने की वजाय ठेल देंगे ? आधुनिक 'इलक्ट्रॉन थ्योरी' में इन्हीं दोनों प्रश्नों का थोड़ा-कुछ उत्तर मिलने की सम्भावना हुई है, इसे हम विस्तार से देख चुके हैं। जव हम बैठे अथवा खड़े रहते हैं तव पृथ्वी का आकर्षण मेरुदण्ड के मार्ग से नीचे की ओर है ऐसा माना जा सकता है; पद्मासन में वैठकर प्राणायाम का अनुष्ठान करने से यदि इस मेरुदण्ड के मार्ग से ही विपरीत दिशा में कोई प्रबलतर आकर्षण उत्पन्न होता है, तो देह के भूमि छोड़कर शून्य में उठ जाने में कोई बाधा नहीं है। पृथ्वी व देह में जो आकर्षण है वह किस जाति का है एवं यह विपरीत दिशा में आकर्षण किस जाति का है इसका निर्देश करने की हमने पहले चेष्टा की थी। अब फिर उस बात की पुनरुक्ति नहीं करूँगा। अवश्य ही उस बात का यदि कोई मूल्य हो तो हमें स्वीकार करना होगा कि अन्ततः प्राणायाम के क्षेत्र में बहुत सी आपाततः अद्भुत चीजें बीसवीं शताब्दी के विज्ञान के नवीन नेत्रों से देखें तो उतनी अद्भुत नहीं भी लग सकतीं। यह भी कम लाभ की बात नहीं है। इससे केवल हमारी एक प्रधान साधन-व्यवस्था की लाज रह गयी; इतना ही नहीं, मनुष्य का नया विज्ञान व नयी साधना भी इस समस्त चर्चा व परीक्षा के फलस्वरूप मोड़ लेकर शायद ऐसी किसी दिशा में आ गया है, जिसमें आने पर नाना मतवादों के मध्य पथभ्रष्ट मानवात्मा

पुनः ठीक मार्ग का सन्धान पा सके। इसीलिए, इतनी-सी बात के लिए प्राणायाम की बात लेकर खींचतान क्यों की जाय—ऐसा सोचकर कोई असहिष्णु न हो उठे। इस सम्बन्ध में और एक बात कहकर आपाततः हम निरस्त होंगे।

योगशास्त्र व तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में प्राणायाम व वायु-सिद्धि की बात इतनी स्पष्ट करके कही गयी है कि उसे सुन लेने पर, परीक्षा करके देख लेने से पहले, हठात् उसे सच्चा या मिथ्या कहकर राय देने का साहस नहीं होता। रसायनशास्त्र में कोई भी परीक्षा (experiment) जैसे पुङ्खानुपुङ्ख रूप से वर्णित है—ठीक वैसे ही तन्त्रादि-शास्त्र में प्राणायामजन्य सिद्धि वर्णित है। रसायनशास्त्र के वैसे विवरण सुनने या पढ़ने से, मन में परीक्षा करके देखने के लिए एक प्रवृत्ति स्वतः ही जाग उठती है। दो गैसें मिलाकर जल बन सकता है, उसकी परीक्षा कितने पुंखानुपुंख रूप से वर्णित है यह हम देखते हैं। देखते ही मन में आता है कि कोई हाथोंहाथ परीक्षा करके ही ये सब बातें लिख रहा है। अन्दाजी बात अथवा अलीक कपोल-कल्पित बातें इस ढंग से नहीं लिखी जातीं। हमने पातञ्जल योगदर्शन से सूत्र उद्धृत करके दिखाया था कि काय व आकाश के बीच जो सम्बन्ध है उसी पर योगी द्वारा संयम किये जाने पर आकाश-गमन सिद्ध होता है। यह काय व आकाश का सम्बन्ध क्या चीज है? इसे आधुनिक विज्ञान की ओर से कहेंगे। किन्तु उससे पहले केवल शिवसंहिता नामक तान्त्रिक ग्रन्थ से उद्धरण करके दिखायेंगे कि रसायनशास्त्र के समान, योगशास्त्र ने भी बहुत कुछ वस्तुतन्त्र भाव से (realistically) प्राणायाम व वायुसिद्धि की बात कही है :—

"स्वेदः सञ्जायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे।
यदा सञ्जायते स्वेदो मर्दनं कारयेत् सुधीः।
अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः॥
द्वितीये हि भवेत् कम्पो दार्दुरो मध्यमे मतः।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् गगनेचरसाधकः॥
योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते।"

प्रथम उद्यम में योगी की देह में पसीना आता है, वह होने पर शरीर को मलना चाहिए, नहीं तो योगी की धातु नष्ट होती है। द्वितीय चरण में कम्प होता है, उसके बाद अधिकतर अभ्यास से आकाशचरण सिद्ध होता है, और पद्मासन में स्थित योगी भी पृथ्वी छोड़कर अधरस्थित होता है। वायु-क्रिया के प्रथम उद्यम से शरीर में स्वेद (पसीना) आ जाता है। तब क्या करना होगा एवं न करने से क्या हानि होगी यह बात स्पष्ट करके कही गयी। द्वितीय मध्यम अवस्था में देह में कम्प होता है। [illegible] अभ्यास करने से [illegible]गी पद्मासन पर बैठे रहते हुए भी

भूमि छोड़ देता है—यह सुनकर कहा जाता हुआ विषय साक्षात् परीक्षित व परीक्षितव्य जान पड़ता है। अन्दाजी व कल्पित अद्भुत बातें इस ढंग मे लिपिबद्ध नहीं देखी जातीं। उन बातों का दस्तूर अन्य प्रकार का होता है और परोक्षित बातों का कुछ और ही।

केवल प्राणायाम ही क्यों, खेचरी आदि मुद्राओं के माहात्म्य से भी हम आकाशचारी हो सकते हैं, इस बात को भी उसी प्रकार साक्षात् परीक्षित के समान ही शास्त्र ने कहा है। अवश्य ही मुद्रा (धन) के प्रसाद से और कुछ दिन बाद हम शायद अन्य किसी प्रकार से खेचर हो सकेंगे—आकाशमार्ग से हो एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना-आना चलेगा। किन्तु योगशास्त्र में जो मुद्रा व प्रक्रिया कही गयी है, उससे केवल स्वेच्छा से बिना खर्च के आकाश-गमन सिद्ध हो सकता है। यही नहीं, वायुसिद्धि के जिन सब फल-अफलों की बातें योगशास्त्र से हम सुनते हैं उनमें से कुछ को अतिरञ्जन कहकर छोड़ देने पर भी शेष से मनुष्यों का लाभ ही होगा। अप्सरा व किन्नरी आदि का लाभ नहीं कह रहा हूँ, प्राणायाम के फलस्वरूप देह का जो पुष्ट व नीरोग होना हो सकता है तथा मन का जैसा नैर्मल्य व तत्त्वदर्शन संभव है उसे सुनकर, जीव के श्रेयस् व प्रेयस् दोनों की ओर लक्ष्य रखकर देखे तो मनुष्य प्राणायाम का तिरस्कार करके वायुयान की ओर ही सहसा ललचाई आँखों से न देखेगा।

श्रद्धेय श्रीयुत प्रमथनाथ वसु महाशय इससे पहले कुछ वक्तृताओं में हमारी दैहिक अवनति का निदान व प्रतीकार समझाते हुए स्थान-स्थान पर प्राणायाम की बात सुना चुके हैं। वसु महाशय प्रवीण वैज्ञानिक हैं। खास लन्दन शहर के वैज्ञानिक परीक्षागारों में साक्षात् परीक्षा करते-करते उन्होंने ज्ञान का उपार्जन किया है। प्राणायाम की बात को नितान्त अजीबोगरीब समझ लें तो वसु महाशय इन ठण्ड के दिनों में अपना सुदूरवर्ती आवास छोड़कर आपको प्राणायाम की बात सुनाने न आये होते। वस्तुतः, हमारी दैहिक अवनति व मानसिक अवसाद इन दोनों ओर देखकर प्राणायाम की बात दो-एक बार इस समय स्मरण कर लेने को यदि हमारी प्रवृत्ति हो तब उसको नितान्त निष्फल प्रवृत्ति कैसे मान लेंगे? प्राणायाम पुनः अनायास सार्वजनीन अनुष्ठानरूप से गृहीत हो सकता है—सभी मनुष्य यथाविधि इसका अनुष्ठान करके श्रेयोलाभ, यहाँ तक कि सिद्धिलाभ भी कर सकते हैं। दल बाँधने या एकाधिकार का कारबार बना डालने की चीज नहीं है प्राणायाम। जो भी हो, हमारे श्रोतृवृन्दों की मति-गति साधन-भजन की ओर ले जाने के लिए मुख्यतः मैं यहाँ नहीं आया हूँ, जो लोग स्वयं साधक हैं उन्हींको यह भार लेना होगा। मैं तो अभिनव विज्ञान की ओर से एक-आध बात कहकर यदि आप लोगों में भारतीय प्राचीन भाव व साधना के लुप्तप्राय व विस्मृतप्राय गौरव की ओर थोड़ा-सा विश्वास उत्पन्न करा सकूँ तभी अपने को चरितार्थ समझूँगा।

प्राणायाम की बात परवर्ती शास्त्रादि में विस्तार से कही होनें पर भी, इसका मूल श्रुति में है यह उस दिन छान्दोग्य उपनिषद् की ओर दृष्टिपात करते हुए देखा था। भविष्य में वेद-वृक्ष के विशाल कलेवर का भलीभाँति अनुसन्धान करने पर शायद देख पायें (पर आज प्रमाण-प्रयोग की ओर और अधिक न जायेंगे) कि प्राणायाम एवं मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र का भी कोई अंश वेदमूलक है या नहीं, अथवा यह सब केवल परवर्ती युग में उत्पन्न परजीवी जंजाल हैं। आपाततः पातञ्जलदर्शन व शिवसंहिता के वचन उद्धृत करने जाकर हम यदि अवैदिक हो जायँ तो कोई चारा नहीं। मैंने पहले 'वेद' शब्द को जिस व्यापक अर्थ में लिया है एवं इसीलिए अपनी वैदिक आलोचना की पद्धति को जिस प्रकार सम्प्रसारित किया है, उससे, अनिष्ट आशंका से ही शायद कोई भी भाग तो नहीं सकेंगे।

हमारे हिन्दू-समाज में एक विराट् ज्ञान की धारा व साधना की धारा नाना शाखाओं व सम्प्रदायों में विभक्त होकर बहती आ रही है। वेद ही इसका मुख्य व मूल उत्स है। इस विपुल ज्ञानधारा व कर्मधारा के साथ स्थान-स्थान पर, परिचय स्थापित करके हम देखने की चेष्टा करेंगे कि उसमें कितना-सा 'सत्य' व 'सुन्दर' 'मङ्गलस्वरूप' विष्णु के पादपद्म से निःसृत शुद्ध गङ्गाजल है और कितनी उसमें मलिन पार्थिव जल की मिलावट है। अन्त तक परीक्षा व विचार कर लेने की शक्ति हमें भगवान् ने नहीं दी है; वैसे जौहरी हम बन नहीं पाये हैं जो सच्चे मणि को झूठे चमकोले पत्थरों में से चुन दे। अन्तिम परीक्षा का स्थान भी शायद सिद्धाश्रम है। अवश्य ही अभिनव विज्ञान की दो-चार बातें बीच-बीच में सुनकर ऐसा मन में आ रहा है कि यह हमारी पुरानी घरेलू बातों को ही नये साँचे में ढालकर पुनः उपस्थित कर रहा है; अन्ततः संस्कारों की उपक्रमणिका बन रही है। पुरानी बातों को इस प्रकार नवीन सज्जा में उपस्थित देखने पर हममें मूर्च्छित होकर पड़ी हुई परीक्षा-प्रवृत्ति पुनः प्रकृतिस्थ हो सकती है—गतानुगतिक भाव से प्राप्त व स्वीकृत बहुत से संस्कारों के पुनः नवीन संस्करण हो सकते हैं एवं हमारी आस्तिकता दृष्टिसम्पन्न हो जायेगी और साधन अनुष्ठान पुनः स्वस्थ-सबल हो सकता है।

वेद व विज्ञान के बीच जड़तत्त्व के सम्बन्ध में सहमति हमने दो-एक उदाहरण लेकर परीक्षा नाम देने से पहले ही आरम्भ कर दी है। प्राणायाम के प्रसङ्ग में एवं आरुणि व श्वेतकेतु के "उपाख्यान की अवतारणा में जड़तत्त्व आ ही गया है, यहाँ तक कि जड़तत्त्व-व्यवस्था का एक सूत्र भी वहाँ विद्यमान है, इसे हममें से किसी-किसीने शायद लक्ष्य किया भी है। अब उसी सूत्र का अनुसरण चले।

हमारा वर्तमान उद्देश्य है—भारत के प्राचीन ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के बीच जड़तत्त्व के सम्बन्ध में एक वार्तालाप होने की सुविधा कर देना। इसकी आवश्य-

कता थी एवं इससे लाभ भी हैं, यह मैं बार-बार कहता आ रहा हूँ। बाल्यकाल में सुनता था 'देवताओं का मर्त्यलोक में आगमन' हुआ था, एवं वे कलिकाल के इस अद्भुत नगर कलकत्ता को देख भी गये हैं। हमारा वही छान्दोग्य का श्वेतकेतु क्या आज एक बार श्वेतद्वीप में आकर 'कैवेन्डिश लॅबोरेटरी'[११] में प्रविष्ट होगा एवं देखेगा किस प्रकार, किस प्रणाली से Sir J. J. Thomson आदि विज्ञानाचार्य यन्त्र-तन्त्र की सहायता से जड़ के मर्म को खोल रहे हैं ? आजकल के पण्डित महाशय श्वेतद्वीप का नाम सुनने मात्र से भी किन-किन प्रायश्चित्तों का विधान करेंगे, नहीं कह सकता, तब भी यह जानता हूँ कि वेद के श्वेतकेतु, नचिकेता आदि सत्य के अनुसन्धान में जरा भी पीछे न हटते। श्वेतकेतु ने मन का अन्नमयत्व समझने के लिए पिता की व्यवस्था के अनुसार पक्षभर उपवास किया। हम जैसे नवीन कूट-तार्किकों का दल पिता-माता के आदेशों पर आपत्ति उठाने को जीवन का एकमात्र कर्म मानने में महान् उत्साह रखता है—यह द्वितीय अथवा तृतीय संसार-परिग्रह है। नचिकेता पिता के आदेश-पालन की जिद में सीधे यमपुरी में जाकर हाजिर होता है, और हम लोग मुखरा (झगड़ालू) पत्नी के मुँह से प्रतिदिन यमालय भेजे जाने पर भी, तत्त्वान्वेषण के लिए 'दिलखुश केबिन'[१२] या 'कमलालय'[१३] पर्यन्त चल देने को प्रस्तुत हैं, किन्तु थोड़ी दूर और आगे चलकर देवालय तक जा पहुँचने को राजी नहीं।

काय व आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने पर आकाशगमन सिद्ध होता है—पतञ्जलि का कहना है। मुझे लगता है, इसकी असली व्याख्या का आभास आधुनिक विज्ञान के जड़तत्त्वों में हम कुछ-कुछ पा सकते हैं। उसीके सहारे मैंने पहले भी एक व्याख्या खड़ी करने का प्रयास किया था। 'काय' शब्द से हम साधारणतः 'देह' समझते हैं तथा आकाश शब्द से उस खाली स्थान को समझते हैं जो हमारे शरीर व अन्यान्य जड़ वस्तुओं को चलने-फिरने या हलचल करने को अवकाश देता है। किन्तु 'देह' कहने से कोई एक बड़ा-सा शरीर हो समझा जाय यह कोई बँधा नियम नहीं है। हमारी देह में वायु आवागमन कर रहा है; सफेद व लाल रक्त-कणिकाएँ दौड़-भाग रही हैं, विद्युत्-कण भी दौड़ रहे हैं। वायु के रेणु छोटे होने पर भी 'काय' हैं, प्रत्येक रक्तकणिका भी 'काय' है एवं विद्युत्-कण (electrons) और भी अधिक छोटे होने पर भी काय हैं।

'काय' शब्द को इस प्रकार विस्तृत अर्थ में न लें तो जुल्म होगा एवं हिसाब में गड़बड़ी हो जायेगी। वर्तमान प्रसङ्ग में, जो यह अपना विशाल वपु देख रहे हैं वह भी अन्ततः 'एक काय' होने पर भी असंख्य सूक्ष्म कायों की समष्टि है। जीवदेह के सूक्ष्म अवयव-स्वरूप जीव-कोषों (cells) तक जाकर ही 'इति' नहीं है; ये कोष तो जटिल यौगिक पदार्थ हैं, और भी अधिक सूक्ष्म सामग्री के जुटाने पर इनकी

सृष्टि हुई है। इसीलिए कोष (cell) को भी चरम काय समझ लेने से भूल होगी। कोष के अन्तर्निहित प्राणशक्ति का विश्लेषण चले या न चले, कोष का जो अन्नमय कोष या पिण्डदेह है, उसके रासायनिक विश्लेषण से पायी गयी—नाना प्रकार के स्तवक (गुच्छे) बाँधकर विद्यमान अणुओं (atoms) की एक राशि। यहाँ हमारा चरम-काय मिल गया क्या ? कुछ दिन पहले वैज्ञानिक लोग बलपूर्वक कहते थे कि ये ही सूक्ष्मता की पराकाष्ठा हैं। किन्तु अब वह कोई नहीं कहता। अब हमने उससे भी सूक्ष्मतर काय निकाल डाले हैं। Sir J. J. Thomson की शब्दावली में वे हैं—Corpuscles। Corpuscles शब्द का अर्थ है सूक्ष्मकाया या कायाणु। इन्हें ही तड़ित्-कणिका मानने के बलवान् या समीचीन हेतु वैज्ञानिकों को मिले हैं। वही बात यदि सत्य हो तो तड़ित्-कणिका ही फिर कायाणु हैं। Dr. Johnstone Stoney साहब की शिष्ट-परिगृहीत परिभाषा मानकर हम यदि तड़ित्-कणिका को electron कहने लगें तो कहना होगा कि electrons ही कायाणु हैं।

दो प्रकार की तड़ित् की बात हम सुनते हैं एवं उनके परस्पर आकर्षण-विकर्षण का विवरण पहले ही आपके सामने प्रस्तुत कर चुके हैं। इन दो प्रकार की (positive व negative) तड़ित् ने प्रकृति-पुरुष के सामने एक-दूसरे को धर-पकड़कर एक-एक chemical atom गढ़ा है—ऐसा आजकल वैज्ञानिक मान रहे हैं। इसका विशेष विवरण क्रमशः हमें देना होगा। अभी एक विदेशी वैज्ञानिक की बात आप सुनें—"Each atom contains a number of electrons, but their electrical action is compensated by some force within the atom, which, for lack of a better term, we may call positive electricity."

सचराचर negative electricity की कणिकाओं को ही electron नाम दिया जाता है। इन्हें हम पहचानते हैं, इनका नाप-तौल या हिसाब भी ले सकते हैं। जिस शक्ति द्वारा विधृत होकर ये ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि नाना-जातीय अणुओं की सृष्टि करते हैं उस शक्ति को हम अभी भी अच्छी तरह नहीं समझे हैं एवं उसीको मानो विवश होकर एक नाम दे रखा है—Positive electricity। जो भी हो, अभी यह अवान्तर बात है। मोटे तौर पर तड़ित्-कणों को electron कह रहे हैं। एवं वह हो तो हम देखते हैं कि electron ही कायाणु हैं। किन्तु यही चरम हैं क्या ? शायद नहीं। Electrons छोटे होने पर भी सावयव व परिमित द्रव्य हैं। सुतरां उनमें भी दाने या अंश वर्तमान हैं ही। स्वयं Johnston Stoney दार्शनिक की अनाकुल दृष्टि फैलाकर यही तथ्य देखकर क्या कहते हैं, सुनिये—

"Here, then electron is introduced as a new entity. Is not it, too, a complex system within which internal events are ever

taking place ? And when this question can be answered, shall we not be in the presence of the inter-active parts of an electron and does not the same question arise with respect to this ? For there is no appearance of there being any limit to the minuteness of the scale upon which nature works. Nothing in nature seems to be too small to have parts incessantly active among themselves."

सुतरां electron तक जाकर भी हमें सूक्ष्मता की सीमा नहीं मिली। चरम कायाणु क्या है हम नहीं जान सके, शायद कभी भी न जान पायेंगे। तथापि, पारमार्थिक रूप से न होने पर भी, व्यावहारिक रूप से ही इन तड़ित्-कणों या electrons को लेकर ही हम काय व आकाश के सम्बन्ध में आपाततः विचार कर सकते हैं। कायाणुओं अथवा electrons को चलने-फिरने का अवकाश देता है जो, उसे यदि आकाश नाम दें तो काय व आकाश का सम्बन्ध विचारने का अर्थ होगा electrons के चलने-फिरने की रीति-पद्धति विचारना। उन दोनों के सम्बन्ध का विज्ञान—यानी इन वामनतनु electrons का गतिविज्ञान। इन बौनों का दल कहाँ चल रहा है ? कैसे चल रहा है ? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने में यदि हम समर्थ हों तभी कहा जा सकता है कि हमने काय व आकाश का सम्बन्ध समझ लिया है। वह भी व्यावहारिक रूप से ही। अन्त में electrons तक ही जाकर पर्यवसान करने से शायद काम नहीं चलेगा। योगी भी शायद तड़ित्-कणिका (जिसे लेकर आज के वैज्ञानिक माप-जोख कर रहे हैं) लेकर ध्यान-धारणा नहीं करते। कायाणुओं को electron नाम दे रहा हूँ इसी कारण कि हमारा जड़ पदार्थ के मर्म से परिचय यहीं तक अग्रसर हुआ है। कल शायद हम electron को भी छोड़ चलेंगे। शायद Quanta की सहायता से व्याख्यान देने का नियम हो जायेगा। तब भी जहाँ तक का परिचय पाया है, उसीमें से काम-चलाऊ एक व्यष्टि या unit स्थिर कर लेने की आवश्यकता है। नहीं तो हिसाब नहीं चलता। और हिसाब के बिना विज्ञान भी अचल है (क्योंकि science is measurement.)।

अतएव "योगी काय-आकाश-विषयक धारणा, भावना करते हैं"—इस कथन का अर्थ ठीक यह नहीं है कि योगी लोग लारेञ्ज लारसर, टॉम्सन, लॉज, अब्राहम आदि वैज्ञानिकों की भाँति electrons का गति-विज्ञान लेकर दिमागी चक्कर काटते हैं एवं समय-समय पर Philosophical Magazine आदि में सामान्य बुद्धि की पकड़ में आनेवाले लेख लिख डालते हैं। योगी लोग सम्भवतः सोचते हैं कि कहाँ व किस प्रकार इस पिण्डदेह के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अवयव परस्पर मेल-जोल, व्यवहार, चलना-फिरना करते हैं। योगी की दृष्टि में ये सूक्ष्म अवयव ठीक electrons नहीं भी हो

सकते। न भी हों तो हमारी व्याख्या व्यर्थ नहीं जाती। जिन सब कायांशों या कायाणुओं के पुञ्जीभूत होने से हमारा यह पिण्डदेह बना है, वे तो स्थिर नहीं हैं, हलचल कर ही रहे हैं। कैसे व कहाँ कर रहे हैं—इसीका अनुसन्धान काय व आकाश के विषय में भावना है। इसके अतिरिक्त क्या व्याख्या दूँ नहीं खोज पाता।

पातञ्जल-दर्शन का जो सूत्र उद्धृत कर आये हैं, उस पर व्यासभाष्य है :—"यत्र कायस्तत्राकाशं तस्य अवकाशदानात् कायस्य तेन सम्बन्धः प्राप्तिः। तत्र कृतसंयमो जित्वा तत्सम्बन्धम्, लघुषु तूलादिष्वापरमाणुभ्यः समापत्तिं लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुः, लघुत्वाच्च जले पादाभ्याम्, ततस्तु ऊर्णनाभितन्तुमात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति, ततो यथेष्टमाकाशगतिरस्य भवतीति।" आकाश ही क्योंकि शरीर को अवकाश देता है, अतः जहाँ शरीर है, वहीं आकाश है। शरीर छोटा हो या बड़ा हो, मैनाक पर्वत हो या electron हो उससे आकाश का सम्बन्ध है एवं आकाश में ही उसका चलना-फिरना हो रहा है। स्थिर रहें या हिलें-डुलें, स्थान या अवकाश चाहिए ही। आकाश व काय का यह व्याप्ति-सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में मतलब की बात यही है कि जड़द्रव्य की स्थिति व हलचल (rest and motion) के विषय में संयम करना होगा; अर्थात् प्रक्रिया-विशेष द्वारा उस पर विजय (control) करनी होगी। अन्य शब्दों में कहें तो जड़ के statics व dynamics को यथासम्भव अपने अधीन कर लेना होगा।

अच्छा, जड़पदार्थ भी तो गणनातीत हैं—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत, नदी, समुद्र और भी जाने क्या-क्या ? इन सबका चलना-फिरना अपनी इच्छा के अधीन करके तब आकाश में उड़ने की चेष्टा करनी होगी। यह कहें तो मच्छर मारने के लिए धनुष चढ़ाने या बन्दूक साधने जैसी बात लगती है न ? समस्त dynamics हाथ की मुट्ठी में आ जाय तो कोई भी श्रीमान् पवनकुमारजी की भाँति समुद्र लाँघकर लङ्काकाण्ड कर आ सकता है एवं गन्धमादन उठाकर सूर्य को बगल में दबाकर भी ला सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक-इञ्जीनियर dynamics को थोड़ा-थोड़ा वश में ले आये हैं इसीलिए प्राणायाम के प्रसाद से न सही, 'मोटर' के प्रसाद से ही हमारे लिए आकाश-गमन की व्यवस्था कर दी है।

अतएव काय व आकाश के सम्बन्ध को व्यापक रूप से लेने पर भूत-जय ही हो जाता है, फिर आकाश-गमन तो तुच्छ बात है। किन्तु व्यापक रूप से भूत-जय की बात यहाँ उपस्थित नहीं है। उसकी प्रक्रिया व व्यवस्था स्वतन्त्र है। विशेष रूप से किसी भी एक निर्दिष्ट विषय या आधार पर काय-आकाश का सम्बन्ध जीत पाने से ही आकाश-गमन हो सकता है। उसी विशेष की बात कही गयी है—'आपरमाणुभ्यः लघुषु तूलादिषु समापत्तिं लब्ध्वा।' चन्द्र-सूर्य, राजा-वजीर सबको मार नहीं गिराना होगा, पहले ही त्रैलोक्य पर आधिपत्य नहीं कर लेना होगा। परमाणु से लेकर रुई तक किसी

भी सूक्ष्म व हलके पदार्थ में चित्त की तन्मयता कर लेनी होगी। सूक्ष्म-सूक्ष्म जो सब कायांश हैं, जिनके द्वारा हमारा व अन्यान्य जड़ द्रव्यों का देह गठित है, उन पर धारणा करके उनके साथ आकाश के सम्बन्ध (space relations or configuration) पर जय पा लेने से अपनी देह का आकाश-गमन सिद्ध होगा—यही उक्त सूत्र की प्रकृत व भाष्यानुमोदित व्याख्या नहीं है क्या ? एवं यही सही व्याख्या हो तो आधुनिक विज्ञान की ओर से इसको समझने में हमें अधिक आयास करना होगा क्या ? पृथ्वी और मेरी देह—दोनों ही सूक्ष्म कायाणु-पुञ्ज से बने हैं, उन्हें तड़ित्-कणिका कहें या परमाणु कहें या अन्य कोई भी नाम दें। पृथ्वी की तड़ित्-कणिका मेरी देह की तड़ित्-कणिकाओं को खींच भी रही हैं। ठेलती भी हैं। क्यों ? इसका आभास हम पहले पा चुके हैं। खींच का जोर ठेलने से ज्यादा है। इस बढ़ती खींच के कारण ही मेरी देह पृथ्वी पर शृंखला सी बँधी-सी रहती है। इस बढ़ती खींच का ही मूल्य या माप है—डेढ़ मन या एक मन (शरीर का भार)। यह खींच (gravity) केवल पृथ्वी के बड़ेपन व मेरी देह के बड़ेपन पर ही निर्भर नहीं, दोनों के संस्थान (relative position) पर भी निर्भर है। यही है पृथ्वी-कणों व देह-कणों के बीच ऊपर कहा गया—"कायाकाशयोः सम्बन्धः"। इस पर संयम कर पाने पर अर्थात् इन दोनों कण-दलों का विन्यास व संस्थान (configuration) उपयुक्त रूप से बदल पाने पर उनका परस्पर ठेलना पहले खींचने के समान अथवा उससे भी अधिक हो जाता है। तब वसुन्धरा व शरीर परस्पर को खींचने के बदले उसी वेग से ठेल देते हैं। ठेलना कार्यतः खींचने से अधिक होने पर ही आकाश-गमन सिद्ध होता है। आधुनिक विज्ञान कह रहा है कि आकाश-गमन यदि सचमुच होता हो तो उक्त नियम के बल से ही हो सकता है, पातञ्जलसूत्र व व्यासभाष्य में बात स्पष्ट न कही जाने पर भी जितनी कही गयी, वह विज्ञान के खाते में दर्ज होने के सर्वथा अयोग्य नहीं है।

प्राणायाम के फलस्वरूप मेरुदण्ड के पथ पर किसी भी जाति की एक शक्ति की जो ऊर्ध्वगति होती है, यह योगशास्त्र का कहना है, केवल कल्पना नहीं, अनुभव का विषय है। प्रकृष्ट उपाय में प्राणायाम अनुष्ठित होने पर मेरुदण्ड में ऊपर की ओर पिपीलिका-सञ्चार की भाँति एक प्रकार की अनुभूति होती है, योगशास्त्र के ग्रन्थों में यह बात पढ़ी है। केवल स्पर्शज्ञान होता है ऐसा नहीं—योगी कहते हैं कि मेरुदण्ड के पथ पर शक्ति का ऊर्ध्वस्रोत चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होता है। आश्चर्य का विषय है कि योगी लोग भी ऊर्ध्वाभिमुखी इस शक्तिप्रवाह का वर्णन करते समय विद्युत्-माला की ही उपमा बार-बार देते हैं। 'विद्युद्दामसमप्रभा', 'विद्युन्मालाविलासा' आदि विशेषण पुनः-पुनः कहे गये हैं। योगियों की इस अभिज्ञता का वृत्तान्त सुनने पर स्वभावतः ही हम समझते हैं कि शक्ति का जो असली चेहरा आधुनिक विज्ञान

हमारी आँखों के सामने धीरे-धीरे खोल रहा है, उसी चेहरे को योगियों ने भी देखा था।

तन्त्रशास्त्र की पोथियों में मूलाधार-स्थान को पृथ्वीतत्त्व कहा गया है। हमारी देह का भार-केन्द्र (Centre of gravity) स्थूल दृष्टि से उसी प्रकार के स्थान में है यह समझने से कोई बड़ी भूल नहीं होगी। इस प्रकार के एक स्थान पर ही मुख्यतया पृथ्वी का आकर्षण हमारी देह पर कार्य कर रहा है एवं उसीसे देह में भार है। मुख्यतः उसी भार-केन्द्र के सहारे नीचे की ओर एक खिंचाव बना हुआ है। उसी प्रकार उसी भार-केन्द्र को आश्रय बनाते हुए ऊपर की ओर यथेष्ट मात्रा में खिंचाव की सृष्टि कर पाने पर ही योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार पृथ्वीतत्त्व पर जय हो जाती है एवं पृथ्वीतत्त्व को जीतने का ही मतलब है देह के भारीपन का प्रतिषेध—अर्थात् देह का फिर कोई भार नहीं रहता। मूलाधार जैसे पृथ्वीतत्त्व का स्थान है, वैसे ही नाभिदेश (मणिपूर) तेजस्तत्त्व का स्थान है। मूलाधार से ऊपर की ओर एक तैजस शक्तिप्रवाह रहता है। इसका योगी साक्षात्कार करते हैं। इसी ऊर्ध्ववाहिनी धारा की वन्दना वे उसे 'विद्युन्मालाविलासा' कहकर करते हैं। क्योंकि उसीके उपकार से देह का गुरुत्व हटकर केवल आकाश में ऊर्ध्वगमन होगा इतना ही नहीं, वही 'ब्रह्मद्वार' की अर्गला (कुण्डी, साँकल) खोलकर जीव के भोग-अपवर्ग पाने का निमित्त भी है। इस ऊर्ध्वस्रोत का माहात्म्य बखानने में आगम-निगम हार मान गये हैं। मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्णा-मार्ग से न सही, Vacuum के भीतर से इस तैजसधारा को आधुनिक पाश्चात्य योगियों ने कर्म-कौशल द्वारा कैसे देख लिया है इसे मैं सर विलियम क्रुक्स की एक प्रसिद्ध परीक्षा के वर्णन द्वारा विवृत करके आपको सुनाता हूँ। Vacuum tube विज्ञानागार में कुछ एक बच्चों के खिलौने भी थे और कुछ भयावनी चीजें भी थीं; वैज्ञानिक लोग "Theory trap" अर्थात् विविध अद्भुत theories में जाकर कूद पड़ना कहते हुए डरते-डरते ही उसकी ओर सरकते थे। किन्तु "In 1879 followed Crookes' epoch-making experiments on the mechanical properties of the mysterious vacuum discharges called cathode rays by Goldstein.... Crookes, pushing the vacuum to the further attainable point, and leaving in the tube only one millionth of the air originally contained in it, obtained what he called "radiant matter" in a fourth state, superior in dilution to the third or gaseous state, and marked by a still further disappearance of differentiating qualities such as is observed in passing from solid to liquid and from liquid to gas. He actually constructed a little windmill driven by

a torrent of electrons of the real 'electric fluid' as we know it." इसीलिए आज के वैज्ञानिकों ने अपनी देह के भीतर नहीं, एक tube के भीतर रेचक-प्रक्रिया द्वारा अन्तर्गत वायु को बाहर सरकाकर vacuum अथवा rarefied gas की सृष्टि करके, जड़ की सूक्ष्मादपि सूक्ष्म मूर्त्ति को "torrent of electrons" के रूप में देख डाला, उसकी सहायता से एक हलका-सा चक्र घुमाकर देख लिया कि वह शक्तिसम्पन्न है एवं मैगनेट की सहायता से उसका गति-पथ टेढ़ा करके देखा, यह वस्तुतः सौदामिनी की ही लीला-क्रीड़ा हैं। रेचक की सहायता से हमारी देह के भीतर स्थित वायु को बाहर धारण करके देह को बहुत-कुछ उस Vacuum tube जैसी दशा में नहीं लाया जाता है क्या ? देह के भीतर वैसी अवस्था में मेरुदण्ड के मार्ग से एक torrent of electrons ऊपर की ओर प्रवाहित हो सकता है कि नहीं एवं इस विपरीत स्रोत के वेग से पृथ्वी के आकर्षण पर विजय होने पर देह की लघुता सम्पन्न हो सकती है कि नहीं—ये सब बातें विशेष रूप से अनुसन्धान, परीक्षा व विचार करके देखने की हैं। केवल सुनकर दकियानूसी कहकर उड़ा देना उचित नहीं।

आपाततः प्राणायाम के सम्बन्ध में हमारी अन्तिम बात यही है कि इसका फलाफल यदि सचमुच होता है तो उसकी कैफियत आधुनिक विज्ञान के अङ्गुलि-निर्देश के अनुसार electrical attraction and repulsion की सहायता से देने में शायद धृष्टता न होगी। तड़ित्-बिन्दुओं के परस्पर खींचने-ठेलने की सहायता से जड़ के आकर्षण (gravitation) की व्याख्या देने का उपक्रम जब हुआ है, तब प्राणायाम-सिद्धि के फलों को इस नूतन आलोक में परख देखने में हमें लज्जित या अप्रतिभ क्यों होना चाहिए ? प्राणायाम की आलोचना ने हमें पथभ्रष्ट नहीं किया है। हमने जिस जड़तत्त्व के सम्बन्ध में प्राचीन ज्ञान व नवीन ज्ञान में सहमति करने का सूत्रपात किया है, उसके मनन-चिन्तन से पहले दो-एक बार प्राणायाम कर लेने में शायद कोई भूल नहीं हुई है। मन्त्रजप व अन्यान्य धर्मानुष्ठान के मूल में है प्राणायाम। उससे वायु स्थिर होता है एवं वायु के स्थिर होने पर मन भी स्थिर होता है। मन व वायु का सम्पर्क इतना घनिष्ठ क्यों है ? हम जैसा जोड़-तोड़ करके शास्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या जुटा रहे हैं, उससे व्याख्याता का मन वायुग्रस्त हुआ कि नहीं, ऐसी आशङ्का ही शायद आपमें जगी है; इससे अतिरिक्त और भी कोई सम्पर्क वायु व मन में है क्या ?

इस प्रश्न का उत्तर देने जायें तो हम फिर छान्दोग्य-श्रुति के आरुणि-श्वेतकेतु के उपाख्यान में लौट जायेंगे एवं सम्भवतः वहीं जड़तत्त्व, मनस्तत्त्व या आत्मतत्त्व का मूल भी खोज पायेंगे। विज्ञान जड़ के दानों (कणिकाओं) को क्रमशः तोड़कर, उसके पर्दे धीरे-धीरे खोलकर, कैसे प्राण, मन व आत्मा के स्वरूप व रहस्य की ओर तेजी से बढ़ चला है इसका विवरण कुछ समय बाद ही देना आरम्भ करूँगा।

अब तक electron के साथ परिचय बढ़ाकर हमने विज्ञान की गतिविधि की कुछ ताजी खबरें पहले ही जुटा ली हैं, इन्हें आप लोग कृपया मन के दराज में सँभालकर रखियेगा, खो जायेंगी तो हमारा अब तक का परिश्रम व्यर्थ जायगा।

आपाततः श्रुति नें कैसे साहस से जड़ की संवर्धना की है इसे आप देखें। पश्चिम के कट्टर जड़वादी (materialist) के सिवा और कोई मन को अन्नमय कहने का साहस नहीं करता। जो भात-दाल-तरकारी हम खाते हैं, वही जीर्ण होकर रक्त-मांस आदि बनता है, स्नायुमण्डली व मस्तिष्क बनता है एवं इन स्नायुमण्डली व मस्तिष्क की ही सन्तान है मन—यह बात पश्चिम देश में जिसने कही उसका वहाँ के शिष्ट-समाज में हुक्का-पानी बन्द जरूर कर दिया गया। इसलिए जो लोग यही बात कहना चाहते हैं उन्हें खूब ढक-लपेटकर, घुमा-फिराकर कहना पड़ता है। भय रहता है कि कोई उनकी असली बात पकड़ न ले। दृष्टान्त देकर आपका और समय नष्ट नहीं करूँगा।

जान-बूझकर हो या न हो, ऐसी चालाकी पश्चिम के अनेक पण्डितों ने खेली है। जिस देश में जुआ, रेस आदि का इतिहास है वहाँ अवश्य ही 'नाना मुनियों के नाना मतों' का इतिहास भी होगा, उस इतिहास के पन्ने पलटकर देख पाते हैं कि उस देश के जड़वादी कैसे अज्ञेयवादी व संशयवादियों का मुखौटा पहनकर उन सब भद्र-कुलीनों के साथ एक पंक्ति में भोजन कर रहे हैं। किन्तु वेद के समय खुले मैदान में नाचने उतरकर भी ऐसा घूँघट डालने का कोई बहुत रिवाज नहीं था। आरुणि ने स्पष्ट शब्दों में पुत्र श्वेतकेतु को कहा है कि मन अन्नमय है, प्राण आपोमय है एवं वाक् तेजोमयी है। वायु तो हलकी चीज है, हमें दिखाई भी न देती हुई शरीर पर फूँक मारती घूमती रहती है, उसे पकड़कर योगशास्त्र ने मन का वाहन बनाया, उससे स्पष्टतः कोई बड़ा सर्वनाश उत्पन्न होते नहीं देखता। होंने पर भी पण्डित के समान आधा छोड़कर ethereal या astral medium की तरह का कोई सूक्ष्मभूत ही पकड़ लेंगे। किन्तु पाँच-सात पैसे में विलसन के होटल से एक टोस्ट चबा-खा डाला और उसीके 'अणिष्ठ अंश' ने जाकर मेरे मस्तक की खोली के भीतर एंग्लोबङ्गाली मिजाज तैयार कर दिया—ऐसी बात प्राचीन लोग साहस करके कहते थे। इसी प्रकार जल के 'अणिष्ठ अंश'-समूह से प्राण की परिपुष्टि होती है एवं तेज के अणिष्ठ अंश की वाक् में परिणति। स्थूल दृष्टि से देखने जायँ तो इससे अधिक साहस की बात इतने स्पष्ट शब्दों में किसी भी जड़वादी ने नहीं कही है। किन्तु क्या सच ही यह जड़वाद (materialism) है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए 'जड़' का एक विशद लक्षण हमें कर लेना होगा।

पाश्चात्य विज्ञान की ओर से अग्रसर होकर हमने इस बीच 'जड़' का एक कामचलाऊ परिचय पाया है। विस्तृत परिचय, जन्मकुण्डली हमें शीघ्र ही पा लेनी होगी। आपाततः जितना-सा परिचय पाया है, उसमें जड़शक्ति अवस्था-विशेष में परिणत होने लगी है। जड़पदार्थों में हम त्रिमूर्ति विराजित देखते हैं—कठिन, तरल, वायवीय। वायवीय अवस्था पदार्थ की अपेक्षाकृत खाली अवस्था है, जिसमें कि पदार्थ के दाने थोड़ी-बहुत खाली जगह में दौड़-भाग कर सकते हैं, आधी शताब्दी पहले योरोप के पण्डित कुछ और सोचते थे, किन्तु अब क्लाज़ियस, मैक्सवेल के बाद से वायवीय पदार्थ के दाने मानो बिलियर्ड-गेंद के समान दौड़ रहे हैं, टक्कर खाकर लौट रहे हैं—ऐसा ही कुछ विवरण सुधीसमाज ने स्वीकार किया है। यही प्रसिद्ध kinetic theory of Gases है। केवल गैस ही क्यों, कठिन व तरल द्रव्य के दाने भी बिल्कुल सुस्थिर नहीं हैं, हमारी आँख व यन्त्र में वे अचल दिखने पर भी वास्तव में वे सचल हैं, अवश्य ही वायवीय वस्तु की तरह चलने-फिरने की दौड़ व वेग उनमें वैसा नहीं है। हवा में निर्दिष्ट ताप व चाप (normal temperature and pressure) में ये दाने (molecules) कितनी जगह में कितने हैं, औसतन हिसाब से कितने वेग से दौड़-भाग करते हैं (mean speed) और औसतन ही कितने से अवकाश में टक्कर खाने से पहले तक दौड़ सकते हैं (mean free path) यह सब कुछ जोड़-गिनकर वैज्ञानिकों ने ठीक हिसाब बना लिया है। किन्तु पदार्थ के इन दानों (molecules) को घुमा-फिराकर (molecular physics) क्षान्त हो सकता है, रसायन-विद्या इतने पर ही चुप नहीं बैठती। उन दानों को तोड़कर रसायन-विद्या ने हमें दिये अणु (atoms)। कुछ-एक अणु मिलकर एक molecule बनता है। जल एक यौगिक द्रव्य है, जलरूप में ही उसका जो सूक्ष्मतम अंश है वह जल का molecule है। इस एक molecule को तोड़ने पर तीन अणु मिलते हैं, जिनमें दो हाइड्रोजन के हैं, एक ऑक्सीजन का। ये 'H' तथा 'O' उपादान होने पर भी जल नहीं हैं। H अत्यन्त हलके स्वभाव का है; उसीको एक परिमाण मानकर रसायन-विद्या अन्यान्य द्रव्यों का परिमाण देती है। H तथा इसी तरह के सत्तर-अस्सी अणुओं को लेकर विज्ञान कुछ समय तक निश्चिन्त होकर काम चला रहा था। इन्हें ही चरम भूत कहता था। बहुतों को इन्हें चरम मानने में सन्देह उठता था, किन्तु प्रमाणों के सामने कोई और गति न थी। इन्हीं सत्तर-अस्सी तरह के माल-मसालों से प्रकृतिदेवी के विराट् महानस (रसोईघर) में निखिल भोग्यवस्तुएँ तैयार हुई हैं—यही मामूली धारणा थी। मेण्डिलिफ की तरह कोई-कोई इस मालमसाले के बाहुल्य को ही रुचिकर समझते थे। ये लोग बहुजड़वाद को या atomistic pluralism को इष्टकवच की तरह छाती पर पहनने लगे थे। किन्तु ion (charged particle) दिखने से तथा moving charge, cathode rays, रेडियम आदि ने

मैदान में उतरकर विज्ञान के दक्ष-यज्ञ में मानो एक भैरव शिव-ताण्डव आरम्भ कर दिया था, "यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"—इस सत्य-शिव-सुन्दर को निमन्त्रण न देकर पाश्चात्य दक्ष विज्ञान-यज्ञ फैलाकर बैठा था; हाइड्रोजन व ऑक्सीजन नामक इस भूत, उस भूत के मुँह में बलि डाल रहा था, किन्तु भूल गया था स्वयं पशुपति भूतनाथ को। इसीलिए आज बीस-पचीस वर्ष से सब उलट-पलट होता जा रहा है। सभी भूत एक-एक मुकुट धारण करके स्वयं अपने-अपने में प्रधान हो रहे थे; आज पुनः स्वयं भूतनाथ के तैजस कलेवर के चरणों में इनका मस्तक अवनत होने से सभी मुकुट धूलि में लोट रहे हैं। आज विज्ञान ने भूतनाथ की जिस तैजस मूर्ति का साक्षात्कार किया है, उसीको हमने पहले ही सर विलियम क्रुक्स की परीक्षा में "radiant matter in the fourth state" रूप में देखा है। यह भूतनाथ का एक भगवत्तामय विग्रह है, हम बड़े सम्भ्रम (आदर) से इसे अभिवादन करते हैं।

यही चरम या परम तनु है यह कहने का साहस नहीं होता। अवश्य ही प्राचीन काल में महिषासुर के वध के प्रसङ्ग में तैंतीस कोटि देवताओं के पृथक्-पृथक् तेजों ने मिलकर जैसे देवी-देह का निर्माण किया था एवं उसीमें सब देवता लीन हो गये थे (सर्वस्व हार गये थे) एवं उसीमें अपनी समस्त आकांक्षाओं की चरितार्थता पायी थी, उसी प्रकार आज पुनः हमने देखा कि भूतनाथ की 'विद्युद्दाम-समप्रभा' (विद्युत्-माला की चमक के समान कान्तिवाली) एक मूर्त्ति में ही अपरा-विद्या के समस्त विशेषों (स्व-स्व-प्रधानता) को लिये हुए भूतगण सभी पर्यवसित हो गये हैं।

बहुत्व-विज्ञान जब-जब एकत्व-विज्ञान में इस प्रकार पर्यवसित होता है, अपरा-विद्या जब तट का बन्धन नहीं सह पाती और परा-विद्या के महासागर की ओर प्रसारित होती है, तब-तब मानव के अध्यात्म-राज्य में एक-एक दक्ष-यज्ञ का अभिनय होता है। इतिहास इन्हें कहता है भाव-विप्लव। जो भी हो, आज के विज्ञान ने भूतों के सम्पिण्डीकरण को एक प्रकार से समाधान बना रखा है। अब तड़ित् की कणिकाओं (corpuscles) को पहचान सकें तो ही भूत-पदार्थों की नब्ज पकड़ी जा सकती है। Sir J. J. Thomson विभिन्न प्रकार के भूतों (हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि) को electric charges के विचित्र विन्यास कहते हुए कई वर्षों से व्याख्या देते रहे हैं। उनकी इस कल्पना को सर्वथा अमूलक कहकर उड़ा देने का साहस हमें नहीं है। यह विन्यास ठीक-ठीक कैसा है इसे पूरी तरह स्पष्ट न कहा जा सकने पर भी एवं उस सम्बन्ध में नाना मुनियों के नाना मत रहने पर भी रसायन-विद्या के अणु वस्तुतः एक ही हैं। इसे वैज्ञानिकों ने अकम्पित कण्ठ से हमें सुनाना आरम्भ कर दिया है। अच्छा, किन्तु

तड़ित्-कणिकायें क्या हैं ? Prime Atom भी स्वरूपतः क्या हैं ? इन प्रश्नों का सन्तोष-जनक समाधान अभी भी हमें मिला नहीं है। तब भी बहुतों के मन में आता है कि ये ईथर नामक एक विभु पदार्थ की अवस्था-विशेष हैं। लॉर्ड केल्विन अणुओं को ईथर की छोटी-छोटी कुण्डली (vortex rings) समझते थे—यह हमने सुना है। प्रो० लर्मर कहते थे, ये हैं—centres of strain in the ether. एक रबड़ की गेंद को हमने हाथ में दबाकर चपटा कर दिया; यह जो गोल से चपटा होना रूपी रूपान्तर-प्राप्ति है इसीको गेंद का strain कहा जायगा। किसी एक केन्द्र या nucleus को आश्रय बनाकर थोड़ा-सा ईथर यदि असाधारण रूप से एकत्र सज्जित हो (take up a new configuration) तो उन्हीं केन्द्रों को centres of strain कहा जायगा एवं सम्भवतः Prime-atom भी ईथर में इसी प्रकार के एक-एक centres of strain —intrinsic strain हैं। प्रो० कार्ल पियर्सन के अनुवर्ती होकर जड़ अवयवों (elements of matter) की सूक्ष्मता के तारतम्य एवं ईथर के साथ उसके सम्बन्ध का नक्शा आँका जा सकता है।

बहुत से molecules मिलकर एक particle एवं बहुत से पार्टिकल मिलने से एक स्थूल जड़ द्रव्य बना है। ऐसा हो तो जड़ का मूल खोजने में हमने पायी—ईथर की विभिन्न स्थानों पर विविध वैषम्य की अवस्था। ईथर जैसे कुछ-कुछ सांख्य की प्रकृति के समान है, वैसे ही यदि ईथर ठीक एक ही अवस्था में (homogeneous, undifferentiated) रहे तो विशिष्ट जड़ द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती, विविध प्रकार से विकार-विषमतायें होने पर ही ईथर से जड़ उत्पन्न हुआ है। आधुनिक विज्ञान ईथर और उसके strain व stress में ही जड़ का मूल खोज पा रहा है। किन्तु ईथर स्वयं क्या है यह अभी भी ठीक-ठीक समझा नहीं जा सका है। यह वास्तव में जड़ पदार्थ जैसा कुछ है भी कि नहीं, इस विषय में भी विविध कल्पना-चर्चा चल रही हैं, विज्ञान अभी भी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा है। ईथर के स्वरूप के सम्बन्ध में कितने मतवाद उठकर समाप्त हो गये कौन कह सकता है ? विशेष रूप से 'आकाश-तत्त्व' पर विचार करते समय हमें ईथर के स्वरूप को कुछ और उलटना-पलटना होगा।

अब, क्या आपने ध्यान दिया है कि विज्ञान ने जड़द्रव्य को ईथर एवं उसके वैषम्य-विशेष द्वारा व्याख्या के योग्य कहकर अनजाने ही हमें किस घेरे में डाल दिया है ? यह ऐसा घेरा है जहाँ जड़ और प्राण एवं प्राण व मन के बीच का व्यवधान विलीन होकर सभी एकाकार होने को प्रस्तुत हैं। सभी कुछ ईथर का खेल है और ईथर फिर साधारण जड़ वस्तु की तरह की कोई नियत वस्तु नहीं है ऐसा कहते ही तो जड़ की सीमा एक प्रकार से टूट ही गयी। हमारी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण की जा

सकनेवाली, मूर्त, परस्पर खींचा-तानी, ठेला-ठेली करने के स्वभाववाली, आपेक्षिक गुरुत्व से युक्त वस्तुयें ही जड़ हैं, अतः लक्षण के अनुसार प्राण की जड़ से सर्वथा पृथक् कल्पना करनी होगी; मन को भी पृथक् एक सीमा में रखना होगा—ऐसा सोच बैठने के दिन अब लद चुके, जिस दिन रासायनिक अणु वास्तव में रासायनिक समझे गये एवं फटकर 'प्राइम एटम' आदि में परिणत हुए। पुनः न जड़, न जड़ से भिन्न ईथर नामक एक विभु पदार्थ के वैषम्य केन्द्र-गुच्छ (centres of intrinsic strain) के रूप में उनकी विवेचना आरम्भ हुई।

अब जड़ की सुव्यवस्थित सीमा कहाँ है जो रेखा की भाँति सूचित करे कि यहीं तक जड़ हैं, इससे बाहर जड़ से भिन्न कुछ है—प्राण, मन, आत्मा आदि? ऐसा कोई नपा-तुला लक्षण दिया जा सकता है क्या? जिसके कहीं लागू होने पर कहा जा सके कि यह जड़ है एवं लागू न होने पर कहें कि यह जड़ नहीं हैं; कुछ और है? सभी कुछ तो जाकर ईथर में पर्यवसित, विलीन हो जाता है या तड़ित् में परिणत हो जाता है—mass electro-magnetic mass बन जाता है। और वही मूल असामी ईथर अथवा तड़ित् अपना बयान लिखाने को तैयार नहीं। ऐसी अवस्था में लक्षण-निर्देश या तत्त्वों का क्षेत्र-सीमा-निर्धारण कैसे किया जाय? ईथर अपनी बात कहे तो हम मूल की खबर (वस्तुस्थिति का पता) पाकर जड़ की कोई न कोई सुव्यवस्थित परिभाषा बना ही लेते। किन्तु ईथर जिस भाषा में बात करता है उसमें हम मुख खोल ही नहीं पाते। मैक्सवेल, लॉरेन्ज, लॉर्मर आदि वैज्ञानिक कठिन समीकरणों के अंक बैठाकर ईथर का कुछ हिसाब कर रहे हैं अवश्य, किन्तु उससे इस विभु का जो लक्षण मिलता है, वह तटस्थ ही लक्षण है; और उसकी भी कल्पना करना तो दूर रहा, समझने के प्रयास में ही हमारे प्राण तटस्थ हो उठते हैं। स्वरूपलक्षण (physical interpretation) का तो कुछ पता चलता ही नहीं।

इसी कारण हम कह रहे थे कि 'अन्न से ही मन उत्पन्न व परिस्फुट होता है'—छान्दोग्य की यह बात सुनकर हमें माथे पर हाथ रखकर बैठ नहीं रहना होगा, घुमा-फिराकर श्रुतिवाक्य की एक व्याख्या खड़ी करके वेद का सम्मान बनाये रखने की भी चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी। जिस वस्तु को 'अन्न' मानकर खा रहे हैं, उसीका सूक्ष्मतम (अणिष्ठ) अंश वे प्राइम अणु हैं इसे क्या बिना झिझके कह सकेंगे? अन्न के दाने पर अन्वेषण करते-करते कहाँ जाकर यह आविष्कार करोगे कि अन्न की प्रकृति 'अमूलं मूलं वा' भी है। प्रसङ्गतः यह कह ही दूँ कि बहुधा वेद-मन्त्रों व उपनिषदों में 'अन्न'-शब्द का प्रयोग दाल-भात के अर्थ में नहीं, बल्कि सृष्टि की मूलवस्तु या उपादान के अर्थ में हुआ है। प्रमाण बाद में देंगे।

कुछ दिन पहले chemical atom पाकर वैज्ञानिकों ने समझा, चरम वस्तु मिल गयी। अब दृष्टि और भी प्रसारित हो रही है। तड़ित् व ईथर के टुकड़े किये जा रहे हैं एवं इन सब टुकड़ों की सहायता से विवरण प्रस्तुत करने का उद्योग चल रहा है। और वे तड़ित् व ईथर ठीक जड़ हैं कि नहीं कहा नहीं जा सकता; शायद हमारे परिचित जड़-अणुओं के साथ इस विभु पदार्थ का सभी अंशों में मेल नहीं है। इसलिए "अन्न का सूक्ष्मतम अंश मन को बना रहा है, जल का सूक्ष्मतम अंश प्राण बनाता है" आदि सुनकर अधिक चमत्कृत होने की बात अब नहीं है। वस्तुतः श्रुति ने तो [१]"एक ही सद्वस्तु को विप्रों ने बहुत रूपों में व्यक्त बताया है' या 'एक को ही विप्रजन अनेक प्रकार की बताते हैं' तथा [२]"एक वस्तु के जान लिये जाने पर सभी कुछ ज्ञात हो जाता है', [३]"यह समस्त विश्व ब्रह्म ही हैं'—इत्यादि महावाक्यों में जो ऐक्य व साम्य का विराट् स्वर उठाया है, कितने हजार वर्षों से आज अनेक भूल-भ्रान्ति, संशय-मनन, अनुसन्धान, परीक्षाओं के बाद पश्चिम की अर्वाचीन विद्या भी उसी सुर में सुर मिलाने में कुछ-कुछ सचेष्ट व समर्थ हो रही है, यही क्या आश्वासन नहीं है ? सभी कुछ जब आत्मा है, अतः मूल में एक है तो अन्न के सूक्ष्म अंश मथे जाते हुए दही में से मक्खन की तरह ऊपर उठकर अर्थात् स्थूल अंशों से कुछ-कुछ विच्युत (detracted) होकर मन का आहार्य बन जाते हैं एवं उसे परिस्फुट करते हैं यह सुनने पर विस्मय क्यों होगा ? Radio activity द्वारा वैज्ञानिक देख रहे हैं कि एक जाति के जड़ पदार्थ में भीतरी कुछ विप्लव होने पर वह अन्य जाति का जड़ बन जाता है—कुछ दिन पहले यह तथ्य अविश्वसनीय था, पर अब स्वीकृत, सम्मत बात है। इसी बात को हमने कुछ और खोलकर कह दिया तो क्या बड़ा अपराध हो जायगा ?

रेडियम में से charged helium particles electrons एवं X-rays प्रबल वेग से छटककर बाहर आ रही हैं, वस्तुतः स्थूल दानों से सूक्ष्म दाने छिटक रहे हैं, हम देखते हैं। आरुणि ने इस बात को दही के उदाहरण से बताया, वह अवश्य ही उदाहरण ही है। अन्न का अणिष्ठ अंश परिमाण में दही में से निकले नवनीत के कणों के समान मोटा दाना नहीं है। वैसे मोटे दानों से मन का पोषण नहीं होता। 'अणिष्ठ' शब्द पर लक्ष्य रखें—सूक्ष्मता के चरम में जाना होगा। आधुनिक विज्ञान ने जड़ की आणविक मूर्त्ति कुछ-कुछ देख ली है, उससे भी अधिक सूक्ष्म मूर्त्ति का ध्यान स्थिर करें तो शायद हम समझ सकेंगे कि ठीक किस प्रकार जठर में स्थित भस्मकीटों की पाक-प्रणाली के माहात्म्य से खाया हुआ अन्न आलोड़ित, मथित, विश्लेषित होता है, फिर उसकी अणिष्ठ कणिकाएँ पृथक् छँट जाती हैं एवं फिर किस प्रकार वे अणिष्ठ अंश मन के अवयव बन जाते हैं।

हमने ऊपर ही ऊपर से बातों ही बातों में तथ्य समझने की चेष्टा की। आधुनिक विज्ञान के तड़तत्त्व ने यह समझने में हमें कुछ अग्रसर कर दिया है, किन्तु अभी भी वहुत मार्ग तय करना वाकी है। ईथर या आकाशतत्त्व को समझना होगा। आकाश से वायु, उससे तेजस् आदि कैसे निकले यह समझना होगा। पञ्चभूतों से मन और प्राण कैसे उत्पन्न हुए इसकी खोज करनी पड़ेगी। जब तक ये सब वातें नहीं समझते तव तक व्यर्थ ही वहुत चक्कर काटने होंगे,—मन तो चेतन है, वह अचेतन, पूरी-तरकारी से कैसे उपजता व परिपुष्ट होता है ? होता अवश्य है इसे तो श्वेतकेतु ने एक पक्ष उपवासी रहने के वाद भोजन लेकर देख लिया। किन्तु यह कैसे होता है ? मस्तिष्क के पोषण (Brain-nutritions) आदि द्वारा व्याख्या करोगे ? किन्तु वहाँ भी मस्तिष्क-पोषण के साथ मन की परिपुष्टि के सम्वन्ध का रहस्य खुलता नहीं। झमेला इससे है कि मन चेतन है यह कहने पर मन पृथक् और अन्न (के साथ मस्तिष्क भी) पृथक् कहना पड़ेगा, फलतः दोनों में परस्पर कोई कारवार नहीं चल सकता। किन्तु हमारे वैदिक दर्शन में 'मन' का अर्थ क्या है एवं वह किस प्रकार चेतन है एवं अचेतन भी कैसे है ? वह अन्न का आत्मीय कैसे है ? उससे विजातीय भी कैसे है ? ये सब बातें स्पष्ट हुए विना आलोचना छिछली रह जाती है। सुतरां हम आकाश-तत्त्व से आरम्भ करके पहले देखेंगे—आधुनिक विद्या का ईथर उसके रिश्ते में क्या है ?

●

पाँच

आकाश और ईथर

पाश्चात्य विज्ञान की मशाल का अनुसरण करते हुए हम जड़ पदार्थ के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो गए। बाहर से जड़ पदार्थ कितना ही गुरुगम्भीर एवं विराट् रूप से सत्य दिखा करे, उसके भीतर तो एक जादू जैसी पोल है। कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय की प्रथमा वल्ली में पहले ही जो कहा है—'पराञ्चि खानि व्यतृणत्'—इत्यादि, वही ठीक है। स्वयम्भू की व्यवस्था के फलस्वरूप हमारी इन्द्रियाँ बाह्य विषयों की ओर ही दौड़ रही हैं—मूर्त जड़ वस्तुओं को देखने-सुनने-पकड़ने-स्पर्श करने, उपभोग करने के लिए ही व्याकुल हैं। इनके भीतर की खबर लेने का अवसर किसीको नहीं है। इसी बाहर के शासन और अत्याचार से प्राण हमेशा ओठों में आये रहते हैं। जीव बेचारा थोड़ा सुस्थिर समाहित होकर दुष्ट चञ्चल इन्द्रियों को अपने वश में करके अपने-आप (प्रत्यगात्मा) को पहचान ले एवं उसके फलस्वरूप अमृतत्व प्राप्त कर ले ऐसा सौभाग्य किसी-किसीका ही कदाचित् ही देखने में आता है।

इन्द्रियों की वृत्ति बहिःप्रवण (बाहर की ओर चली हुई) होने के कारण कठिन, तरल व वायवीय जड़वस्तुएँ ही हमारे लिए वस्तु हैं। साकार, मूर्त, पकड़ने या छूने लायक वस्तु न हो तो वह हमारे लिए वस्तु ही नहीं है—वह होगी कल्पना या भाव या ऐसा ही कुछ और। वेद कह रहे हैं "धाता ने पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि की पहले के सदृश ही कल्पना की है, उनकी कल्पना ही हमारा वास्तविक जगत् है। किन्तु हमारे पास जो भाव है वह अभाव में ही शामिल है। जब तक उसे देख-सुनकर, पकड़-छूकर मूर्त साकार (materialise) न कर लें तब तक जैसे सभी कुछ खोखला, शून्य-सा, अवास्तव प्रतीत होता है; अतः तब तक हमें चैन नहीं मिलता। "जब तक उसे नयनों में नहीं पाया" तब तक कम-से-कम 'उसकी मुरली' तो सुनी है—इतना सोच पाने से भी कुछ आश्वस्त हो सकते हैं। किन्तु वंशी सुनकर 'वह मन में है कि वन में है'—यह संशय उठ खड़ा हो तो फिर किसी प्रकार 'धीरज' नहीं बँधता। यह दो दिशाओं में खिचना केवल 'श्रीमती' (राधिका) ही क्यों मानवात्मा के लिए भी असहनीय है; न जाने क्यों? किस व्यवस्था के फलस्वरूप मानवात्मा को सोलह आने विश्वास नहीं जमता, निश्चिन्तता नहीं आती—केवल भीतर देखकर या सुनकर वह उसे बाहर भी देखने-सुनने के लिए चिरकाल का भिखारी, शाश्वत-कङ्गाल है। ध्रुव जिन्हें ध्यान में देखकर तन्मय हो गये थे उन 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष' को बाहर भी साकार देखकर उनके

'वरेण्य वपु' का स्पर्श पाकर ही स्वयं को कृतार्थ मान सके थे। यह 'बाहर' का कैसा आग्रह है नहीं कह सकते, अवश्य ही हम सब उसके गुलाम हो गये हैं। इसीलिए 'बाहर' हमारे लिए इतना बड़ा, इतना सत्य, इतना भारी, इतना जबर्दस्त है। यह बाहर या बाह्य ही जड़ है।

वेदान्त ने जिस अर्थ में जड़ को लिया है, उससे उनके मत में किसी वस्तु को जड़ होने के लिए इन्द्रियग्राह्य होकर बाहर रहने की आवश्यकता नहीं। अन्तःकरण में हो या बाहर हो जिस वस्तु को मैं 'इदं' या 'अस्मत्' ('यह' या 'मेरा') रूप से जान रहा हूँ, वही हमारे अनुभव का विषय बनी है, वही जड़ है। जो अनुभव कर रहे हैं वे चेतन हैं, विषयी हैं और मन में हो या बाहर जो अनुभूत हो रहा है, वही विषय या जड़ है। शङ्कराचार्यजो ने इन्हीं बातों से वेदान्त-दर्शन (शारीरक भाष्य) आरम्भ किया है। फलतः लक्षण में जो विवरण हम चेतन व जड़ का पा रहे हैं वह subject (विषयी) और object (विषय) के अनुरूप है। अंग्रेजो में object शब्द से अवश्य बाह्य वस्तु की प्रतीति होती है, जैसे टेबल या किसी व्यक्ति का चित्र। किन्तु object भीतर, मन में भी रह सकता है। जो भी कुछ हमारी भावना, कल्पना अथवा अनुभव का विषय है—आकाश-कुसुम हो या आकाश-यान हो—अपने अन्तःकरण का चाञ्चल्य हो या ईथर का चाञ्चल्य हो—वही object है एवं हमारी वर्तमान परिभाषा के अनुसार वही जड़ है। इस दृष्टि से जो चिन्तन करता है उसे छोड़कर सभी कुछ जड़ है। चिन्तन करनेवाले को यदि 'आत्मा' नाम दूँ तो आत्मा से अतिरिक्त सभी कुछ जड़ है। जो अन्तःकरण हममें निश्चयज्ञान उत्पन्न करता है उसे 'बुद्धि' कहें तो वह अन्तःकरण भी हमारी भावना (चिन्तन) का विषय हो सकता है। "कमलाकान्त कह गये हैं कि लगता है कि इस दुनिया में बुद्धि की ही अधिकता है, क्योंकि कोई भी अपनी बुद्धि को कम नहीं समझता। तो लेखा-जोखा का विषय बनने पर बुद्धि भी हमारी परिभाषा के अनुसार जड़ हो जा रही है, उसीमें मेरी अपनी बुद्धि को भी जड़ कहने से मैं पीछे नहीं हट रहा हूँ। इसलिये सभास्थल में आप सबको बुलाकर आपकी बुद्धि का जैसा संवर्धन मैंने किया है उससे आप लोग रुष्ट होकर चले न जायेंगे ऐसी आशा है।

वेदान्त में जैसी जबर्दस्त परिभाषा या लक्षण बना दिया गया है उसके अनुसार तो 'अहञ्च भाष्यकारश्च' (एक मैं और एक भाष्यकार) की भाँति सभापति एवं वक्ता परस्पर को 'कुशाग्रीयधियाभौ' (दोनों ही कुशाग्र-बुद्धि हैं) कहकर यशोगान करें और श्रोताओं को 'किमन्ये जड़बुद्धयः' (और सब जड़ बुद्धिवालों की क्या कहें ?) कहकर तुच्छ बतायें, इस सम्भावना को अवकाश नहीं। हम सभी की बुद्धि जड़ है। मैं मन्त्र-तन्त्रादि की व्याख्या द्वारा कितनी ही अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता दिखाऊँ और

आप लोग उस व्याख्या को समझ न पायें तो मन ही मन आपकी बुद्धि को निपट जड़ दिखाने की कोशिश क्यों न करूँ, बुद्धि की वस्तुस्थिति के अनुसार तो हम सभी एक गोत्र के ही हैं।

हमारे भीतर जो अन्तःकरण संकल्प-विकल्प करता है, उसे 'मन' नाम दें तो देखते हैं कि उसी भूत के उपद्रव से हमें पागल होकर इधर-उधर दौड़ना-भटकना पड़ता है। मन में क्या उठ रहा है, क्या विलीन हो रहा है, उसीको देखते-देखते एवं यथाशक्ति उन रंगीन नश्वर बुलबुलों का अनुसरण करते-करते ही हम चौरासी लाख शरीरों में घूमते-घूमते अन्त में इस मानव-देह में आये हैं। मनोवृत्तियाँ भी हमारे अनुभव का विषय हैं, अतः लक्षण के अनुसार मन भी जड़ ही है। इसी कारण से आकाश जड़ है। वायु, तेज, जल, पृथ्वी एवं उनके विकार भी इसी कारण जड़ हैं। जो प्रकाशक हैं, स्वयं प्रकाश्य नहीं हैं, जो ज्ञाता है वह ज्ञेय नहीं है, द्रष्टा हैं, दृश्य नहीं हैं वे ही केवल चेतन हैं। उनके सामने जो कुछ भी प्रकाशित, ज्ञात, या दृष्ट हो रहा है, वही जड़ है। पुनः कठश्रुति का स्मरण आ रहा है। द्वितीय अध्याय की द्वितीय वल्ली के अन्तिम मन्त्र में कहा है—'न तत्र सूर्यो भाति.....' इत्यादि। "उस स्वप्रकाश आनन्दमय आत्मा को सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि कोई भी प्रकाशित नहीं करते, विद्युत्-समूह भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकता। यह सभी का दृष्टिगोचर अग्नि भला उसे क्या प्रकाशित करेगा ? चन्द्र-सूर्य आदि सभी ज्योतिर्मय पदार्थ उसी आत्मा की दीप्ति से प्रकाशित होते हैं।" केवल ज्योतिष्कमण्डल ही क्यों; निखिल जगत् ही उनकी आभा से प्रकाशित होता है। इस प्रकार आत्मा या 'मैं' निखिल ब्रह्माण्ड का प्रकाशक होने के नाते चेतन है और प्रकाश्य होने के नाते ब्रह्माण्ड जड़ है। उक्त कठश्रुति में विशेष रूप से बाह्य जगत् के प्रकाश के सम्बन्ध में कहा है। सूर्य को देखने से लगता है कि शायद यही ससार को प्रकाशित करते हैं; तब हम यह भूल ही जाते हैं कि हम देख रहे हैं तभी तो सूर्य जगत् को प्रकाशित कर रहे हैं, हमारी आँख बन्द हो तो सभी अन्धकार है। सूर्य स्वप्रकाश नहीं, आत्मा द्वारा प्रकाश्य है। और दृष्टान्त लेने की आवश्यकता नहीं। भीतर या बाहर की जो भी वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बनती है, वही हमारे वर्तमान लक्षण के अनुसार जड़ है।

सांख्य-दर्शन के पुरुष और प्रकृति का नाम आपने सुना होगा। ये दोनों मिलकर इस संसार को चलाने के मालिक हैं। उनमें भी प्रकृति ही चल रही है और सभी कुछ बन रही है—जो संसार दिखाई पड़ता है वह प्रकृति का ही विचित्र रूप है। किन्तु चलनेभर से क्या प्रकृति अपनी आँखों से देख नहीं सकती ? पुरुष देख सकता है, भोग भी कर सकता है किन्तु लँगड़ा है, चलने की सामर्थ्य उसमें नहीं, निष्क्रिय या निष्कर्मा है, एक अन्धा है, दूसरा लँगड़ा। किन्तु समझ-बूझकर चलना
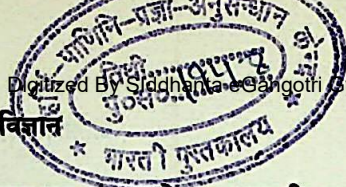
होगा। यह समझ-बूझकर चलने का नाम ही जगत् है। जिस चलने-फिरने को जगत् कह रहा हूँ, उसमें कोई गोलमाल नहीं है। न्यूटन, गैलिलियो, लाप्लॉस आदि के बाद से पाश्चात्य वैज्ञानिक इस संसार में अव्यवस्था नाम की वस्तु कहीं नहीं रहने दे रहे हैं। इसलिए चलना-फिरना भी बेताल, टेढ़ा-मेढ़ा पाँव बढ़ाना नहीं है कहने से अत्युक्ति न होगी। गोलमाल कतई नहीं है, कहीं नहीं है—ऐसा तो जोर देकर नहीं कह सकता। जो भी हो, ऐसा हिसाब करके और व्यवस्था करके ही वे काना और लँगड़ा चल रहे हैं। कैसे ? अन्धे के कन्धे पर लँगड़ा बैठकर उसे मार्ग बता रहा है। अर्थात् जगत् तो चल रहा है, मैं देख रहा हूँ। इसीलिए चलता है। जो देख रहा है वह स्वयं कूटस्थ साक्षी हो तो भी क्या ? निष्कर्मा रहकर केवल देखता रहे तो भी क्या ? वह देख रहा है इसीलिए जगत् जगत् है। इसलिए सृष्टि का कल-कारखाना केवल कोई चलनेवाला रहने से नहीं चलता। कोई देखनेवाला भी होना चाहिए। चाहिए हो न हो, कोई देखनेवाला है यह मैं देख रहा हूँ। उसी द्रष्टा को कोई 'आत्मा' या 'पुरुष' कहते हैं। उसकी संख्या व परिमाण कहने जाऊँ तो एक अँगुली दिखाऊँ या अनेक अङ्गुलियाँ दिखाऊँ—यह यहाँ विचार का विषय नहीं है। यह देखनेवाला कोई द्रष्टा चेतन है, सांख्य ने जिसे पुरुष कहा है। पतञ्जलि ने कहीं उन्हें चित्शक्ति, दृक्शक्ति आदि भी कहा है। जो अन्धा है वह सतत चञ्चल होते हुए भी जड़ है। लक्षण को ध्यान से देख लें—जो जरा भी चलते नहीं, केवल देखते हैं वे हैं चेतन, वे चल नहीं सकते। जिसमें देखने की क्षमता नही, वही जड़ है। इस चेतन-अचेतन तत्त्व के विषय में हमारी अंग्रेजी भाषा में दो-एक भारी पुस्तकें हैं जो हमारी शय्या के नीचे बिल्कुल अचल, स्थाणु होकर पड़ी हुई हैं। वह भी ठीक कूटस्थ रूप से पड़ी हैं या नहीं यह कहना कठिन है। क्योंकि उन्हें घुन लगते व दीमक द्वारा कुछ खाये जाते भी देख रहा हूँ। किन्तु मेरी लिखी वे पुस्तकें सर्वथा अचल होते हुए भी जड़ हैं, क्योंकि मैं देख रहा हूँ और पाठक, प्रकाशक, समालोचकों के द्वारों पर घूम-घूमकर पैर घिस जाने पर भी वेदान्त व सांख्य के लक्षणों के अनुसार चेतन पदार्थ रह जाता है, क्योंकि उसकी विडम्बना वही देख रहे हैं जो स्वयं प्रकाशक हैं और स्वयं ही आलोचक भी। वे किसी प्रकाशक द्वारा प्रकाश्य या समालोचक द्वारा समालोच्य नहीं बन सके।

अस्तु, जो भी हो, जिस अन्धे का विवरण हमने पहले दिया, उसका वास हमारे भीतर भी है—वही बुद्धिरूप से हमारे भीतर चल रहा है। अपनी बुद्धि के विषय में हमारा अपना विश्वास जैसा भी हो आपमें से ही पंचों ने इतने दिन तक उसे काना करार रखा हुआ है और हमारे भीतर जो अहङ्कार, मन व इन्द्रियरूप से चल रहा है उसके अन्ध होने के सम्बन्ध में मैं उत्तमपुरुष का (स्वयं अपना) ही साक्ष्य (गवाही) उपस्थित कर सकता हूँ।

तात्पर्य यह है कि सांख्य की प्रकृति को आप विज्ञान का matter यहाँ तक कि Ether के समान कुछ न समझ लीजियेगा। मनोराज्य और वाह्य जगत्—ये दोनों ही प्रकृति के घेरे में हैं, जो उनको देख रहा है—वही केवल इलाके के बाहर है। अपनी शास्त्रीय परिभाषा और आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा को मिला डालें तो बड़ी मुश्किल होगी। शास्त्रीय में आत्मा को छोड़कर बाकी सब कुछ जड़ है। जड़ नाम से स्वतन्त्र कोई तत्त्व या वस्तु है या नहीं, इसे लेकर वेदान्त या सांख्य तर्क करते रहें, हम अभी उस तर्क में भाग नहीं लेंगे; किन्तु खाये हुए अन्न का सूक्ष्मतम भाग मन को बनाता है—छान्दोग्य की यह बात सुनकर हमें किसी और झमेले में नहीं पड़ना है। अन्न यदि जड़ हो तो मन भी जड़ ही है। क्रम या धारा को उलटकर सांख्य कहता है कि बुद्धि या महत् तत्त्व से, अहङ्कार को माध्यम बनाकर एक ओर मन व इन्द्रियाँ, दूसरी ओर आकाशादि पाँच भूत उत्पन्न हुए हैं। ऐसा क्रम उलटने से असली बात की कोई क्षति नहीं होती। सर्वथा विलक्षण, विसदृश हों तो बुद्धि कारण है और पृथ्वी-जल आदि पाँच भूत कार्य हैं—यह कहना सम्भव नहीं लगता। केवल निन्दक के मुँह में ही नहीं, सचमुच बुद्धि गोबर-मिट्टी की बनी हुई है— यह यदि सच हो तो बुद्धि व गोबर में आकाश-पाताल जैसा अन्तर, विलक्षणता है—यह न समझना ही स्वाभाविक होगा।

जो भी हो, दार्शनिक तर्क-वितर्क के जाल में न फँसना ही अच्छा है। हमने प्रधानतः विज्ञान की तरफ से अपनी प्राचीन संस्कृति का एक नया नाप-जोख बनाना आरम्भ किया है। विज्ञान जिसे जड़ या मैटर कहता है वह हमारे शास्त्रानुमोदित जड़ का तो एक हिस्सा ही है—यह भूलना न होगा। पहले कहीं हमने प्राणायाम की व्याख्या के प्रसङ्ग में जिस जड़तत्त्व की अवतारणा की थी वह पाश्चात्य जड़तत्त्व है। आज कटाक्ष से देख लिया कि दार्शनिक साहित्य में जड़ की जो मूर्ति प्रकट हुई है वह और भी व्यापक और विशाल है। बाहर की मिट्टी, पर्वत, पहाड़ आदि ही केवल जड़ नहीं हैं, भीतर व बाहर जो भी कुछ हमारे ज्ञान का विषय बन रहा है वह सभी जड़ है। केवल स्वयं ज्ञाता चेतन है, ज्ञेय सब जड़ हैं। यह लक्षण अत्यन्त स्पष्ट है, इसमें भ्रान्ति नहीं हो सकती।

जड़ कह देने से सभी वस्तुओं की स्थिति सिद्ध कर दी गयी— ऐसा नहीं है। जड़ होने से, आत्मा के ज्ञान का विषय होने से, आत्मा से स्वतन्त्र पदार्थों की स्थिति अवश्य होगी—ऐसा कोई नियम नहीं है। हो सकता है कि परीक्षा करने पर देखने को मिले कि जो देख रहे हैं (ज्ञाता) एवं जिसे देख रहे हैं (ज्ञेय)—वे दोनों मूल में एक हैं। पाश्चात्य देशों में डेकार्ट आदि ने जड़ और मन के मध्य में एक ऐसी खाई खींच रखी है जिसमें गिरकर वहाँ के अनेक दर्शन व विज्ञान पङ्गु व घायल हो गये हैं। पण्डितों का एक दल दुहाई देता है कि मन अलग वस्तु है, जड़ अलग, दोनों का

मेल नहीं हो सकता। किन्तु हम देखते हैं कि ये दोनों एकरूप हैं और खूब घुल-मिलकर हमारे बीच गृहस्थी चला रहे हैं। सिद्धान्त कहता है कि इनका यह मेल-जोल उस खुदा का ही कारनामा है। जिनकी छाया भी एक-दूसरे को नहीं छूती उन्हीं परस्पर विरोधी वस्तुओं को लेकर कायमी बन्दोबस्त अथवा नित्य-नूतन व्यवस्था में उनकी गृहस्थी बैठा देने में वे बड़े निपुण हैं। यह उन्हींकी अद्भुत हाथ की सफाई है। दीजिये उन्हें धन्यवाद। और पण्डितों का दूसरा दल क्या कहता है वह भी सुनिये—जड़ ही असली वस्तु है। मस्तक के भीतर मस्तिष्क (मगज) नाम की जो वस्तु है (पहले महाशय ने अन्य-सम्बन्धी इस वस्तु को गोबर ही बना रखा है) उसीके हिलने-डुलने, चलने-फिरने के सिवा मन एक कदम भी नहीं चलता या मन में स्पन्द नहीं आता। अतः मन भी मगज का ही एक परिणाम है। छान्दोग्य में भी कहा ही है—"अन्न का अणिष्ठ (सूक्ष्मतम) भाग मन बनता है,"—इसे सुनकर पहला दल (पक्ष) तो चिढ़कर लाल हो जाता है।

तीसरा एक पक्ष है। वह कहता है कि मन ही असली वस्तु है। मगज वगैरह सभी कुछ को मन ने ही गढ़ लिया है। अभी भी गढ़ता जा रहा है—कहने या सुनने में ये लोग भी सहिष्णु नहीं। किन्तु उस देश का विज्ञान जितने द्रुत वेग से जड़ और मन के बीच की उस मामूली खाई को पाट ले रहा है, उससे भरोसा होता है कि शीघ्र ही दर्शन और विज्ञान में जड़ की ओर से मन की ओर तथा मन से जड़ की ओर overland Mail (पूरे प्रदेश में आने-जानेवाली गाड़ी) चलने लगेगी। मन ही असली वस्तु है एवं वही जड़ आदि को घड़ लेता है यह कहने में फिर किसीको आपत्ति न होगी। और फिर, जड़ ही असली वस्तु है, मगज का एक परिणाम ही मन है—यह बात सुनकर भी कोई कहनेवाले के मस्तिष्क की जड़ता समझते हुए उसे उपहासास्पद नहीं देखेंगे। वास्तविक असली वस्तु का एक आभास या सन्धान मिल जाय तो इन सब अवान्तर व्यापारों का दङ्गा-हङ्गामा निवृत्त हो जाता है। कठश्रुति ने जिसे प्रत्यगात्मा कहा है, जिसे मूँज में से बीच के (इषीका) तिनके या "डोरे को अलग करने के समान शरीर के भीतर अनुसन्धान द्वारा पृथक् रूप से पाने का उपदेश देकर नचिकेता को [१००]'विजरा' और 'विमृत्यु' होने का उपाय बताया है; निखिल भूतों के भीतर स्थित उसी इषीका का सन्धान कर पायें तो मन, प्राण और जड़ की एकात्मता सुस्थिर हो जायेगी। तब वस्तु की व्याख्या जड़ के द्वारा ही दी जाये—या प्राण अथवा मन द्वारा ही दी जाये—इससे कोई हानि-लाभ न होगा।

वेद और पुराण में जिसका [१०१]"समुद्रोऽर्णव" अथवा [१०२]'कारण-सलिल के रूप से वर्णन है, छान्दोग्य में जिसे सभी से [१०३]'ज्यायान्' एवं सभी का 'परायण' आकाश कहा है, अन्यत्र जिसको प्राण या हिरण्यगर्भ नाम दिया गया है वे सब एक ही असली

वस्तु के पेट-पीठ (पक्ष) हैं। भीतर की इषीका को खोज निकालें तो इन सभी नाना मतवादों में भी हम स्पष्टतः देख सकेंगे—[१०४]"नेह नानास्ति किञ्चन'। इसी कारण प्राचीनों के जड़कारणतावाद एवं बुद्धिकारणतावाद में पक्षपात नहीं था; अवश्य ही हम तत्त्वदर्शियों की बात कह रहे हैं—परवर्ती समय के तार्किकों की नहीं। तार्किकों की बात छोड़ दें, आचार्यों में जो कहीं-कहीं एक-आध मतवाद का वैचित्र्य एवं मतविशेष की संस्थापना के लिए प्रयास देखने में आता है, वह शिष्यबुद्धि का अधिकार (capacity) समझकर उसके अनुग्रह के लिए है। एक शब्द में कहें तो वह प्रस्थान-भेद है। किन्तु [१०५]"ऋजुकुटिलनानापथजुषां (सीधे व टेढ़े अनेक विभिन्न मार्गों का अनुसरण करनेवाले) सभी पथिकों या मतवादों का गम्य (मंजिल, तात्पर्यार्थ, लक्ष्य) जो 'पयसामर्णव इव' (नदियों के लिए सागर के समान) एक प्रत्यगात्मा था—उसके विषय में सुधी-परीक्षक और विचारक में कोई बड़ा सन्देह नहीं रहता। सभी सिद्धान्तों का उपसंहार उसीमें है, सभी उपनिषद्-वाक्यों की आकांक्षा जिसमें है, वही हमारा अनुसन्धातव्य (खोज का विषय) प्रत्यगात्मा या इषीका है।

प्राचीनों की दृष्टि दोनों ओर खरी थी। पहले तो चित् व जड़ के लक्षण लेकर वे परिहास करने न देते। जो स्थान हिलता-डुलता नहीं वह जड़ है, या जो चलता-फिरता है वह जड़ है, या जिसमें कुछ गुरुत्व या भार है वह जड़ है, या इन दोनों-तीनों दशाओं को मिलाकर जड़ का लक्षण होगा, ऐसे झमेले में पड़ना उन्हें नहीं रुचता था। एक स्पष्ट बात कह दी—जिस वस्तु का ज्ञान हो रहा है वही जड़ है। ज्ञान या अनुभव के सम्बन्ध में वादी-प्रतिवादी दो हैं—जो जान रहा है एवं जिसे जान रहा है। इनमें वादी है चेतन, प्रतिवादी है जड़—ऐसा फैसला देकर प्राचीनों ने तो छुट्टी पा ली। इसीलिए जड़ के सम्बन्ध में उनकी और विज्ञान की परिभाषा ठीक एक नहीं है। विज्ञान की परिभाषा कैसी चरमरा रही है इसे अभी देखेंगे। उनकी परिभाषा को इतने उलट-फेर की आवश्यकता नहीं—यदि मन को वैज्ञानिक जड़ के क्षेत्र में ले लें या जड़ ही मन के क्षेत्र में आ जाय।

और भी एक बात है—वे देख रहे हैं कि जिस वस्तु ने उस साक्षी को अत्यन्त सम्मान दिया है उसके गले पर छुरी चलाने की व्यवस्था से वे नाराज हैं। मन की खुराक अन्न के सूक्ष्मतम अंश हैं, इसमें आपत्ति नहीं, प्राणों का पोषक (प्राणों को सरसानेवाला) तरल पदार्थ है—जल न हो तो प्राणों की 'स्फूर्ति' नहीं होती—इसे मानने में भी वे पीछे नहीं हटते। हटेंगे भी क्यों ? सोमरस के अनुशीलन व आस्वादन से खुश-मिजाज बने रहना प्राचीन लोग भी खूब जानते थे। मन, प्राण और वाक् के सम्वन्ध में ये सब बातें वे लोग खूब खुले मन से कह गये हैं। किन्तु ज्यों ही उन साक्षीगोपाल (ब्रह्म) की बात उठी तभी वे कहने लगे—वे कुछ खाते ही नहीं—

"अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति"[१०६]। [१०७]'अस्ति', 'भाति' और 'प्रिय'—इन तीन शब्दों में उनके स्वरूप का कुछ-कुछ 'प्राक् कथन' मिलता है। 'बढ़ रहा है', 'घट रहा है', 'उत्पन्न हो रहा है', 'मृत्यु को प्राप्त हो रहा है'—इन सब बातों का किसी भी प्रकार अवकाश ही नहीं उन साक्षीपुरुष के सम्बन्ध में। इसीलिए कठश्रुति नचिकेता के आत्मविवेक-विषयक व्याख्यान में कहती है—आकाश आदि पञ्चभूतों से इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुई हैं। वे चेतन आत्मा से पृथक् हैं। जागृति के समय इन्द्रियसमूह का उदय होता है और सुषुप्ति के समय उनका अस्त। ये जो उदय और अस्त हैं ये उन्हीं के हैं, साक्षिस्वरूप आत्मा के नहीं। इसी सत्य को जानकर धीर व्यक्ति शोक नहीं करता (मत्वा धीरो न शोचति)।[१०८] जड़ व चेतन का लक्षण और व्यवस्था (विवेचन) इन श्रुतिवाक्यों में हुई है, इस बात को लेकर विस्तार बढ़ाने का अवसर आज हमारे पास नहीं है। अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि किस प्रकार विज्ञान भी जड़ द्रव्य (matter) की मूँज को हाथ में लेकर अत्यन्त सावधानता से उसका विश्लेषण करके उसमें से उसी इषीका—'प्रत्यक् आत्मा' (अन्तरात्मा)—को पहचानकर पृथक् कर रहा है।

विज्ञान अब तक जिसे जड़ कहता था आइये पुनः वहीं लौट चलें। एक धूप-बत्ती जलायी। कुछ क्षण उसकी सुगन्ध से चारों दिशाएँ आमोदित (सुरभित) रहीं। अवश्य ही उस धूपबत्ती में से अत्यन्त सूक्ष्म कण बाहर निकलकर वायु में बिखरकर मिल रहे हैं जिनकी संख्या गगनातीत है, जबकि धूपबत्ती एक नपी-तुली छोटी-सी वस्तु है। पानी में दो-एक ग्रेन कुनैन घोल दें तो उसे पीने में हमारे प्राण निकलने लगते हैं। जिन वस्तुओं को छोटे-बड़े जड़ पदार्थ कहते हैं वे सब इसी प्रकार छोटे-छोटे कणों (particles) से बने होते हैं। आपाततः सब समय वैसा बोध न होने पर भी तथ्य वही है। जल देखने में तो एक ही (continuous) वस्तु है। किन्तु वाष्प, कुहरा, मेघ आदि देखने पर समझ पाते हैं कि जल भी लाखों कणों की समष्टि है। वायु दिखता तो नहीं, पर उसके भी निर्माण की प्रक्रिया ऐसी ही है। अर्थात् पृथक्-पृथक् कणों की राशियों से ही जल, धूप और वायु बने हैं। हम साधारणतः इन सभी छोटे कणों को particles कहते हैं, किन्तु जल का जो जलरूप अणिष्ठ अंश है या सूक्ष्मतम दाना है उसे अंग्रेजी में molecule कहते हैं। उसका पर्याय देशी नाम खोज नहीं पाया हूँ। किन्तु इन्हें न्यायशास्त्र के अणु-द्वयणुक-त्रसरेणु आदि से मिला नहीं देना चाहिए। जल का दाना, फिर उसका दाना, उसका भी दाना ऐसा विभाग करते-करते जब ऐसे दाने (कण) पर पहुँचें, जिसको तोड़ने पर फिर जल नहीं रह जाता, हाइड्रोजन व ऑक्सीजन नामक गैसों में बदल जाता है—उस कण को वैज्ञानिक परिभाषा में मौलिक्यूल कहा जाता है। इससे यह भी पता चलता है कि मौलिक्यूल भी अविभाज्य नहीं

हैं, अवश्य ही उसे तोड़ने पर वह अन्य पदार्थ में परिवर्तित हो जायगा। जल का मौलिक्यूल ऑक्सीजन- हाइड्रोजन में बदले जाने पर फिर जल-कण नहीं रहता, यद्यपि वे जल के उपादान ही हैं। मौलिक्यूल को तोड़ने पर जो सूक्ष्मतम दाने मिलते हैं, उन्हें विज्ञान एटम कहता है। हम लोग घोटाला करनेवालों का दल हैं, जो उसका अनुवाद अणु या परमाणु के रूप में करते हैं। किन्तु अपने शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों का लक्षणों के अनुरूप ही प्रयोग करना उचित हैं। वर्ण-संकर की भाँति अर्थ-संकर और भाव-संकर भी विनाश का कारण होता है। देशी शब्द और विलायती भाव का एक ही शब्द में संकर कर दें तो शब्द या भाव—किसीका भी कल्याण नहीं होता। एटम शब्द का रूढ़ अर्थ है—जिसको और तोड़ा नहीं जा सकता। रसायन-विद्या अभी तक इनको तोड़ नहीं पायी है, इसलिए उसके हिसाब से यही हमारी मौलिक धातु की इकाइयाँ (units) हैं। इस पर और चर्चा फिर करेंगे।

अब molecules की संख्या का हिसाब देखें। आकाश के तारे शायद गिने जा सकें, सागर-तट की बालू के कण भी शायद गिने जा सकें, किन्तु एक बिन्दु जल में कितने molecules हैं इसे कौन गिन सकता है? लॉर्ड केल्विन का मस्तिष्क बड़ा सबल था। उन्होंने बहुत-सी गणनाएँ की हैं। पृथ्वी की आयु व भार तो वे गिन ही गये हैं, उन्हींका अनुसरण करके हम भी गिन सकते हैं कि एक क्यूबिक सेण्टीमीटर जल में (या एक बिन्दु जल में) कितने मौलिक्यूल हैं। साबुन का बुलबुला लेकर उसका भी हिसाब किया जाता है, उसका विवरण देना यहाँ असम्भव है। फलस्वरूप हम पाते हैं कि बूँदभर जल में $१०^{२४}$ मौलिक्यूल हैं। एक की पीठ पर २४ शून्य हैं। पहले क्लाउजियस, मैक्सवेल, स्टोनी आदि ने जरा-सी गैस में कितने मौलिक्यूल चलते-फिरते हैं इसकी गणना की थी। एक क्यूबिक मिलीमीटर गैस में कितने दाने हैं गैस के, जानते हैं? ताप और चाप स्वाभाविक रहे तो उनकी संख्या ४×१०^{१६} अर्थात् ४० की पीठ पर १६ शून्य। मान लीजिये, वायु-निष्कासन-यन्त्र द्वारा एक स्थान की वायु हमने इतनी मात्रा में बाहर निकाल दी कि भीतर की वायु एक-करोड़वाँ भाग रह गयी। उस स्थान को हम एक प्रकार से वायुरहित ही समझेंगे। किन्तु इस 'वायुशून्य' स्थान में प्रत्येक घन मिलीमीटर में कितने वायवीय मौलिक्यूल बच गये हैं यह सुनेंगे?—४ की पीठ पर ९ शून्य देने पर जितने होंगे उतने। हमने जिस स्थान को खाली समझा, उसमें ऐसी घनी बस्ती है। खाली स्थान में बालखिल्य ऋषियों की भाँति यह टिड्डी-दल निश्चिन्त मन से जड़समाधि लिए हुए है ऐसा न सोचिये। वहाँ भी ऐसा महासमर, दौड़-भाग, ठेलाठेली चल रही है कि उसके आगे अपने यहाँ के रेलवे स्टेशनों के तृतीय श्रेणी के टिकटघर भी नहीं ठहर सकते। Dr. Stony द्वारा वर्णन सुनिये—"We are to imagine these little swarms of missiles dashing

about in every conceivable direction, each of the missiles successively encountering and occasionally grappling with about six thousand millions of its neighbours every second, and darting along the free paths between these encounters with various speeds but speeds that are so high that they average a speed of more than 1000 miles per hour. Wonderful as this picture is, we shall presently find that it falls almost infinitely short of the far more astonishing reality."

प्रति सेकण्ड ये सूक्ष्म भूत कितने सैकड़ों करोड़ों बार परस्पर मुलाकात करते हैं, इसका परिचय कुछ मिला। द्रुतगामी डाकगाड़ी में बैठकर मैं डेढ़ दिन से पहले दिल्ली या हरिद्वार नहीं पहुँच सकता। प्रो० "पुले" और "रस स्मिथ" वायुयान पर चढ़कर कितने दिन में पश्चिम देशों से उड़कर हमारे सिर पर आ विराजे इसकी खबर मैंने रखी नहीं। किन्तु हमारी वायु के ये सूक्ष्म भूत जिस वेग से दौड़-भाग करते रहते हैं, वह गति एक घण्टे में प्रायः एक हजार मील से भी अधिक है। बात विस्मयजनक है, किन्तु इनसे भी जो सूक्ष्म भूत हैं—Corpuscles या electrons (जिनकी चर्चा बहुत पहले की जा चुकी है) उनकी गति व कार्य-कलाप का हिसाब लें तो दाँतों में अङ्गुली दबाये रहना होगा। आलोक-तरङ्ग एक सेकण्ड में प्रायः दो लाख मील चलती है। आधुनिक वैज्ञानिक सोच रहे हैं कि यही जड़-पदार्थ की चरम गति है। जो भी हो, इलेक्ट्रॉन की भी कोई कम गति नहीं है। उनकी गति के वेग की प्रकाश की गति के वेग के साथ तुलना हो सकती है। सूक्ष्म भूतों की गति की बात हमें एक बार पुनः कहनी होगी। उन सबका हिसाब लेकर हम वेग को दो-एक विभूतियों के विषय में कुछ अधिक समझ पायेंगे, जैसा कि पहले इनके परस्पर आकर्षण का विवरण देते समय प्राणायाम के फलस्वरूप आकाश-गमन-सिद्धि का पूर्वपरिचय कुछ-कुछ समझा गया था।

इस देह में भी 'मनोजवत्व' (मन के वेग से गति अर्थात् सोचते ही सोचे हुए स्थान पर पहुँच जाना) सम्भव है। योगशास्त्र में भी इस सिद्धि की बात सुनने में आती है। पुराणों में भी ऐसी कथाओं की कमी नहीं। पुराणों में जिन विमानादि की बातें बचपन में हमने पढ़ी-सुनी थीं वे तो अब प्रत्यक्ष दिखाई देती ही हैं। और कुछ दिन जीवित रह जायें तो शायद प्रेतलोक जाने से पहले विमान पर चढ़कर एक बार मेघलोक में (अन्तरिक्ष में) घूम आ सकें, यदि इस बीच पण्डित महाशय समुद्र-यात्रा की तरह आकाशयात्रा को भी स्मृति-संहिता के निषेधों में शामिल न कर दें। योगी लोग रश्मि का अवलम्बन करके अनेक लोकों में जाने-आने की सम्भावना कहते हैं। रश्मि को यदि आलोकरश्मि समझें तो मैकवेल के परवर्ती वैज्ञानिकों के मत से ईथर में इलेक्ट्रो-मैग्नेटिक उत्तेजना का ही सञ्चालन है (Propagation of electro-

magnetic disturbances in ether)। यह उत्तेजना एक सेकण्ड में प्रायः दो लाख मील चलती है। ऐसी गति होने पर एक प्रकार का 'मनोजवत्व' ही तो हुआ। एक निमिषभर में रश्मि-अवलम्बन करके मैं देख आ सकता हूँ कि सूर्यमण्डल में किस घर में क्या कलङ्क लगा है। नक्षत्रों में जाने में अधिक समय लगेगा, किन्तु तब भी एक प्रकार से मनोजवत्व ही होगा। इस भारी देह को लेकर अवश्य ही रश्मि-अवलम्बन करके गन्धर्वलोक, किन्नरलोक, अप्सरालोक इत्यादि मजे-मजे के स्थानों में झाँकने नहीं जाया जा सकता। किन्तु किसी प्रक्रिया से देह के स्थूल-कणों को भीतर से ही सूक्ष्म-भूतों में आकृष्ट करके रख सकते हैं या नहीं एवं इस सूक्ष्मभौतिक देह को वाहन बनाकर ईथर में हवा खाकर आना संभव है या नहीं ? यह प्रश्न मैंने सामने रख दिया। इसे सुनकर पहले तो हँसी रोक ही रखिये, उत्तर सुनने के बाद चाहे जितना हँस लीजियेगा। एक बाबाजी के अखाड़े पर मैं घूमने गया था। देखा, विधिवत् हर समय गाँजा चल रहा है। धुएँ में से ही कुछ चेलों का कण्ठ सुना—"स्वामीजी कल रात सूक्ष्म देह से हिमालय के सिद्धाश्रम में घूमकर आये हैं। बरफ पड़ रही थी इसलिए स्वामीजी को ठण्ड लग गयी है; देखना, धूनी बुझने न पाये।" मैं भी रश्मि-अवलम्बन करके सूक्ष्मदेह को जैसे चन्द्रलोक से सूर्यलोक, वहाँ से ध्रुवलोक आदि में छलांग लगवा रहा हूँ, उससे सूक्ष्म देह को ठण्ड लग जाने की बात न भी कहूँ तो भी शायद आप लोगों को मेरे इन उल्लेखों में उक्त बाबाजी के आश्रम से आती हुई छिपी हुई गांजे के धुएँ की गन्ध आ रही होगी। और भी, चन्द्रलोक में वायु नहीं है, वहाँ जाकर मेरी सूक्ष्म देह हाँफ नहीं गयी, सूर्यलोक असह्य गरम है, वहाँ यह झुलस नहीं गयी, मङ्गलग्रह का पूर्त-विभाग (Irrigation Deptt.) बहुत सक्रिय है (हमारी पृथ्वी के विभागों की तरह वह साक्षात् कुम्भकर्ण नहीं है) तो वहाँ जाकर सूक्ष्म देह नदी-नालों में मोटर-नौका आदि में मनमानी सैर करके थकता नहीं है—ऐसी बात मुँह से कैसे निकालूँ ? खैर, मजाक की बात जाने दीजिये, सूक्ष्म भूतों की गतिविधि ध्यान में रखियेगा।

मौलिक्यूलों का हिसाब तो मिला। वायु आदि वायवीय पदार्थों के भी दाने हैं और पृथक्-पृथक् व्यवस्थित हैं, रेल में तृतीय श्रेणी के यात्रियों की भाँति एक पर एक लदे नहीं हैं—यह भी हम देख पाये हैं। स्टोनी महाशय की भाषा में इनमें भी दौड़भाग व मल्लयुद्ध की बात सुन चुके हैं। इसीसे कहना पड़ता है कि दानों के हिलने-डुलने और दौड़-भाग करने के लिए कितना 'अवकाश' है। यह अवकाश ही आकाश या ईथर है, पर यह तरल और घन पदार्थों में किस-किस प्रकार का है? झील के पानी के भीतर भी आकाश है क्या ? 'निकल' का छोटा सिक्का ही लें। इस परिवर्तन से 'निकल' बहुत ही हल्की व पोली वस्तु बन गया है, किन्तु उसमें भी 'निकल' के दाने क्या एकदम एक के ऊपर एक चढ़े-जमे बैठे हैं ? या उनमें भी अवकाश है ? उन

दानों को हिलने-डुलने का स्थान नहीं है क्या ? लगता तो है कि अवश्य है। पानी गरम किया। उसके गरम होने का मतलब क्या है ? आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्त से—पदार्थ के छोटे दानों का कम्पन ही ताप है—Heat is a mode of motion. इसलिए पानी जब गरम हुआ तो उसके छोटे दाने काँपने लगे। काँपना यानी हिलना-डुलना। इसलिए कहना ही पड़ेगा कि उनकी उतनी हलचल के लिए स्थान (अवकाश) है।

Sir William Roberts Austen ने दिखाया है कि सोने और सीसे को यदि ठीक एक के ऊपर एक रखकर देखा जाय तो कुछ वर्ष बाद देखेंगे कि सीसे के कुछ भाग में सोने के कण प्रविष्ट हैं। रासायनिक परीक्षा से ही यह पकड़ में आयेगा। रासायनिक परीक्षा सभी परीक्षाओं में सबसे अधिक सूक्ष्म हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस परीक्षा से पकड़ में न आया तो मकरध्वज में सोने का अंश नहीं है, यह कहना भूल होगी। जो भी हो, उक्त साहब की परीक्षा से निष्कर्ष निकला कि सीसा पूरी ठोस वस्तु नहीं; उसके भीतर भी छिद्र या पोल है, जिसमें कि वह सोने को खींच लेता है,—अर्थात् सीसे में भी आकाशतत्त्व है। पानी में चीनी डाल देने से वह उसीमें घुल-मिल जाती है, इससे पानी में भी पोल प्रतीत होती है। पानी और ठोस पदार्थों की जब यह दशा है तो वायु का तो कहना ही क्या ?

हम जिस वायु से जीवन-धारण कर रहे हैं वह ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन आदि अनेक गैसों की खिचड़ी है। चावल, दाल, नमक, मसाला अलग-अलग ढेरियों में पास-पास रखा हो तो खिचड़ी नहीं कहलाती। वायु में भी ये विभिन्न गैसें पृथक्-पृथक् नहीं रखी हैं। ठीक रासायनिक सम्मिश्रण भी नहीं हैं, तब भी खूब मिली-जुली, परस्पर ओतप्रोत हैं। इनके भीतर घुला हुआ वायवीय खिचड़ी का अदृश्य मसाला भी बहुत कुछ स्पञ्ज की भाँति भीतर रन्ध्रमय है। तो, वायु में भी आकाश है, दृष्टान्त और कितने लूँ; अवश्य ही अब वैज्ञानिक लोग जड़ को लेकर कभी कठिन (ठोस), कभी तरल, कभी वायवीय बना लेते हैं।

लार्ड केल्विन आदि वैज्ञानिकों ने नाम-रूप-हेतुवाद दिखाकर २७३° डिग्री सेण्टीग्रेड को ताप की सबसे नीचे की अवस्था (absolute zero of temperature) कह रखा है। इस तापमान पर उतर आने पर जड़ पदार्थों का सन्ताप दूर होकर उन्हें पूरी शान्ति मिल जाती है (bodies become deprived entirely of heat energy) ऐसा वे समझते हैं। किन्तु कार्यतः हम ताप को इतना उतार नहीं सके हैं। जितना-सा उतारा है, उससे वायु जल बन गया है। बड़े ही हलके स्वभाव का हाइड्रोजन भी गल गया, एक थक्का बँध गया। हाइड्रोजन absolute zero के खूब निकट ले जाता है, केवल २० डिग्री का अन्तर रहता है। हिलियम नामक गैस को भी ऐसा किया जा

सका है कि नहीं, मैं नहीं जानता। तब भी प्रो० डिवर का जैसा यत्न, अध्यवसाय और कर्मकुशलता है, उससे भरोसा होता है कि शीघ्र ही हम हिमालय की कुल्फी (हिम) भी प्रत्यक्ष देखेंगे, और फिर अरबी उपन्यास के उस धीवर की भाँति वश में न आनेवाले एक वायवीय भूत (the last known permanent gas) को एक बोतल में भर ही डालेंगे, इतना ही नहीं, उस सर्व-सन्ताप-विनाशन चरम शून्य (absolute zero) के दो-चार डिग्री के अन्तर में ही रह जायेंगे। इसलिए वायु-द्वय जब बहुधा जल या हिम में परिणत हो रहे हैं तो उनके भी दाने घन-विन्यस्त नहीं, सावकाश ही हैं, यह समझना स्वाभाविक हैं। अतः सभी के भीतर आकाश है।

मौलिक्यूल का विश्लेषण करके जो अणु पाया वह क्या कठिन (hard) वस्तु है ? पहले अवश्य यही समझा जाता था, किन्तु अब कोई ऐसा नहीं समझता, नाना कारणों से। स्पेक्ट्रोस्कोप नामक यन्त्र की सहायता से किसी भी वस्तु के रंग या बेरङ्ग का स्पेक्ट्रम देख पाने पर स्वतः मन में संशय उठता है कि अणुओं का गठन यदि ठोस व सरल होता तो उनका 'आलोकचित्र' इतना रंग-बिरङ्गा क्यों बनता ? अणु के भीतर से नाना प्रकार के धक्के आकर ईथर के समुद्र को तरह-तरह से विक्षोभित न करें तो अनेक रंगों व रेखाओं का ऐसा विन्यास क्यों होगा ? ईथर में अनेक तरङ्गें उठने पर ही लाल, नीले, हरे आदि रंगों की अभिव्यक्ति होती है। किसी वस्तु के अणु यदि चञ्चल होकर ईथर में तरङ्गें उठा दें तो उन तरङ्गों की भङ्गी (wave length) साधारणतः एक जैसी ही होनी चाहिए एवं वे एक जैसी हों तो उनसे रंग भी एक ही बनेगा। इस युक्ति से अणु के भीतर एक रहस्य छिपा मिलता है। ये सब कल्पनाएँ वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में बहुत दिन से उठ-बैठ रही थीं। बाद में और भी बहुत से अधिक बल-शाली कारण देखने पर हमने अणु के मर्म का एक प्रकार का परिचय पाया। वैक्यूम-ट्यूब हमारी परिचित ही है। उसीके सहारे सर जे० जे० टॉम्सन ने १८९७ में परीक्षा द्वारा प्रमाणित किया था कि सबसे अधिक हलके अणु से भी हजारगुना हलका कोई सूक्ष्म पदार्थ इस वायु-रहित नली में महावेग से बिखर जाता है। उसको नाम दिया उन्होंने corpuscles। हम उसे 'कायाणु' नाम दे चुके हैं। इनके स्वरूप के सम्बन्ध में उक्त वैज्ञानिक की ही Condution of Electricity through gases तथा Matter and Electricity नामक दो ग्रन्थ उलट-पलटकर देखने चाहिए। संक्षेप में इनका परिचय चाहें तो—"These corpuscles were shown to be identical, whatever the nature of the residual gas in the tube and whatever the metal employed as electrode. The corpuscles are common to all kinds of matter, and the mind at once sees in them the long sought ultimate basis from which all atoms are made."

मैडम क्यूरी और मुसो क्यूरी ने रेडियम का आविष्कार किया। उसी रेडियम की जाति के दो पदार्थ लेकर वे दोनों, रादरफोर्ड, सडी आदि और भी अनेक विद्वान् वैज्ञानिक अनेक प्रकार की गवेषणा कर रहे हैं। फलस्वरूप हम जान पा रहे हैं कि अणुओं का गठन जटिल है,—शायद हमारे सौर जगत् के गठन के समान ही वह भी जटिल है। रेडियम के भीतर से अणु से भी छोटे ("अणोरणीयान्") अंश प्रबल वेग से बाहर दौड़े आते हैं। यह वेग महावेग है। ये टुकड़े जब अणु से पृथक् होते हैं या उसमें से छिटकते हैं, उसी समय इन्हें यह प्रबल भीषण गति मिलती है ऐसा तो नहीं लगता। बल्कि लगता है कि बड़े अणु के भीतर ये छोटे अणु (sub-atom) पहले से ही महावेग से दौड़-भाग रहे थे, हठात् किसी कारण से 'मात्रा' चढ़ाकर अपना इलाका छोड़कर बाहर की ओर छिटक पड़े हैं और उसी वेग में दौड़े जा रहे हैं। बड़े अणु (chemical atom) के भीतर यदि छोटे अणु दौड़-भाग कर रहे थे तो इससे पता लगता है कि वहाँ भी यथेष्ट 'अवकाश' या स्थान है। वह अवकाश ही तो आकाश है।

सुतरां यह सिद्ध हो गया कि अणु के भीतर भी आकाश है। अणु यौगिक तथा जटिल संघटनावाले हैं, इसका दृढ़ प्रमाण हमारे पास है। उसे अभी और अधिक समझने की आवश्यकता नहीं है। मोटे तौर पर हमने यह देखा कि तरल व कठिन द्रव्य कितने भी कड़े व ठोस क्यों न प्रतीत हों, उनके घर के छिद्र हमने सरलता से खोज निकाले हैं, वायु की तो कोई बात ही नहीं। इसलिए जड़ पदार्थों के दाने एक के ऊपर दूसरे ठँसे नहीं बैठे हैं (close packed conglomerate नहीं हैं)। वे भी हिलते-डुलते हैं। कहीं-कहीं दौड़-भाग भी करते हैं। सुतरां उनके बीच का व्यवधान (अन्तराल) ही आकाश है।

इसके बाद मूंज के तिनके में से मध्य का सूत (इषीका) निकालने की भाँति हमने मोटे दानों (molecules) के आत्मा को जानने की चेष्टा की। मौलिक्यूल के भीतर अणु और उसके भीतर corpuscles या electrons मिले। और देखा कि अणु के भीतर वर्तमान ये चरम अणु भी संकीर्ण स्थान में शूकरों के दल की तरह किसी प्रकार कष्ट से घुसे बैठे हों ऐसा नहीं है; सौर जगत् में विभिन्न ग्रह-उपग्रह जैसे सूर्य से एवं परस्पर भी लाख-लाख योजन दूर रहते हुए अपने-अपने स्थान व कक्षा में घूम रहे हैं—वैसी ही व्यवस्था अणु के भीतर भी है। धक्कामुक्की यहाँ भी नहीं है।

जगन्नाथजी के मन्दिर में अथवा भुवनेश्वर के मन्दिर में जैसे कोई मच्छर उड़ता रहे, कुछ वैसी ही अवस्था अणु के भीतर corpuscles के उड़ते रहने की है। इन अतिसूक्ष्म कायाणुओं का भी अभिमानी कोई चैतन्य हो तो वह देखता होगा कि "मैं एक भारी-भरकम देवता हूँ, जो अनन्त आकाश में रथ दौड़ाता घूम रहा हूँ।"

'छोटा' और 'वड़ा' होना यह वास्तव में आपेक्षिक है। मेरे शरीर के अनुपात में एक कोस रास्ता जितना है, एक चींटी के लिए एक गज रास्ता उतना ही बड़ा हो सकता है। भले ही मेरे पैर से वह मसली जाय, किन्तु वह स्वयं को छोटा नहीं समझती। ये सूक्ष्म कायाणु भी छोटे नहीं हैं। अपने इलाके में अपने स्थान व क्रिया-कलाप के हिसाव से वे एक-एक ग्रह से कम नहीं। सर जे० जे० टॉम्सन ने मेयर साहव के परीक्षण का मुख्यतः आधार लेकर इन सूक्ष्म भूतों की गृहस्थी की इतनी सुन्दर व्यवस्था बना दी है कि हम चमत्कृत हो गये हैं। मेयर साहव का वह परीक्षण वहुत मनोरम है, किन्तु यहाँ उसकी विवृति प्रासङ्गिक न होगी। कुछ corks में magnetic needle फँसाकर, पानी में तैराकर एक वड़ा मैग्नेट उनके सिर पर लाकर यह परीक्षा की जाती है। इस परीक्षण से सम्भवतः हम अणु के भीतर की इषीका को बाहर निकाल पाते हैं। मेण्डिलिफ का Periodic law, spectrum analysis, radio-active phenomena आदि की जैसी सुन्दर कैफियत टॉम्सन साहव और उनके शिष्यवर्ग हमें दे रहे हैं (कहीं कभी भूल भी अवश्य कर रहे हैं) उससे ऐसा लगता है कि ठीक अपरोक्षानुभूति न कर पाने पर भी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भूतों की चलने-फिरने की व्यवस्था का एक सच्चा परिचय हमें मिल रहा है। सूक्ष्म भूत हिसाव की पुस्तिका में ही रह जा रहे हैं यह कहना ठीक नहीं। बहुत कौशल से एक-आध को आँख से देख लेने की व्यवस्था भी वैज्ञानिकों ने कर दी है। सुनिये—

"Indeed in the experiments devised by C. T. R. Wil.on, the clouds deposited on ionic medei are seen by not very violent stretch of the imagination to bring the individual ions themselves within reach of our imperfect senses, and Crooks has shown that the molecular bombardment of the particles from radium may possibly be rendered visible by the scintillations produced on fluorescent screen of zinc sulphide."

Ion या charged particles के अवलम्ब से मेघ दाने बाँधकर उठते हैं। विल्सन साहब के साथियों ने यहाँ एक होटल खोलकर रोटी-बिस्कुट बेचकर खाली हमारी जात बिगाड़ी हो ऐसा नहीं; ions बिखराकर उनके द्वारा नकली मेघ तैयार करके शायद 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'[१०९] इस बात की हाथोंहाथ परीक्षा उपस्थित करके हमारी वेदपन्थी जाति की रक्षा करने में कुछ सहायता भी की है। क्रुक्स साहब ने भी उपयुक्त परदे के ऊपर α, पार्टिकलों के विकिरण स्फुलिङ्ग जैसे दिखाये हैं।

यह सभी उसी प्रत्यगात्मा या इषीका के अन्वेषण की ही प्रवृत्ति है। उस दिन जो नक्शा हमने यहाँ आँका था उसमें प्रत्यगात्मा corpuscles या electrons

में पर्यवसित नहीं हुआ है। इलेक्ट्रोन के बाद भी "ततः किम्" (इसके बाद फिर क्या ?) की अवस्था बनी ही हुई है। चरम अणु (prime atom) को यदि परमाणु कहें तो अब तक जिन्हें लेकर हम परिश्रम कर रहे हैं—molecules, अणु, corpuscles आदि—वे परमाणु न होंगे। अणु से नीचे के स्तर पर उतर आने पर जो 'अणोरणीयान्' भूत मिलते हैं, उनको मिलाकर नाम दिया गया है—sub-atom। प्रो० लारमर आदि बहुतों ने इस शब्द का प्रयोग किया है। इन sub-atoms के भी कितने सूक्ष्म स्तर हैं कौन बतायेगा ?

"अन्न का सूक्ष्मतम (अणिष्ठ) अंश मन को बनाता है"—इसमें कहा गया अणिष्ठ अंश sub-atom ही है अवश्य, किन्तु किस स्तर का ? एकदम सबसे नीचे के स्तर में उतर जायँ तो अन्न व मन की एकात्मता पा सकेंगे क्या ? इस प्रश्न का उत्तर अभी नहीं मिल रहा है, किन्तु उत्तर के एक सूत्र का परिचय मिल रहा है। उस सूत्र की अभिमुखीनता किस ओर है कहिये तो ? आकाश की ओर,—जिस आकाश को इतने परिश्रम से हम लोगों ने सभी जड़वस्तुओं में से खोंचकर ढूंढ़ निकाला था। जड़ वस्तु के भीतर-बाहर व्याप्त होकर जो वस्तु वर्तमान है वही आकाश खाली स्थान (space) है इतना ही क्या विज्ञान ने इतने समय तक सुनाया है ? वैज्ञानिकों के मत से जड़ के भीतर-बाहर चलने-फिरने का जो स्थान है वह भी पूरा खाली नहीं पड़ा है, एक प्रकार की सूक्ष्म वायु से भरा हुआ है।

इस सूक्ष्म वायु के भरे रहने पर भी इसमें से होकर चलने-फिरने में सचराचर पदार्थों को बाधा नहीं होती। आलोकरश्मि की भाँति तीव्र गति से रथ हाँकना हो तो यह सूक्ष्म वायु जड़ के अधिष्ठाता देवताओं को पाँच नियमों में बन्दी बना देती है, यदि वे जड़ पदार्थ धीमे-धीमे चलते हों तो कुछ नहीं कहती। हमारी पृथ्वी इस ईथर-सागर को ठेलते हुए ही एक सेकण्ड में प्रायः बीस मील दौड़ रही है, किन्तु इसकी गति अबाध (बिना रुकावट की) है यही प्रतीत होता है। टॉम्सन, हिबिसाइड, अब्राहम आदि अनेकों ने तड़ित्-युक्त एक छोटा कृत्रिम वर्तुल (charged sphere) लेकर, ईथर में सुस्थिर खड़े रहने से क्या होता है इसका हिसाब, गणित बैठाया है एवं कायाणुओं (corpuscles) का जड़त्व (mass or inertia) तड़ित्-जन्य (electro-magnetic) ही है या उससे अतिरिक्त भी और कोई जड़त्व है इसे लेकर बहुत आलोचना की है।

कहना यह हुआ कि हम जिसे अवकाश या खाली स्थान समझ रहे थे, वह ईथर से भरा है; केवल ईथर से भरा ही नहीं, जहाँ-तहाँ थोड़ा-बहुत विकृत होकर ईथर ही 'एटम' या 'सब-एटम' नाम धारण कर रहा है। उत्तर एवं दक्षिण महासागरों क ;जल जैसे जहाँ-तहाँ जमकर हिम का थक्का बँधकर तैरता-फिरता है, बहुत

कुछ वैसी ही स्थिति ईथर की भी है। रूपान्तर-प्राप्ति का नाम यदि strain दें तो कहना होगा कि सूक्ष्मतर अणु ईथर-सागर में जगह-जगह पड़े हुए strain अथवा centres of strain हैं। वे strain किस प्रकार के हैं यह नहीं कहा जा सकता। क्या वे Gyrostatic strain हैं ? ईथर में एक जगह लट्टू की तरह घूम रहे हैं एवं घूम रहे हैं इसीसे वे एक ही घर में हैं—ऐसा समझें क्या ? अभी हम इसे ठीक-ठीक समझते नहीं, लार्ड केल्विन की फरमाइशी Vertex motion से भी शायद काम पूरा नहीं पड़ेगा।

प्रोफेसर लॉर्मर ने उपसंहार में कहा है—

"The sub-atom with its attendant electric charge must therefore be in whole or in part a nucleus of intrinsic strain in the ether, a place at which the continuity of the medium has been broken and cemented. together again (to use a crude but effective language) without accurately fitting the parts, so that there is a residual strain all round the place."

ईथर और अणुओं का सम्पर्क हम संक्षेप में वेटहाम साहब की भाषा में लिखते हैं—"According to this view, then, an electron or unit charge of electricity is a centre of intrinsic strain, probably of a gyrostatic type. in an ether which is also the medium in which are propagated the waves of light and wireless telegraphy. However the electron is identical with the sub-atom which is common to all the different chemical element, and forms the universal basis of matter. Matter at any rate in its relation to other matter at a distance, is an electrical manifestation; and electricity is state of intrinsic strain, in a universal medium. That medium is prior to matter and therefore not necessarily expressible in terms of matter, it is sub-natural if not super-natural."

हमने गत दो-तीन दिनों से जो चर्चा की है एवं शब्दों की जो व्याख्या दी है, उसमें भी इन शब्दों का तर्जुमा करके दिखाना होगा क्या ? ऊपर उल्लिखित उद्धरण का अन्तिम अंश जरा विशेष ध्यान से देखियेगा। विज्ञान ईथर में जाकर पर्यवसित हो गया, उसीको प्रत्यगात्मा मान लिया गया। किन्तु ये लोग जड़ के परिचित लक्षण में कोई निर्घारण नहीं कर रहे हैं। और ऐसा कोई निर्धारित लक्षण न मिलने से ही कुछ वैज्ञानिक तो जड़ के वास्तविक अस्तित्व में ही संशयापन्न हैं। वे भले हों। ठीक

ईथर में ही ठहर जायँ या न भी ठहरें, किसी एक मूल वस्तु की खोज बराबर चलेगी ही एवं जब तक उस तक पहुँच नहीं पाते तब तक प्रयास छोड़ नहीं सकते।

मूल वस्तु को पकड़ने में अभी भी हमें कितना विलम्ब है नहीं कह सकते। अलबत्ता नवीन विज्ञान की परीक्षाओं का पर्यवेक्षण बिल्कुल निष्फल नहीं हुआ है। और कुछ न सही, पूर्वयुग के जड़ का दर्प तो चूर्ण हो ही गया है, और साथ ही उसका 'आत्मा' भी थोड़ा-बहुत बाहर आ जाने से क्रमशः उसमें चैतन्य भी आ रहा है। यह बहुत बड़ा लाभ कहना होगा। इस प्रसङ्ग में वेद और विज्ञान कितनी मात्रा तक समीप आ पहुँचे हैं, यह कहने की बात नहीं। अगली बार ईथर के जड़त्व को लेकर और भी थोड़ा हिलाना-डुलाना करेंगे। क्योंकि जब ईथर ही बुनियाद है तो उसीकी परीक्षा मूल काम है। अभी पहले उपनिषद् की ओर एक बार दृष्टिपात कर लें। बस दो-एक ही प्रश्न करेंगे।

इस बार श्रुति की बात भी अच्छी तरह सुननी होगी। केवल पश्चिम की हवा की ओर कान लगाये रखकर हमारा काम नहीं चलेगा। कठश्रुति द्वितीय अध्याय की द्वितीय वल्ली में कह रही है—'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो....' इत्यादि। अर्थात् "एक ही वायु ने संसार में प्रविष्ट होकर जैसे प्रत्येक वस्तु का प्रतिरूप धारण किया है, वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है।" यह कैसी वायु है? निखिल वस्तुओं के मर्मस्थल में जो वायु है एवं जिस वायु ने निखिल वस्तुओं का रूप धारण किया है, क्या उसी वायु का परिचय ईथर के संकेत से नवीन विज्ञान हमें करवा रहा है? 'ईथर का संकेत' कह रहा हूँ क्योंकि ईथर में ही जाकर 'बस' है—ऐसा कहने को हम लोग सहमत नहीं—जैसे कि इलेक्ट्रोन पर पहुँचकर भी हम रुकना नहीं चाहते। छान्दोग्य श्रुति के प्रथम अध्याय के अष्टम खण्ड में शिलक, चैकितायन और प्रवाहण—इन तीन उद्गीथ-विद्या में कुशल व्यक्तियों के परस्पर प्रश्नोत्तर द्वारा 'आकाश' ही सभी भूतों में अधिक बड़ा ('ज्यायान्') है और सभी भूतों का परायण (आश्रयस्थल) है, इस सम्बन्ध में एक हृदयग्राही आख्यायिका है। अगली बार उस आख्यायिका से ही आरम्भ करेंगे। श्रुति निखिल वस्तुओं का उपसंहार या पर्यवसान आकाश में कर रही है—"आकाश ही सबसे बड़ा है एवं सबकी गति है।" यह आकाश क्या ईथर का सूक्ष्म संस्करण है? आचार्य शङ्कर आदि भाष्यकारों ने आकाश को 'ब्रह्मपर' कहकर छोड़ दिया है। वेदान्त-दर्शन के 'आकाशस्तल्लिङ्गात्', 'दहर उत्तरेभ्यः', 'न वियदश्रुतेः', 'श्रूयते च'—इत्यादि सूत्रों की व्याख्या में वेदोक्त आकाश का अर्थ शङ्कराचार्य ने ब्रह्म ही किया है, जो ब्रह्म है उस विषय में सन्देह नहीं। अवश्य ही, अरुन्धती-दर्शन की भाँति ईथर, वायु आदि से ही शिष्य पहले एक मोटा-मोटी धारणा बना लें, तो इससे आचार्य असन्तुष्ट न होंगे। अरुन्धती एक छोटा-सा तारा है जो दिखाने पर भी जल्दी दिखता नहीं।

इसलिए समीप के एक बड़े तारे को यही अरुन्वती है कहकर पहले दिखा देने से सरलता होती है। श्रुति ने भी शिष्य की वुद्धि पर अनुग्रह करने के लिए बहुत स्थानों पर यही रीति अपनाकर तत्त्व-निर्देश किया है। इसमें कोई दोष नहीं है। इसीलिए कभी कहते हैं पहले आकाश उत्पन्न हुआ, (तैत्तिरीय उप०) कभी तेजस् को पहले वताते हैं (छान्दोग्य) और कभी प्राण को मुख्य कहते हैं। यह सब शिष्य व साधक की सामर्थ्य के अनुसार उस मूँज में से इषोका (तीली) को वाहर निकालकर दिखाना है। जो जहाँ तक देख पाये। अन्त में ब्रह्म या चिदाकाश ही है। हम फिर कभी देखेंगे कि हमारी श्रुतियों के सिद्धान्त में एक कटा-छँटा ईथर नहीं है—एक ईथर-श्रृंखला है या माला है, उसीका ऊर्ध्वतम स्तर (upper limit) है चिदाकाश, मध्य का एक स्तर है विज्ञान का ईथर या कठोपनिषद् का वायु, एवं निम्नतम स्तर (lower limit) में हैं पृथ्वी आदि मूर्त पदार्थ। यही हमारा प्रतिपाद्य है। •

छह

अणु और बृहत्

पहले के व्याख्यान में, आकाश के परिचय के प्रसङ्ग में छान्दोग्य का एक उपाख्यान उठाया था। उद्गीथ अथवा प्रणवविद्या में कुशल तीन व्यक्ति मिलकर विचार में प्रवृत्त हुए हैं—सभी की अन्तिम गति या परम आश्रय कहाँ है ? सामगान हो रहा है, इस क्रिया का आश्रय क्या है ?—स्वर। स्वर न हो तो गाना नहीं होता। स्वर का अवलम्बन क्या है ?—प्राण। प्राण का अवलम्बन—अन्न। अन्न का अवलम्बन क्या है ?—जल। क्योंकि वृष्टि या जल-सींचना न हो तो अनाज-फल आदि अन्न उत्पन्न नहीं होते। जल कहाँ से आता है ? किसीने अँगुली ऊपर उठाकर दिखाया उस लोक से जल आता है ''**'असौ लोकः'**। यह विचार-परम्परा मोटे तौर पर बुरी नहीं। किन्तु इससे जिज्ञासा की निवृत्ति हो गई क्या ? जिन्होंने ऊपर की ओर अँगुली उठाई उन्होंने तो कहा—"बस, यहीं 'इति' रखो, और ढूंढ़ मचाने से लाभ नहीं। जिस जगत् को देख-सुन पा रहे हैं, उसकी गति या आश्रय कुछ ऐसा है जिसे हम किसी भी प्रकार देख-सुन न सकेंगे। चेष्टा करना भी व्यर्थ है। वस्तु के छिलके तक ही हमारी दृष्टि की परिसमाप्ति हो जाती है, सार तक उसकी पहुँच नहीं है। वह अदृष्ट (unseen) ही मूल आधार है।" यदि वक्ता आज के वैज्ञानिक होते तो कहते—यह जो कागज आपके सामने पढ़ रहा हूँ यह तो छोटे-छोटे टुकड़ों की समष्टि है। प्रत्येक टुकड़े में भी फिर असंख्य मौलिक्यूल या दाने हैं। प्रत्येक दाने के भीतर अनेक अणु हैं। अणुओं भीतर फिर तड़ित्-कणिकाओं (corpuscles) का सुशृङ्खलता से आवर्तन (घूमना) चल रहा है। एक-एक तड़ित्-कणिका शायद ईथर-सागर में एक भँवर या ऐसा ही कुछ है। ये आखिरी बातें मैं 'हलफ' उठाकर न कह सकूँगा। यद्यपि ये सच हैं, तो भी अभी मैं कह नहीं पा रहा हूँ कि ईथर कैसा व किस आकार का है, और कैसे ईथर में जगह-जगह पर गोल चक्कर पड़कर पाक या भँवर या विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है ? यह कागज भी अन्त में जाकर शायद ईथर ही है, किन्तु मैक्सवेल, टॉम्सन एवं लार्मर साहबों के लेख पढ़कर भी मुझे स्वीकार करना पड़ रहा है कि मैंने ईथर को देखा नहीं है और कभी देखने की आशा भी नहीं है।

निखिल जड़-द्रव्यों की गति से 'ज्यायान्' (अधिक बड़ा) और परायण है ईथर, इसीलिए अदृष्ट है। प्राचीन काल के जिन पण्डितों ने जगत् की प्रतिष्ठा समझाने में **"असौ लोकः"** कहकर ऊपर अङ्गुली उठा दी थी, उन्होंने उसी विपुल अदृष्ट को

आभास से हमें दिखाया था। उन्होंने यही महारहस्य हमें समझाना चाहा था कि हम जिसे देख रहे हैं उसका मूल अन्त में जाकर एक ऐसे स्थान पर है जहाँ हमारी दृष्टि नाकाम हो जाती है। उस भूमि या स्थान को आज के विज्ञान (या जड़विद्या) की भाँति ईथर ही कहें, या सांख्य मत का अव्यक्त ही कहें, या वेदान्त की भाँति सदसद्-विलक्षणा अनिर्वाच्या माया कहें या और भी चाहे जो कुछ कहें—सभी से स्पष्ट व सरल विवरणा है—"असौ लोकः"—यानी हमारी दृष्टि से परे एक अनजाना देश। हम जहाँ तक भी देख रहे हैं, समझ रहे हैं, उस सीमा से बाहर कोई एक स्थान—An unseen universe, an undiscovered country—वह है। जो कपड़ा पहनना नहीं जानता एवं कच्चा मांस खाता है ऐसे बर्बर जङ्गली आदमी से भी पूछो कि तुम कहाँ से आये हो और कहाँ जाओगे ?—तो वह भी उसी छान्दोग्य-श्रुति की भाँति ऊपर अँगुली दिखा देगा और हमें समझाना चाहेगा कुछ ऐसी वस्तु जिसको हदिस या जिसका सन्धान वह अपने नित्य-परिचित नदी, पर्वत, वन, प्रान्तर (मैदान), पशु-पक्षी, शत्रु-मित्र आदि में सुस्थिर रूप से नहीं पा रहा है।

उपनिषद् में ऋषियों ने जिस अजब कारखाने को 'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखम्'[११] कहा, एवं गीता में श्रीभगवान् ने पुनः जिसे 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्'—महान् वृक्ष के रूप में वर्णित किया, उसीका नाम है संसार, और उसका मूल ऊपर की ओर किसी अजाने देश में है। कच्चा मांस खानेवाले बर्बर ने जिस ओर अङ्गुली दिखाई थी, अर्जुन के रथ पर बैठकर भगवान् ने भी उसी ओर संकेत किया था, और सुनाया था कि "अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव"[१२]....अर्थात् सभी सृष्ट पदार्थ कहाँ से आ रहे हैं और कहाँ विलीन होते जा रहे हैं कुछ नहीं देखा-कहा जा सकता; नाम कुछ भी दे दें, वे आदि और अन्त दोनों ही अप्रकाशित हैं। "ब्रह्म" "प्रकृति" "माया" "Dingan Sich" अथवा "Inscrutafle Power" या 'Elan Vital" इत्यादि कहकर हमारा मुख बन्द ही कर दिया जाता है। वे सब बातें सुनकर केवल इतना-सा समझ पा रहा हूँ कि असली बात क्या है उसे हम बिल्कुल भी नहीं समझ रहे हैं—ignoramus। इसीकी परिभाषा अदृष्ट है, एवं इसीको छान्दोग्य ने "असौ लोकः" कहकर इङ्गित किया है, एवं 'न स्वर्गलोकमतिनयेत्'[१३]—अर्थात् इस लोक के भी परले पार की खबर जानने की इच्छा न करना—यह कहकर हमारी समझने की समस्या को बहुत कुछ सुलझा दिया। ऐसा नहीं है क्या ? यह कहाँ से आया, वह कहाँ से आया ? इत्यादि अन्वेषण करने लगे तो कहा—यह सब आया है "वहाँ से, अदृष्ट से।" "यह आलसियों का दर्शन है, निर्जला (कोरा) अदृष्टवाद है" ऐसी बातें कहकर जिन्हें आपत्ति उठानी हो उठाया करें, विज्ञान तो ठोकरें खाकर होशियार हो चुका है। वह कहता है "एवमेव" "तथास्तु" (हाँ, यह ऐसा ही है)।

ऊपर की ओर अङ्गुली दिखाने की झक विज्ञान की बहुत समय से है। कोपर्निकस ने आदित्यमण्डल की ओर अङ्गुली दिखाकर कहा था कि इस सूर्य ने ही हमारी पृथ्वी को तथा और भी बहुत से नक्षत्रों (ज्योतिष्कों) को पकड़ रखा है और अपने चारों ओर इन्हें घुमा रहा हैं। हमारे इस लोक की प्रतिष्ठा 'अमुष्मिन् लोके'—ब्रह्म की इसी वैवस्वत मूर्ति में है ऐसा छान्दोग्य श्रुति भी कहती है। केवल मुखौटा वदलकर यही बात हमें पश्चिम देशों से मिली है। उद्गाता आकर उषस्ति को पूछ रहे हैं—मैं तो उद्गीथ-गान करूँगा किन्तु कौन देवता उद्गीथ के आश्रय हैं[११४] एवं उद्गीथ में अनुगत हैं उसे तो नहीं जानता; वह बिना जाने गान करने से कल्याण नहीं, अतः आप ही मुझे बताइये कि "कतमा सा देवतेति"—वह देवता कौन सी है ? उषस्ति ने कोपर्निकस की तरह ऊपर अङ्गुली उठाकर कहा—आदित्य ही वह देवता है; क्योंकि स्थावर, जङ्गम, "सर्वाणि एव इमानि भूतानि" (यह सब कुछ जो उत्पन्न हुआ है) उस उपरिस्थित आदित्य का ही गान किया करते हैं। भाष्यकार ने 'गायन्ति' शब्द का अर्थ किया—'शब्दयन्ति स्तुवन्ति इत्यभिप्रायः'। सभी भूत आदित्य का स्तव कर रहे हैं इस वाक्य का क्या अभिप्राय है, इसे अवसर पाकर आप सोचियेगा। धातु के अर्थ को लेकर विचार करने का यह स्थल नहीं है। हाँ, बात का मर्म यह है कि समस्त भूत आदित्य पर ही आश्रित हैं। "जिसका खाते हैं उसीका गुण गाते हैं"—आदित्य ही इस दुनिया की खुराक-पोशाक के मालिक हैं, तो सभी पदार्थों का अन्तरात्मा आदित्य की ही वन्दना करे, इसमें विचित्र क्या है ?

कोपर्निकस के बाद काण्ट, लाप्लास् आदि अनेक पश्चिमी विद्वानों ने बार-बार ऊपर की ओर अङ्गुली दिखाई है। आकाश में जगह-जगह कुहरे को भाँति थोड़ी-थोड़ी नीहारिकायें (nebulae) दिखती हैं। इन नीहारिकासुन्दरियों की छबि वैज्ञानिकों ने उतारी है, उनके नाड़ी-नक्षत्र की खबर भी spectrum analysis द्वारा कुछ-कुछ जानी गई है। पश्चिम देश के बहुत से पुरोहित पुजारी इसी सुन्दरी की ओर दृष्टि आकर्षित करते हुए कहते हैं कि "मूर्ख ! और किसकी मूर्ति खोजते हो ? इन्हें नहीं पहचानते क्या ? इसीने तो इस विश्व की रचना की है। उसीके गर्भ से चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारा आदि का जन्म हुआ है। जन्म का विवरण फिर किसी दिन सुनायेंगे। अभी तो इन्हें प्रणाम करो।" हमारी इस वसुन्धरा का मूल कहाँ है ? आदित्य में, यदि आदित्य में हो तो फिर उसका मूल कहाँ है ?—इस प्रकार की मूल की खोज आरम्भ करने पर पश्चिम के वैज्ञानिकों ने अन्त में ऊपर नीहारिका-लोक की ओर अङ्गुली दिखाकर कहा—'यह देखो आदिम जन्मभूमि'। यह भी 'असौ लोकः' कहकर ऊपर की ओर दिखाने के समान नहीं है क्या ?

आजकल के पण्डित पुनः सूर्यमण्डल की ओर ताकते हुए बहुत से सूक्ष्म तथ्य

हमें सुना रहे हैं। सूर्य के प्रभाव से किस प्रकार सौर जगत् में ताड़ित शक्ति की धारा सर्वत्र प्रभावित है उसका विवरण Arrhenius आदि पण्डित हमें दे रहे हैं। Electrons की बात शायद अब हमारे श्रोताओं के लिये नई नहीं रही है। यहाँ एक साहब की उक्ति सुनिये—"It is estimated that the sun drains the space as far out as one-sixth of the distance of the nearest star of its free electrons, and thus maintains a constant circulation of electricity throughout the solar system" विशेष रूप से negative electricity की सूक्ष्म कणिकाओं को इलॅक्ट्रोन कहते हैं; एवं ये इलॅक्ट्रोन ही विविध व्यूह बनाकर विभिन्न जातियों के अणु सोना, रूपा, सीसा आदि बनाते हैं। यही हमारा पहले कहा हुआ इलक्ट्रान-सिद्धान्त है। इसीलिए सूर्य हमारे जगत् में ताड़ित शक्ति का सञ्चालन कर रहे हैं। उसके फलस्वरूप क्या हो रहा है एवं वह न होने पर क्या होता उसे सोचने की अभी आवश्यकता नहीं है।

सूर्य केवल विश्व में शक्तिसञ्चार के लिये ही हैं ऐसा नहीं। सूर्य ही हमें जड़ पदार्थों का मर्म खोलकर दिखा रहे हैं। केवल मोटी-मोटी स्थूल वस्तुओं को प्रकाशित करके ही सूर्यदेव का कार्य समाप्त नहीं हो गया, जड़ पदार्थों के अणुओं के भीतर ये इलक्ट्रान कैसी व्यूहरचना कर रहे हैं, यह समझने में भी टाम्सन आदि आधुनिक ऋषियों को सूर्य की ओर ही ताकना पड़ा है। सौर जगत् में जैसे सूर्य को केन्द्र बनाकर सभी ग्रह वृत्त-आकार के मार्ग में घूम रहे हैं, अणुओं में भी शायद वैसे ही एक positive electric charge द्वारा विवृत होकर negative charge (इलक्ट्रान) महावेग से घूम रहे हैं। सौर जगत् विराट् है; अणु मानो उसीका वामनावतार (miniature) है। व्यवस्था विराट् व वामन दोनों अवस्थाओं में एक-सी ही है। एक भूमा है, दूसरा अल्प। तुम्हारे-हमारे हिसाब से अणु के भीतर का महल छोटा-सा, बिना फैलाव का है। किन्तु उस अन्दरमहल में चलनेवाले क्रिया-कलाप जब सौर जगत् के ही समान हैं, तथा उसके भीतर भी जीव निवास करता है ('नहीं करता' ऐसा हलफ उठाकर कौन कह सकता है)—तो इस हिसाब से अणु होते हुए भी वह नितान्त अणु (बहुत छोटा) नहीं भी हो सकता। जिसने जैसा मापदण्ड हाथ में लिया है वैसी हो गणना व हिसाब उसके होंगे। खैर, अब इस बात को यहाँ नहीं बढ़ायेंगे। तात्पर्य यह है कि आजकल वैज्ञानिक अणु का जो संवाद हमें सुना रहे हैं, उसे हम ज्योतिषो पण्डितों की पञ्जिकाओं में बहुत पहले से सुनते आ रहे हैं। यहाँ (विज्ञान) की electric theory of matter बहुत कुछ हमारी पूर्वपरिचित Planetary theory का ही लघु संस्करण है।

इस लघु संस्करण का रहस्य प्राचीन लोग भी जानते थे यही लगता है। इसके प्रमाण बाद में देंगे। अभी तो,—विराट् किस प्रकार वामन बनकर विश्व के छोटे-बड़े

सभी अङ्गों पर घूमना चाहते हैं, केवल **'महतो महीयान्'** रूप की हमारी धारणा से निकल भागने में ही उनकी साध नहीं मिटी, **'अणोरणीयान्'** रूप से रेणु-कणों में शरीर छिपाकर वहाँ भी फिर वे कैसी लुक-छिप खेलना पसन्द करते हैं—इसीका आभास, नमूनाभर हम ले लें। जो ब्रह्म इस असीम आकाश में स्वयं को बिखराये हुए हैं, वे ही फिर हृत्पुण्डरीक के भीतर स्थित 'दहर' या अल्प आकाश में स्वयं को भरे हुए हैं, वे ही **'अन्तरिक्षसत्'** हैं **'व्योमसत्'**[११५] भी। अर्थात् अन्तरिक्ष और व्योम को व्याप्त किये हुए हैं, तथा—**'दुरोणसत्'** व **'नृषत्'** हैं—अर्थात् सोमरस के पात्र में एवं मनुष्य के अन्तर् में वास कर रहे हैं। जिससे **'अग्निस्तपति' 'सूर्यस्तपति'**—इन्द्र, वायु, मृत्यु आदि जिसके भय से अपने कार्यों में दौड़ रहे हैं, ऐसे जो राजराजेश्वर हैं, उनको भी फिर कुछ और वेष धरने को साध कैसी उठती है सुनेंगे ?" [११६]**"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा। सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।"** श्रुति भला क्या राजराजेश्वर से भय करेगी? अङ्गूठा दिखाकर कहा है 'अरे ओ! यह देखो मैंने तुम्हें पहचान लिया है।' किन्तु पहचानने में परिश्रम अवश्य हुआ है। जिसके भय अथवा विधान में इन्द्र, चन्द्र, मित्र, वायु, वरुण आदि सभी तटस्थ होकर अपने-अपने कार्यों में लगे हुए हैं; पान में से चूना भी खिसक नहीं सकता, उन्हींको 'अन्तरात्मा पुरुष अङ्गुष्ठमात्र ही हैं' कहकर पहचानने में श्रम अवश्य करना पड़ा है। **"तत् स्वात् शरीरात् प्रवृहेत्"**[११७]—मूंज के तिनके में से धैर्य व प्रयत्न से जैसे इषीका को बाहर निकालना होता है, वैसे ही पहचानने के लिए, उस दीन-दुनिया के मालिक को हृत्पुण्डरीक के अज्ञातवास में से बाहर निकालना—आविष्कार करना होगा। जिस अज्ञातवास में स्वयं गाण्डीवधन्वा नपुंसक हैं, और वृकोदर बल्लव नाम का रसोइया हैं, हमारे मालिक भी उसी अज्ञातवास में केवल अङ्गूठाभर होकर विराजमान हैं। प्राणवायु और अपानवायु को लेकर मजे से ऊपर-नीचे खूब दौड़भाग कर रहे हैं, किन्तु **"मध्ये वामनमासीनम्"**[११८]—मध्य में वामन होकर बैठे हुए हैं,—**"तं विश्वेदेवा उपासते"**—उन्हींकी उपासना सभी देवता करते हैं।

छान्दोग्यश्रुति भी आदित्यमण्डल में हिरण्मय हिरण्यश्मश्रु पुरुष का वर्णन करके कह रही हैं कि [११९]"आँख के बीच में वामन आकृतिवाला जो पुरुष दिखाई देता है, वह आदित्यपुरुष से अभिन्न है। आदित्यपुरुष का जो रूप, पर्व और नाम है, अक्षिपुरुष का भी वही है। विराट् का भी इसी प्रकार क्षुद्र के साथ समीकरण प्राचीनों ने बहुत स्थानों पर किया है। वस्तुतः विराट् और क्षुद्र का जो सम्बन्ध है वह व्यावहारिक है। हमारे व्यवहार में जो विराट् है, वही हमसे बड़े किसी जीव के व्यवहार में आते समय क्षुद्र भी लग सकता है; दूसरी ओर हमारे लिए जो छोटा है वही हमसे छोटे किसी जीव के व्यवहार में विराट् भी हो सकता है। विश्व में केवल हमारे ही

देखने का या व्यवहार का अस्तित्व हो ऐसा नहीं। अणुवीक्षण यन्त्र भी जिन्हें देखने में हार मान जाता है, ऐसे भी प्राणियों का वृत्तान्त वैज्ञानिक सुनाते हैं। अभी पिछले साल जिस इन्फ्लुएन्जा में प्रायः १ करोड़ व्यक्ति भारत में ग्रस्त हुए थे, उस फ्लू के वाहन प्राणी कितने छोटे हैं और शरीर के एक-एक कोष (cell) में हमारी रक्त-कणिकाओं के साथ जैसा कुरुक्षेत्र रचते हैं उसके सामने योरोपियन महायुद्ध की क्या गणना करें। इन सब क्षुद्र प्राणियों के चाल-चलन, क्रिया-कलाप बहुत ही अद्भुत हैं। विज्ञान-शास्त्र में वे सब विवरण पढ़ते समय प्रतीत होता है मानों गलिवरे साहब के साथ किसी 'लिलिपुटियन्' (बौना) देश में घूमने आया हूँ। मन में प्रश्न उठता है—प्राणिदेह की सूक्ष्मता की पराकाष्ठा या सीमा कहाँ है ? आखिर कहाँ तक छोटा प्राणी हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा यहाँ प्रासङ्गिक न होगी, तब भी श्रुति ने प्राण की अवधि (सीमा) अणुत्व को माना है। वेदान्त-दर्शन में प्राण के अणुत्व को लेकर विचार और प्रमाण-प्रयोग हैं।

अस्तु, कुछ भी हो, ये अणु-प्रमाणवाले प्राणी या तो एक पार्टिकल हैं या एक मौलिक्यूल, यहाँ तक कि एक-एक एटम के बीच में भी अच्छी तरह घर बसा लेते हैं। 'नहीं बसाते' ऐसी बात कोई बलपूर्वक नहीं कह सकता। अवश्य ही अभी प्रमाण हाथ नहीं लगा है, किन्तु भावी प्रमाण के लिए 'लाइन-क्लियर' दे रखना उचित ही है। बस, इन्फ्लूएञ्जा के सूक्ष्मभूतों तक जाकर ही 'इति शेषः' कर देना है ऐसा सोचकर बैठ रहना आलस होगा। अब हमारे व्यवहार की जो सूक्ष्म वस्तुयें हैं वे ही इन वामन प्राणियों के व्यवहार में विराट् हैं। हिसाब, परिमाण लेने का तो कोई भी सर्वभूत-सम्मत मापदण्ड नहीं है—कोई भी unique frame of reference नहीं, यह बात इस बीसवीं शताब्दी में Principle of Relativity बड़े जोर से कह रहा है।

छोटे-बड़े की बात को अभी स्थगित रखें। हमने पाया यह कि—सूर्यदेव अपने नाती-पोतों अर्थात् ग्रह-उपग्रह आदि को लेकर खूब अच्छी तरह निर्विवाद बिना कलह की गृहस्थी चला रहे हैं, उनके इस विराट् संसार की ओर देखकर ही वैज्ञानिकों ने जड़ पदार्थ के मर्म का परिचय हमें सुनाना आरम्भ किया है। बाहर सौरजगत् में जो नक्शा है, भीतर अन्तःपुर में भी वही एक ही नक्शा है—यही टॉमसन् आदि प्रमुख वैज्ञानिकों का कहना है। हमने श्रुति का उद्धरण करके दिखाया कि इस प्रकार की, सूक्ष्म में विराट् के आविष्कार की चेष्टा प्राचीनों की भी थी, एवं विज्ञान को अब यदि अणु के भीतर एक जगत् का सन्धान मिला हो तो पितृलोक से बूढ़े लोग उसके मस्तक पर पुष्पवृष्टि करेंगे। सूक्ष्म विराट् का ही 'समवी' है। स्थूल ब्रह्माण्ड में जो व्यवस्था है, सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में भी वही व्यवस्था है—यह बात श्रौत सिद्धान्त के अनुकूल है। कुछ दिन पहले रसायन-विद्या कुछ अविभाज्य, कठिन अणुओं को लेकर

ही इस इन्द्रियग्राह्य जगत् का हिसाब देने जाकर सिद्धान्त-मार्ग से भ्रष्ट हो रही थी। अपने-अपने में प्रधान नब्बे या बानबे (९० या ९२) मॉडल पदार्थ ही परस्पर सलाह-मशविरा (परामर्श) करके इस जगत् को गढ़ रहे हैं, तोड़ रहे हैं, ऐसा वर्णन पढ़कर विश्व रहस्य का कुहरा और भी घना होता जा रहा है—ऐसा लगता था। वेद के उसी—'एक ही सद्वस्तु को विप्र अनेक रूपों में कहते हैं' तथा उपनिषद् के 'एक ही वस्तु को जानने से यह सभी कुछ जाना जाता है'—इत्यादि सिद्धान्तों को प्राण के अन्तःस्थल में, सुस्थिर विश्वास के सिंहासन में प्रतिष्ठित करके रखने पर भी उसके आधार पर वस्तुओं की परीक्षा कसौटी पर जाँच कर लेने का साहस नहीं होता था। पदार्थविद्या के बहुजड़वाद और श्रुति के एक विज्ञान से सभी का विज्ञान—इन दोनों के बीच सामञ्जस्य का कोई सूत्र खोज नहीं पाते थे, इससे प्राणों में सचमुच बेचैनी का अनुभव होता था।

अब पदार्थविद्या ने अणु का इन्द्रजाल खोल दिया है, साथ ही साथ परीक्षक की स्वच्छ निर्मल दृष्टि ने प्रसारित होकर खोज निकाला है सूक्ष्म के भीतर विराट् को, अणु के भीतर महान् को, जो कि किसी न किसी प्रकार से श्रुति द्वारा कहे गये उन बामन की भाँति, अक्षिपुरुष की भाँति प्रच्छन्न रूप से निवास कर रहे हैं। महाकाश में हिरण्मय, हिरण्यश्मश्रु आदित्यपुरुष, अर्थात् आदित्याभिमानी चैतन्य है और नेत्र के भीतर दहराकाश में भी वही है—ऐसा विज्ञान भी कहता है, तो "तथास्तु"। अवश्य ही विज्ञान की परिभाषा अन्य प्रकार की है। आदित्यपुरुष के हिरण्यश्मश्रु-राशि विज्ञान की भाषा में electro-magnetic agitation in ether हैं, जिसे हम रश्मिजाल कहते हैं और एटम के भीतर दहराकाश में जो पुरुष वर्तमान हैं, उनका 'हिरण्मय' वपुः है—सर विलियम क्रुक्स का वह Radiant Matter तथा गोल्डस्टार का वह cathode rays, टॉम्सन, स्टोनी एवं लॉज साहबों के वे corpuscles तथा electrons। महाकाश में जो ब्रह्म का गौरव सब सीमायें पार करके प्रसारित हो रहा है, दहर या अल्प-परिमाण आकाश में भी उस ब्रह्म का ही अन्वेषण करना होगा—यही है प्राचीन ब्रह्मविद्या का एक मूल सूत्र। इस सूत्र का भाष्य तक हम बहुत समय से भूले बैठे थे, उपलब्धि तो दूर की बात है।

पश्चिम देशों की जिस पदार्थ-विद्या का नाम अभी लिया गया, उसके सूत्रों पर नया भाष्य लिखना आरम्भ हुआ है। पदार्थ-विद्या अपरा विद्या है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इस अपरा विद्या के मन्दिर में जो सभी एकनिष्ठ साधक अपना जीवन-रुधिर देवी की सन्तुष्टि के लिए सहर्ष ढालते गये, उनकी उस बलि ने केवल ऐहिक अभ्युदय का पथ पक्का किया हो ऐसा नहीं, निःश्रेयस् अथवा अपवर्ग-प्राप्ति की सम्भावना के भी बहुत निकट मानवात्मा को ला पहुँचाया है। अनेक (नाना) में एक

को दिखाकर, अस्थिर और अध्रुव में सुस्थिर और ध्रुव का एक आभास हमें देकर, पश्चिम की वर्तमान अपरा-विद्या ने वेद की परा-विद्या के अक्षर-ब्रह्म को ही क्रमशः हमारे परिचय में ला दिया है। ऐसी अपरा-विद्या का हम अभिवादन करते हैं।

छान्दोग्य की आख्यायिका में उद्गीथ में कुशल एक ब्राह्मण ने इस समस्त लोक की गति समझाने के लिये ऊपर की ओर अङ्गुली दिखाई है, विज्ञान ने भी दिखाई है और अनेक प्रकार से दिखा भी रहा है—यह बात खोलकर बताने में ही इतना समय गया। आशा करता हूँ कि आप लोग इस समय को व्यर्थ नष्ट हुआ नहीं मानेंगे। हमें तीन लाभ हुए हैं। एक तो—इस प्रकार ऊपर अङ्गुली दिखाने का अभिप्राय हमने समझा। इस व्यक्त सचराचर को समझाने के लिये अव्यक्त की ओर सङ्केत किया गया। यही है उस आख्यायिका के उस अंश की आध्यात्मिक व्याख्या। इसके बाद, दूसरी बार, ऊपर की ओर देखकर "देवताओं का वासस्थान स्वर्ग ही इन समस्त भूतों (महा-भूतों व उनकी सृष्टि) का आश्रय है"—ऐसा कहें तो आधिदैविक व्याख्या होगी। इस 'स्वर्गलोक' नाम की वस्तु को विज्ञान अभी भी हजम नहीं कर पाया है; सुतरां आधि-दैविक व्याख्या से विज्ञान अभी भी सहमत नहीं, अवश्य ही इस क्षेत्र में भी वेद और विज्ञान—इन दोनों पक्षों का खुलेआम संवाद होने की बहुत आवश्यकता है। हमें उस संवाद की भूमिका इन व्याख्यानों में यथासम्भव बाँध देनी चाहिए।

देवता कौन हैं ? एक-एक जड़ पदार्थ में एक-एक अधिष्ठात्री देवता है, चन्द्र, सूर्य, वायु, वरुण, अग्नि, सभी में। क्योंकि कोई चालक न रहे तो क्या जड़ वस्तु स्वयं ही चल-फिर सकती है ? फिर अतीन्द्रिय शक्तियाँ—मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय—ये सब भी एक-एक चेतन को पाये बिना कुछ नहीं कर सकतीं, इन शक्तियों का भी शक्तिमान् कोई-कोई है। हमारे शास्त्रकारों ने इन बातों का खूब विस्तार किया है। किन्तु सच्ची बात क्या है ? इस क्षेत्र में विज्ञान की दशा 'न ययौ न तस्थौ'[१९] की है। यह तो हुई आधिदैविक व्याख्या की समस्या।

तीसरी दृष्टि है—आधिभौतिक व्याख्या। देवताओं को छोड़ दें। सचमुच में सिर के ऊपर जो सूर्यमण्डल है, उसकी ओर ताककर भी इन सब भूतों की जन्मपत्री खोजने की चेष्टा चल सकती है। इस अवसर पर विज्ञान खूब दृढ़ है। कोपर्निकस् से आरम्भ करके टॉम्सन तक बहुत से वैज्ञानिकों ने किस प्रकार ऊपर ताककर ही भूतों की जन्मपत्री तैयार कर ली है एवं कर रहे हैं, उसका संक्षिप्त विवरण हम पहले दे चुके हैं। केवल बड़े-बड़े (महा-) भूतों की ही जन्मपत्री मिली हो, ऐसा नहीं; इस आकाश में—'अमुष्मिन् लोके'—छोटे-छोटे आणविक भूतों की भी पत्री हम ऊपर ज्योतिष्कमण्डल की ओर ताककर बना डाल रहे हैं। सौर जगत् का नक्शा देखकर अणु

के भीतर भी वैसे ही जगत् के नक्शे की कल्पना कर रहे हैं। विराट् जगत् में हम नीहारिकाओं के दाने जमाकर जैसे नक्षत्र (ज्योतिष्क) गढ़ रहे हैं, फिर उनमें से एक के चारों ओर अन्य चार-पाँच को चक्कर लगवा रहे हैं, सूक्ष्म जगत् में भी वैसे ही ईथर में इतस्ततः दौड़ते हुए मुक्त (free) electrons को क्रमशः पहले समझा-बुझाकर परस्पर की शक्ति के बन्धन से बाँधकर फिर उनके विविध प्रकार के व्यूह बना रहे हैं। वे व्यूह ही एक-एक अणु (atom) हैं। जड़ का मर्म समझ रहे हैं, इस आकाश की ओर ताककर, नक्षत्रमण्डल की व्यूहरचना देखकर। इसीलिए ऊपर की ओर अङ्गुली दिखाकर की जानेवाली यह आधिभौतिक व्याख्या इतनी समुचित प्रकार से हो रही है। श्रुति की साङ्केतिक भाषा (shorthand) में लिखे सूत्रों को विज्ञान हमारे सहजज्ञान तथा परीक्षाओं से प्राप्त ज्ञान की सहायता से खोलकर समझा दे रहा है। यह तीसरा लाभ है।

अन्त में कठश्रुति ने देहरूप रथ में आरूढ़ जिस वामन, अङ्गुष्ठमात्र पुरुष से हमारा परिचय कराया है, उसकी अपरोक्षानुभूति होने पर अवश्य ही फिर 'पुनर्जन्म न विद्यते' (अर्थात् फिर और कुछ कहना शेष नहीं रहता); किन्तु अभी इस मुख के परिचय में भी हम जो पा रहे हैं वह हमारे तीनतरफा लाभ के ऊपर एक बड़ा सा सन्तोषक (घलुआ) है, छोटा-मोटा नहीं। महाकाश और दहराकाश में परस्पर खूब मेल है, जो भेद हैं वे व्यावहारिक हैं—यह तथ्य दिखाकर श्रुति ने हमारे हाथ में जो घलुआ दिया है. उसका मूल्य बीसवीं सदी के वैज्ञानिक बाजार में भी कम नहीं है। श्रुति स्थान-स्थान पर जिस अन्दरमहल को गुहा कह रही हैं, 'दहराकाश' कह रही हैं, उसको केवल आध्यात्मिक व्याख्या देकर उड़ाने की चेष्टा उचित नहीं होगी। विज्ञान भी चकित पदक्षेपों से इस अन्दरमहल की चौखट तक आकर, ठहरकर, भीतर के कार्य-कलाप देखकर स्तम्भित हो चुका है। क्लाउजियस, मैक्सवेल आदि वैज्ञानिक किसी भी एक रत्ती जगह में molecules की दौड़-भाग, धक्कामुक्की देखकर व उसका हिसाब देकर 'जड़' की सदर देहली लाँघकर भीतर घुस पड़े थे; उनके बाद अब वैज्ञानिक दरवाजे पर दरवाजे खोलते हुए एकदम अन्दर की यात्रा कर रहे हैं। रसायन-विद्या ने molecule को तोड़कर atoms दिये, अब फिर atom से भी सहस्रगुने छोटे corpuscle तक पहुँचकर भी विज्ञानाचार्य सोच रहे हैं—"आशावधिं को गतः ?" (आशा की अन्तिम सीमा किसने देखी है ?)

भीतर के एक महल में घुसने पर पहले लगा कि यह अवश्य ठोस पदार्थ है, अब इसके भीतर पोल या आकाश नहीं होगा, और भीतर घुसने का कोई गुप्तद्वार नहीं है, यहीं हमारे अनुसन्धान की समाप्ति हुई। किन्तु युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में बेचारे दुर्योधन के साथ मयदानव की इञ्जीनियरिंग विद्या ने बहुत सी दुष्टतायें की थीं,

जहाँ द्वार था वहाँ उसे दिखा नहीं और जहाँ द्वार नहीं था वहाँ उसे दिख रहा था। ऐसे, जड़ का इञ्जीनियर कौन है यह हम नहीं जानते, किन्तु देखते हैं कि विज्ञान को, दुर्योधन की तरह ही रास्ता चलते-चलते बहुत जगह अकारण ठिठककर रुक जाना पड़ा है, अथवा चलते समय सामने अज्ञात, न सोची हुई बाधा की ठोकर खानी पड़ी है। बहुत सा समय Atoms के साथ बीता। अब देखता हूँ कि उसके भी भीतर के द्वार खुल रहे हैं एवं उसके भीतर का दहराकाश पकड़ में आ रहा है। दहराकाश यानी छोटा-सा आकाश। उतने अपरिसर (लघु) आकाश में ही वृषोत्सर्ग (एक श्राद्ध-विधि में साँड़ छोड़ना) का आयोजन चल रहा है। तैजस अणुओं (electrons) की दौड़भाग का क्या वेग है ? हमारी पृथ्वी एक सेकेण्ड में १८ मील चलती है तब भी उस वेग के सामने यह पङ्गु है। और उस दहराकाश में तैजस भूतों को कैसी विशाल ढलान मिली है कि आपस में कोई रगड़-झगड़ नहीं होती। शायद हमारी दृष्टि से जो दहराकाश है, वह उनकी दृष्टि से असीम आकाश है,—यह कहने में अत्युक्ति न होगी। हमने जिसे गोष्पद (गौ का खुर धँसने से मिट्टी में बना गड्ढा) समझा है उसे वे लोग ईथर का सीमाहीन समुद्र देख रहे हैं। मेरे ऊपर, नीचे एवं चारों ओर जो शान्त, सीमाहीन गगन फैला हुआ है, उसे ब्रह्म कहकर नमस्कार करने से दोष न होगा, और इन तैजस भूतों की आँख में आँख मिलाकर मैं यदि इस दहरगुहा में लीन ईथर-सागर को ब्रह्म कहते हुए अभिवादन करूँ तो आप लोग क्या मुझे क्षुद्राशय पुतला-पूजक समझेंगे ? भले समझा करें, किन्तु प्राचीन ब्रह्मविद्या छोटे को छोटा नहीं समझती थी, और नवीन पदार्थ-विद्या भी छोटे के मुँह से बड़ी बात सुनने की ही आदी हो रही है। प्राचीनों ने ब्रह्म को एक ही निःश्वास में 'महतो महीयान्' एवं 'अणोरणीयान्' कह डाला, इसकी व्याख्या अब तक आध्यात्मिक पक्ष में ही होती रही है। 'अणु के समान दुर्विज्ञेय'—ऐसा कुछ भाष्य लिखकर किसी प्रकार श्रुति की मर्यादा रखनी पड़ती थी। किन्तु आज के विज्ञान में आचार्य के इस भाष्य पर जो विस्तृत टीका बनाई जा रही है, वह श्वेतद्वीप की कैवेण्डिस लेबोरेटरी में रचित होने पर भी, एवं उसके फलस्वरूप अणु का नया नामकरण होकर corpuscle या Cambridge atom अथवा Electron—ऐसी म्लेच्छ परिभाषायें हमारे कान तक पहुँचने पर भी, लगता है कि हम इस विलायती नई टीका के उपकार से उस पुरातन श्रौतगुहा व दहराकाश को तथा उसमें लीला करती हुई ब्रह्मवस्तु को धीरे-धीरे समझ लेने का उपक्रम कर रहे हैं। म्लेच्छ कहकर विद्या की अवज्ञा करें तो अविद्या का ही भजन करना होगा, विद्या जाह्नवी-धारा के समान जिस क्षेत्र से होकर बह जाती है, उसे पुण्य-क्षेत्र बना ही देती है, अतः श्वेतद्वीप से आये या पीतद्वीप से आये, उस जाह्नवी-धारा का स्पर्श कर पाने से जीव के श्रेय-प्रेय में सन्धि-बन्धन हो जाता है।

क्रुक्स, लॉज आदि ने तैजस वस्तु का जो सन्धान पाया है, उसके फलस्वरूप हमारी बहुत समय से उपेक्षित, अपरिष्कृत बुद्धिगुहा और मलिन दहराकाश संभवतः तत्काल अभिनव आलोकरश्मि पड़ने से सजग और स्वच्छ हो उठेंगे; उनमें स्फुटित हो उठेंगे वे ही "हिरण्मय, हिरण्यश्मश्रु पुरुष", जिनको वेद ने आदित्यमण्डल में और आँख के भीतर, भूमा और अल्प,—ऐसे दो-दो रूपों में दिखाकर हमारे लिए अमृतत्व-सुख के आस्वादन का उपाय कर दिया है। श्वेतद्वीप में वायुरहित काँचपुर (Vacuum tube) में जो भूत कुछ वर्ष पहले उत्पन्न हुआ है, कृतज्ञता-भार से झुके हृदय से उसे वरण कर लेने में मुझे तो कुण्ठा नहीं है, इस तैजस भूत की सहायता से ही जड़, प्राण व मन के प्रत्यग् आत्मा को मूँज के भीतर की सींक की भाँति हम खोजकर निकाल सकेंगे। दूसरी ओर, हे अभिनव वेदों के ऋषि विज्ञानाचार्यगण! आपके विनिद्र (निद्रारहित) नयन यन्त्र के आसपास जिस तत्त्व को सङ्कुचित व बद्ध देखने के अभ्यस्त हुए हैं, वह तत्त्व भूमा है, और उसे पकड़ने, बाँधने चलोगे तो वृन्दावन की यशोदामैया के नन्ददुलारे को बाँधने के समान व्यर्थ प्रयास होगा, एक चिर-निष्फल चेष्टा ही होगी, यह बात भूलना नहीं; यशोदा ने अपने लाडले के मुँह में सारा ब्रह्माण्ड देखकर उसे पहचान लिया था; आप लोग भी अणु के दहराकाश में इस समस्त जगत् का आयोजन देखकर क्या उसे पहचान न लेंगे? किन्तु यह पहचान हुए विना सुख नहीं है—'नाल्पे सुखमस्ति'[१२१]।

आख्यायिका में जिस ब्राह्मण ने ऊपर की ओर अङ्गुली उठाकर कहा—"असौ लोकः"—उसका अभिप्राय हम कुछ-कुछ समझ गये। और एक व्यक्ति ने उस पर आपत्ति उठाकर नीचे की ओर अङ्गुली दिखाकर कहा था—"अयं लोकः"—यह दिखाई देनेवाले ६ लोक ही निखिल भूतों की गति व आश्रय हैं। इस "अयं लोकः" को भी हम आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन भावों में समझने की चेष्टा करेंगे। भाष्यकारों ने आधिदैविक अर्थ को ही आपाततः हमारे सामने रखा है, क्योंकि वही सीधा अर्थ है। स्वर्ग के देवताओं की खुराक व पोशाक तो हम लोग ही यहाँ यज्ञ में घी डालकर एवं विभिन्न प्रकार की आहुति देकर जुटाते हैं। हम रसद न पहुँचायें तो बेचारे अमर लोग दुर्भिक्ष में मारे जायँ। वही अवस्था पितरों की है। जिस यज्ञ में सब प्रतिष्ठित हैं उस यज्ञ की प्रतिष्ठा (आधार) भी फिर उसी लोक में है। इसलिए संसार-वृक्ष को उलटा कर देखने से भी कोई फायदा नहीं, मूल नीचे की ओर ही है। कठश्रुति व गीता में चक्षु का रोग ही है। किन्तु गीता ने "परस्परं भावयन्तः"[१२२] कहकर देवता और मनुष्यों की परस्पर निर्भरता का संकेत कर दिया है। हमने यज्ञ में आहुति दी, वह देवताओं का भोग बनी। देवताओं ने प्रसन्न होकर हमारे अन्न के खेत में जल बरसा दिया, और भी असंख्य प्रकारों से हमारी सहायता

कर दी। यह आधिभौतिक व्याख्या है। पहले ही बता चुके हैं कि देवता कौन हैं, उनका स्वरूप क्या है ? यज्ञ में डाली गई आहुति उनका भोग किस प्रकार बनती हैं—इन सब प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर जब तक हम लोग नहीं दे पाते तब तक आधिदैविक व्याख्या में ही लगे रहना होगा, यहाँ तक कि इस व्याख्या का भार बुद्धि के कन्धे पर लादे हुए हम मन में सोचेंगे कि यह आधि-व्याधि में ही शामिल हो जायेगी। व्याख्या ठीक व्याख्या के समान न हो तो उसे वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रकाशित नहीं किया जा सकता।

इसके बाद आती है आध्यात्मिक व्याख्या। इस क्षेत्र में हमें किसीके भी सामने मस्तक झुकाना नहीं पड़ेगा। रूपक में और आध्यात्मिक व्याख्या में पुराणकार अद्वितीय हैं। श्रुति को भी रूपक, प्रतीक आदि अच्छे लगते थे। अच्छा लगना उचित ही है। जहाँ निज-बोध-गम्य (अपने ही बोध द्वारा समझे जा सकनेवाले तत्त्व) को दूसरे में, जिज्ञासु में उसीकी बुद्धि द्वारा पहुँचाना होता है, वहाँ मूल में किसी तुलना, आभास, इङ्गित, सङ्केत के बिना भावना का योग जुड़ेगा कैसे ? Analogies या उपमान के बिना विज्ञान भी हमें ईथर, अणु-परमाणु की बात समझा सकता है क्या ? आलोक-रश्मि कैसे चलती है, शब्द-तरंग कैसे चलते हैं—इत्यादि बहुत सी वैज्ञानिक बातें भी उपमा और प्रतीकों के सहारे ही समझानी पड़ती हैं।

कुछ भी हो, छान्दोग्य श्रुति ने 'अयं लोकः' कहकर किसकी ओर सङ्केत किया है ?—अपने प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभव पर। मैं जो देखता-सुनता-पकड़ता-स्पर्श करता हूँ, मन में उसे अनुकूल या प्रतिकूल अनुभव कर रहा हूँ, यही मेरा प्रत्यक्ष है। आचार्य रामेन्द्रसुन्दर अपने जीवनकाल में इसे 'प्रातिभासिक जगत्' कह गये हैं। 'प्रत्यक्ष' कहने से केवल बाह्य प्रत्यक्ष नहीं समझना चाहिए। यह जो गोस्वामीजी का या निमाई-संन्यास का चित्रपट हम देख रहे हैं; वह बाह्य प्रत्यक्ष है। इसे देखकर जो मन का शान्त एवं करुण रसों में सन जाना अनुभव कर रहा हूँ, यह मानस प्रत्यक्ष है। यह सब मिलाकर ही हमारा प्रातिभासिक जगत् बना है, उसके लिए किसीने 'प्रातिस्मिक' नाम का भी प्रस्ताव किया है। नाम जो भी दिया जाय, यह प्रातिभासिक जगत् ही सब वस्तुओं की प्रतिष्ठा या आश्रय है। यदि ऐसा है तो आलोक-माला की छटा में खड़ा होकर मैं जो भाषण दे रहा हूँ, एवं आप दस जने सुन रहे हैं—यह बात किसने कही ? मैं अनुभव कर रहा हूँ। हमारे बंगाल के उत्तर की ओर हिमालय पर्वत है और दक्षिण में बङ्गीय उपसागर है—यह किसने कहा ? मैंने देखा या सुना है। अभी वर्तमान में देखना-सुनना न होने पर भी मन में विश्वास कर रहा हूँ एवं विश्वास करना या न करना मेरे मन की ही एक वृत्ति है। सुतरां इस दृष्टान्त से भी प्राति-भासिक जगत् छोड़कर हम जा नहीं सके।

अपनी छाया भले ही लाँघ ली जाय, अपने कन्धे पर भले ही खुद बैठा जा सके, किन्तु प्रातिभासिक या प्रातिस्मिक जगत् की जो ऐन्द्रजालिक परिधि-रेखा है उसके पार किसी भी तरह नहीं जाया जाता। मैं आँख मूँद लूँ तो जगत् अन्धकारमय है, आप दस लोग भी प्रकाश-प्रकाश कहकर आकाश कँपा दें, तो भी मेरा वह अन्धकार प्रकाश नहीं बनता। मजे की बात यह है कि मैं जो इस तत्त्वविद्या के भवन में सभा करके भाषण दे रहा हूँ; आप सबके सहित यह समस्त कार्य-कलाप मेरे ही प्रातिभासिक जगत् के भीतर हैं। अवश्य ही आप सब मुझसे भिन्न तथा बाहर हैं, यह मैं समझ रहा हूँ। प्रातिभासिक जगत् में रहता हुआ ही समझ रहा हूँ एवं प्रातिभासिक जगत् में रहकर ही व्यवहार कर रहा हूँ। इस बात को आप सोचकर देखियेगा, यहाँ अब और खोलकर नहीं कहेंगे। मैं जान रहा हूँ इसी नाते सौर-जगत् तथा इलॅक्ट्रॉन का जगत्, स्वर्ग, नरक, देव, दानव, भूत, प्रेत सभी कुछ विद्यमान हैं। मैं न भी जानूँ तो ये सब रह सकते हैं, ऐसा हमारा विश्वास अवश्य है। किन्तु यह विश्वास तो प्रमाण नहीं—यदि मैं जानूँ नहीं तो वह सभी कुछ सचमुच ही मेरे ज्ञान के तो बाहर ही रहता है।

अतएव, यह जो प्रातिभासिक लोक है—वह मेरे अनुभव पर ही प्रतिष्ठित है। इस प्रातिभासिक लोक को ही रामेन्द्रसुन्दर आदर से 'मैं' कहते थे। आचार्य द्वारा दिया नाम लेने पर कहना होगा कि यह समस्त विश्व जिस पर प्रतिष्ठित है वह 'मैं' हूँ। 'मैं' हूँ तो सभी कुछ है, मैं नहीं तो कुछ भी नहीं। यह बात बड़ी स्थूल व सीधी-सादी होते हुए भी सबसे अधिक गूढ़ व रहस्यमय है। बहुत अधिक गहराई तक न जाने पर भी सीधी-सरल रीति से 'अयं लोकः' की आध्यात्मिक व्याख्या यह दी जा सकती है—मैं कुछ-कुछ देख-सुन रहा हूँ, यह मेरा अपना प्रत्यक्ष है। देख-सुनकर ऐसी अनेक वस्तुओं का अनुमान, अन्दाज या कल्पना करता हूँ जो हमारे देखने-सुनने में नहीं आई हैं, शायद कभी आयेंगी भी नहीं। ऐसा अनुमान, कल्पना आदि प्रत्यक्ष को आश्रय करके ही होती है। जैसे धुआँ देखकर पर्वत पर अग्नि होने का अनुमान करते हैं, मंगलग्रह की जलवायु की अवस्था तथा विविध रेखा आदि देखकर कल्पना करते हैं कि वहाँ बुद्धिमान् जीव हो सकते हैं। अतएव हम पाते हैं कि मेरा देखना-सुनना ही मेरे परिचित तथा कल्पित जगत् का मूल है। और मेरे देखे-सुने को ही नाम देना चाहिये "अयं लोकः", तभी कहा जा सकेगा कि "अयं लोकः" ही निखिल जगत् की प्रतिष्ठा या आश्रय है।

यही संक्षेप में 'अयं लोकः' की आध्यात्मिक व्याख्या है। इसमें विज्ञान को कोई आपत्ति नहीं है। आधिभौतिक व्याख्या विज्ञान की ओर से ही देना अच्छा होगा। वह दो प्रकार से दी जा सकती है। पहले ऊपर की ओर देखकर जैसे जड़ के नाड़ी-नक्षत्र का संवाद मिला है, वैसे ही पुनः नीचे की ओर देखकर, हमारे परिचित पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि को हिला-डुलाकर, उलट-पलटकर हम जान पाये हैं कि किस प्रकार

हमारे क्षुद्र इलाके के बाहर सुदूरवर्ती ज्योतिष्कपुंज चलते फिरते हैं, एक-दूसरे की प्रदक्षिणा करते हुए घूमते हैं; यहाँ तक भी जान पाये हैं कि किस मसाले से ये लाख-करोड़ योजन दूर रहनेवाले तारे या नीहारिकायें गठित हैं, इसे भी spectrum analysis करके बता सकते हैं। अपनी पृथ्वी की किसी भी वस्तु की परीक्षा उक्त यन्त्र में करके देख सकते हैं कि उसका आलोकचित्र कैसा है, उस चित्र में कैसा रंग-विरङ्गा समावेश है। अब ध्रुवतारा के आलोक का विश्लेषण करके यदि वैसा ही कोई आलोकचित्र पायें तो ध्रुवतारा में पूर्वोक्त वस्तुयें हैं यह पता चलेगा। वसुन्धरा हमारा घर है। इस घर की खबर ठीक से पाकर तब हमें बाहर की बातें समझने का यत्न करना चाहिये। सब समय ऐसा हो ऐसी बात नहीं है। कभी-कभी बाहर से घर में आने पर ही सुविधा होती है। अस्तु, और दृष्टान्त लेकर पोथी बढ़ाऊँगा नहीं। "अयं लोकः" किस प्रकार "असौ लोकः" को हमारे ज्ञान के इलाके में परिचय के बीच प्रतिष्ठित कर देता है वह हमने कटाक्ष से देख लिया। इसलिये कम-से-कम हमारे ज्ञान की ओर से यह बात भलीभाँति कही जा सकती है कि 'अयं लोकः' सभी का आश्रय है। बालक समझना चाहता है पृथ्वी सूर्य के चारों ओर कैसे घूमती है ? मैंने रस्सी में एक ढेला बाँधकर जोर से घुमाकर कहा—"ऐसे !" यहाँ "असौ लोकः" को समझा रहा हूँ—"अयं लोकः" के द्वारा। अनदेखे-अनजाने को समझा रहा हूँ—देखे-जाने के द्वारा।

मैंने केल्विन साहब को पूछा—"हुजूर ! आपके ईथर के अणु का चक्कर कैसे घूमता है ?" उन्होंने मुख से चुरुट का थोड़ा-सा धुआँ फेंककर कहा—"यह देखो ! धुआँ कुण्डली बाँधकर उठ रहा है, यही नमूना है।" मैंने पूछा—"मेघ कैसे बनता है ?" C. T. R. Wilson साहब ने एक काँच के पात्र में जलीय वाष्प भरकर उसका चाप घटा दिया और बीच में कुछ electrons के केन्द्र (nuclei) डाल दिये, एक-एक जल-बिन्दु ने जमावट बाँध ली। स्टोक्स् साहब का दिया 'मन्तर' पढ़कर उन दानों की जनगणना तक लेकर, तब छोड़ दिया। विशेषज्ञ लोग रहस्य से अवगत हैं। जो कुछ भी हो, इन सब दृष्टान्तों में भी 'अयं' (इस) की सहायता से ही 'असौ' (उस) को समझना होता है। यह क्या एक प्रकार से 'अयं' के ऊपर 'असौ' की प्रतिष्ठा नहीं है ? ज्ञान का आयतन क्या आयतन नहीं है ? यह एक प्रकार की आधिभौतिक व्याख्या विज्ञान दे सकता है।

एक और प्रकार भी है। ईथर, अणु, परमाणु ये सब सूक्ष्म अतीन्द्रिय भूत हैं। इन सबके सम्बन्ध में हमारी कल्पना कहाँ तक वस्तुनिष्ठ है यह कहना कठिन है। ईथर को लेकर हम देखेंगे कि इसे पदार्थ-विद्या ने कितनी बार कितने प्रकार से तोड़ा और गढ़ा है। ईथर हमारे परिचित जड़ द्रव्य के समान है या नहीं ? इस विचार में किसी निर्णय पर पहुँच नहीं पाये—यह देखकर विज्ञान के कर्णधार निरुपाय होकर बैठ गये।

ईथर के सम्बन्ध में subnatural, supernatural आदि विशेषण देना शिष्ट वैज्ञानिकों ने डरते-डरते अभी-अभी प्रारम्भ किया है। अब फिर, ईथर सचल है कि अचल है, इस पर विद्वान् लोग विवाद कर रहे हैं। अणुओं का भ्रम टूट जाने से घर की हाँड़ी का भेद बाहर मालूम हो जाने से पदार्थविद्या लाज से गड़ी जा रही है। उन्नीसवीं शताब्दी का वह आस्फालन (कूद-फाँद) आज नहीं है। अणु के भीतर एक दहराकाश एवं उसके भीतर एक सम्पूर्ण जीवन्त जगत्—भलीभांति देखकर रसायन-विद्या अप्रतिभ हो (घबरा) गई है। क्यों न घबरायेगी ? उसके "विद्या-मन्दिर" में आज सच ही तो चोरी पकड़ी गयी है। उसकी विद्या के गुप्त विलास-कक्ष में जो नागर सुरंग काटकर घुसा बैठा है वह तो सच ही सत्य-शिव-सुन्दर है--आओ आओ तो प्राचीन ऋषियों के वंशज भारतवासियो! आओ, ज्ञानाञ्जन लगे नेत्रों से आज पुनः उसे देख लें। पश्चिम देश की 'केवेण्डिस् लेबोरेटरी' को एक 'क्षुधित पाषाण'[१३३] की भाँति पहचानकर ही विज्ञान के दो-एक वाउल फकीर "सब झूठ है, अलग हटो" की हाँक लगाते हुए उसीके चारों ओर घूम रहे हैं। हमारे रामेन्द्रसुन्दर अपने ज्ञान-गौरव के भार से झुके कलेवर पर शुभ्र यज्ञोपवीत झुलाते हुए गङ्गातीर पर खड़े होकर ताम्र-तुलसी-गङ्गाजल स्पर्श करके कह गये हैं कि विज्ञान की वह पुरी मायापुरी है। जो भी हो, छड़ीदार महाशय कितना ही घूमें-फिरें, बड़े-बड़े पण्डे लोग गुप्त कक्ष में चुपचाप परामर्श कर ही रहे हैं कि विज्ञान का कारबार कैसे चलाया जाय। ईथर अणु आदि बने रह सकेंगे क्या ?

अथवा उस-सब झमेले में न जाकर सीधे-सादे कह देंगे कि कार्यकरी शक्ति या energy को उड़ा देना संभव नहीं। सुतरां यदि Energy-quantum द्वारा जड़ का हिसाब दें अर्थात् कहें कि--"Matter is a complex of energies found together at the same place"--तो ईथर, अणु आदि को बने रहने का अवकाश मिलेगा और भविष्य में भी इन्हें कभी घबराने की आशंका नहीं रहेगी। कहना यह है कि एक द्रव्य एक शक्ति-गुच्छ या शक्ति-व्यूह है। किसकी शक्ति कहाँ कार्य कर रही है, नहीं जानते। किन्तु कार्य हो रहा है, अतएव कार्य करा सकने में समर्थ शक्ति-व्यूह वर्तमान है इसे कैसे अस्वीकार करें ?

इस व्याख्या से सुविधा हुई या असुविधा, इस पर अभी विचार नहीं करेंगे। केवल "Energy quanta" अथवा "centres of force" कहकर निश्चिन्त रहना शायद चलेगा नहीं। गोलमाल (गड़बड़ी) के भय से ईथर, तड़ित् आदि नाम छोड़कर भाग आने की इच्छा होने पर भी वह 'कम्बली' ही हमें छोड़ेगी नहीं[१३४]। तो जो भी हो, ओसवाल्ड आदि "quanta" द्वारा जड़ की जो विवृति दे रहे हैं, उसमें "असौ" को छोड़कर "अयं" के ऊपर निर्भर करना पड़ रहा है। शक्ति (Energy) कार्य

करती है, अतः वह साक्षात् "अयं" (यह) है, ईथर आदि कार्य करते हैं या नहीं, हम जानते नहीं, किन्तु अवश्य ही कार्य के अधिष्ठान या वाहन तो माने जा ही रहे हैं, अतः वे साक्षात् "असौ" (कुछ दूरी या परोक्षता लिये हुए 'वह') हैं। विज्ञान ने विविध झमेलों में पड़कर 'असौ' की पुरानी माया काटकर अब 'अयं' के प्रति ही कुछ-कुछ पक्षपात करना आरम्भ किया है। जो भी हो, आधिभौतिक व्याख्या यहीं समाप्त हुई। व्याख्या तो तीन बार (तीन प्रकार से) हो चुकी। अब उस पर कुछ घलुआ की इस बार भी आशा है क्या ? यदि है, तो सतर्क रहियेगा इस घलुए में ही मुख्य तत्त्व निहित है।

किसीने ऊपर (आकाश की ओर) अँगुली दिखाकर कहा—'असौ' (= वह) सभी की गति एवं आश्रयस्थान (घर) है; और किसीने नीचे (पृथ्वी की ओर) अँगुली दिखाकर कहा—'अयं' (= यह) सभी की गति या आश्रय है। दोनों की अपने-अपने पक्ष की वकालत भी हमने सुन ली। एक ने अदृष्ट को बड़ा बताया, दूसरे ने दृष्ट की महत्ता बढ़ानी चाही। एक ने बाहर खोजा, एक ने घर में ही खोजा। एक की दृष्टि "अमुष्मिन्" (उसमें) है, दूसरे की दृष्टि "इह" (यहाँ पर) है। इस प्रकार विभिन्न दृष्टि लेकर देखना क्या मानवात्मा के लिए चिरन्तन नहीं है ? यह क्या केवल छान्दोग्योपनिषद् के दिनों का विवाद है ? यहाँ पर हम जितने लोग उपस्थित हैं उनमें से किन्हीं दो को बुलाकर पूछा जाय कि सबका मूल व गति क्या है ? उत्तर मोटे तौर पर उक्त दो प्रकार के ही मिलेंगे। एक ऊपर, अदृष्ट की ओर अँगुली दिखायेगा, दूसरा नीचे, दृष्ट की ओर दिखायेगा, जिसका आश्रय लेकर हम सब खड़े हैं।

श्रुति में देखने को मिलता है, एक बार नासिकाप्राण, मुख्यप्राण आदि असुरों से विद्ध[५५] हुए थे। इसीलिये नासिका में सुगन्ध-दुर्गन्ध का भेदज्ञान और रसना में अच्छे-बुरे रस का पार्थक्य-ज्ञान आदि है। आदिमकाल से हमारी बुद्धि भी शायद असुरविद्धा हो गई है। इसीलिये हमारे घट-घट में विचार, मनन अलग-अलग प्रकार का हो रहा है। इस क्षेत्र में प्रयोजन क्या है ? प्रयोजन संमन्वय ही है।

हेगेल-पन्थी लोग Thesis, antithesis एवं synthesis की बात कहा करते हैं। वादी-प्रतिवादी झगड़ा कर रहे हैं। किसीने बीच में पड़कर सालिश (मध्यस्थ निर्णय) कर दी, बला टल गयी। हमारा यही 'असौ' एवं 'अयं' के बीच का हमेशा का मामला है—समझौता होगा कैसे ? बहुत ध्यान से देखने पर समझ पायेंगे कि वादी और प्रतिवादी दोनों का ही मुकदमा कच्चा है। 'असौ' कहकर ऊपर की ओर अँगुली दिखाने पर तत्त्व के एकदेश का ही दर्शन होता है। 'अयं' कहकर छोड़ देने में भी

वही दोष है। बहुत बड़ा दोष है। एकदेशदर्शिता (किसी बहुत बड़ी वस्तु का केवल एक छोर दिखाना)—तीन अन्धों द्वारा हाथी देखने के समान। तीन अन्धों ने कभी हाथी नहीं देखा था; महावत की खुशामद करके एक दिन वे तीनों हाथी के ऊपर चढ़ गये, एवं जिसने हाथी के जिस अंग का स्पर्श किया, उसने उसीको हाथी समझ लिया। कान छूकर एक ने मान लिया, हाथी सूप जैसा होता है। पाँवों पर हाथ घुमाकर एक ने समझा, हाथी खम्भे के समान है। ऐसे-ऐसे ज्ञान बटोरकर फिर परस्पर अभिज्ञता का हिसाब किया जाता है। परिणाम होता है मारा-मारी। तब किसी सिपाही ने बीच-बचाव करके उनमें समझौता कराकर उनकी आंशिक अभिज्ञताओं को जोड़कर पूरे हाथी की धारणा बना दी। बात मामूली है—किन्तु यह दोष हमारे बीच पुराना होकर किसी भी प्रकार झड़कर गिर नहीं रहा है।

इसीलिये छान्दोग्य श्रुति ने 'असौ' तथा 'अयं' दोनों एक साथ कहकर अन्धों का झगड़ा लगाकर मजा देखना स्वीकार नहीं किया। प्रवाहण नामक जैवलि ने शालावत्य को कहा—[१२६]"तुम अयं कहकर जो लोक दिखा रहे हो, वह लोक तथा उसका प्रतिष्ठित धाम अवश्य ही अन्तवत् है—अनन्त नहीं है। खण्डित, सान्त द्रव्य में निखिल द्रव्यों की प्रतिष्ठा नहीं होती, जिन सबको वह स्थान देगा उनका इतनी-सी जगह में कैसे काम चलेगा? जहाँ पर समस्त पदार्थ 'यह', 'वह' ऐसे पृथक्-पृथक् होकर रह रहे हैं एवं चल-फिर रहे हैं, उस स्थान को अखण्डित "continuum" होना चाहिये। 'असौ' 'अयं' का व्यावर्तक है और 'अयं' 'असौ' के अधिकार के बाहर है। दोनों ही 'अन्तवत्' (सान्त) खण्डित हैं। किन्तु चाहिये एक ऐसा continuum—ऐसा कुछ, जिसके सम्बन्ध में यह न कहा जा सके कि इसकी सीमा इतनी है, इसके आगे यह नहीं है और उस क्षेत्र में भी फिर जोड़-तोड़ और काट-छाँट नहीं होनी चाहिये। जो वस्तु या स्थान टुकड़ों-टुकड़ों में हो, उसे जोड़ रखने के लिए फिर और किसी बड़ी वस्तु की आवश्यकता होगी। मेज पर कुछ-एक पुस्तकें अलग-अलग पड़ी हैं, उन्हें आश्रय दिये हुए है यह मेज ही। इस एक दृष्टान्त से ही अभिप्राय समझ लीजिये।

हम लोग बार-बार उपाख्यानों में क्या खोज रहे हैं—स्मरण है न?—खोज रहे हैं निखिल पदार्थों की गति और आश्रय। वह भी जैसा-तैसा नहीं, घर नहीं, पृथ्वी नहीं, सबका अन्तिम आश्रय। क्रमशः उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर आश्रय खोजते-खोजते कहाँ पहुँचेंगे यही सोच रहे हैं। 'असौ' 'अयं' इत्यादि सर्वनामों के रूपों से हमें लाभ न होगा। हम चाहते हैं 'परो वरीयान् लोकः।'[१२७] वह सबसे बड़ा लोक कैसा होगा इसका एक आभास हमें अभी मिला। वह होगा—'भूमा', वह होगा विपुल। कोई छोटी वस्तु चरम आश्रय नहीं हो सकती। किन्तु उस विपुल को पायेंगे कहाँ? क्या

ऊपर उँगली दिखाकर ? हाँ, वहाँ भी वह है, आसपास दसों दिशाओं में भी वही है। 'यहाँ है, वहाँ नहीं है' कहते ही तो फिर वह विपुल नहीं रह पायेगा।

अब इस सब परिचय के बाद कह देना होगा कि वह विपुल, भूमा कौन है ? इसीलिये श्रुति ने अन्त में कहा है—

[१२८]"अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच;
सर्वाणि वा इमानि भूतानि आकाशादेव
समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति, आकाशो
हि एवैभ्यो ज्यायान् आकाशः परायणम्"।

अर्थात् इस लोक की गति व आश्रय आकाश है। आकाश से ही निखिल भूत उत्पन्न हो रहे हैं, एवं फिर आकाश में ही सभी लीन हो रहे हैं, इसीलिये सबसे बड़ा है आकाश एवं वह आकाश ही इन सबको परमा गति है। आचार्य शङ्कर आदि ने इस आकाश की व्याख्या ब्रह्म कहकर की है। इसमें अन्त तक किसीको आपत्ति नहीं है। किन्तु व्याख्या पहले नीचे के परदे में करके फिर क्रमशः ऊपर के परदों में करने से संभवतः अच्छा होगा। पहले ब्रह्म नाम न देकर यह आकाश कौनसा है ? क्या यह खाली स्थान ही आकाश है ? या शून्य आकाश है ? शून्य से जगत् की, विशेषतः जड़ जगत् की उत्पत्ति होती है एवं फिर शून्य में ही ये सब पदार्थ पर्यवसित होते हैं—यह बात सुनने पर तो विज्ञान लाठी निकाल लेगा। अतः आकाश कोई असत् वस्तु नहीं। आकाश सब वस्तुओं का अभाव नहीं, कोई 'सत्' वस्तु ही है। सीमाहीन, छिद्ररहित एक मौलिक वस्तु से ही सब उत्पन्न हो रहा है एवं फिर उसीमें लीन भी हो रहा है, यही उक्त श्रुति का अभिप्राय जान पड़ता है।

यह सम्भवतः स्वरूप-विवृति नहीं है, हम अभी ठीक-ठीक स्वरूप के विवरण की चेष्टा नहीं कर रहे हैं। मूँज के छिलके में से तिनका निकालने की चेष्टा क्रमशः करेंगे। अच्छा, तो वह मौलिक, सीमाहीन पदार्थ क्या विज्ञान का ईथर है ? उत्तर में 'हाँ' और 'नहीं' दोनों ही कहना होगा। अवश्य ही ईथर ठीक आकाश ही है—ऐसा हलफ़ उठाकर नहीं कह सकूँगा। यह ईथर सृष्टि की पराकाष्ठा है—Ether in the limit, continuum या एकतान वस्तु की कल्पना में कम-बेशी है ही वायु एक ही वस्तु प्रतीत होती है, पर वस्तुतः वैसी है नहीं। जल भी एक खण्ड प्रतीत होता है, किन्तु है नहीं, उसके भी कणों में परस्पर अवकाश है। ऐसे ही continuum खोजते-खोजते ईथर पर जा पहुँचे, किन्तु वह भी पूरी तरह अखण्ड, छिद्ररहित वस्तु है ऐसा विश्वास नहीं होता; क्योंकि ईथर भी शक्ति-प्रयोग के समय रूपान्तरित (strained) हो सकता है। एक रबे को जोर से दबायें तो चपटा हो जाता है, क्यों ? पूरा ठोस न होने के

कारण । इसीलिये ईथर के भी बहुत से ढेले या—series हैं । अतः प्रश्न उठता है कि अन्तिम स्थिति कहाँ है ? पूरी तरह अखण्डित, निरवयव, समवस्थ (continuous, homogeneous) वस्तु क्या है ? वही वस्तु वास्तव में आदर्श ईथर है । और वही है वेदोक्त आकाश । आकाश को strain किया जा सकता है क्या ?

आज यह प्रश्न उठाकर छोड़ दिया है । इस विषय में, अर्थात् आकाश, वायु व ईथर के सम्बन्ध का विचार बाद में करेंगे ।

सात

ईथर, शक्ति और शक्तिबिन्दु

पहले वेद के आकाश एवं विज्ञान के ईथर के सम्बन्ध में जो कुछ बातें कही थीं, मुझे ऐसा लगता है कि वे पूरी तरह स्पष्ट नहीं हुईं वेद में आकाश शब्द का तथा विज्ञान में ईथर शब्द का ठीक एक ही अर्थ में प्रयोग सर्वत्र नहीं हुआ है। न हो ही सकता था। जो विद्या परीक्षा-पर्यवेक्षण के पथ से क्रमशः हमारी चञ्चल, सन्दिग्ध दृष्टि को सत्य की यथार्थ मूर्ति में लाकर सुस्थिर रूप से निबद्ध कर देना चाहती है, उस विद्या की परिभाषाएँ सर्वत्र एक ही लीक पर नहीं चल सकतीं। लक्ष्य एक होने पर भी, यात्रा में पहला कदम उठाते ही लक्ष्य का शत-प्रतिशत दर्शन स्पष्ट नहीं हो सकता। चलते-चलते हम जैसा उसे देखते हैं वैसा ही उसे समझते हैं और भाषा में व्यक्त करते हैं। देखना जैसे पूर्ण से पूर्णतर होता जाता है, उसको समझना भी वैसे ही यथार्थ से यथार्थतर होता रहता है। संभवतः पकड़ना तो हम आत्मा या ब्रह्म को ही चाहते हैं, किन्तु चलने के मार्ग में ब्रह्म अनन्त मूर्त्तियों में हमारी दृष्टि के सम्मुख आने लगा।

पहले जो रूप देखा, वह अन्न है। भोजन खाकर ही तो सब जीवित रहते हैं। आहार न मिले तो प्राण-मन-बुद्धि सभी की 'आँखें खुली' रह जाती हैं। अतः कहना पड़ा कि अन्न पर ही सब प्रतिष्ठित हैं। अन्न ही आत्मा है। यही आत्मा या ब्रह्म का कच्चा दर्शन है। यहाँ अधिक विचार में नहीं पड़ेंगे, क्रमशः इसी प्रकार विभिन्न स्तरों में से चलते-चलते इस कच्चे दर्शन को पक्का दर्शन बना लेना होता है। पक्का दर्शन न होने तक निश्चिन्तता नहीं, आनन्द नहीं। क्योंकि आत्मा को आनन्दरूप में देखना ही पक्का देखना है। खोजने निकलते ही यह पक्का देखना नहीं हो जाता। 'पेट के लिए ही सब कुछ हैं', यह समझने में तो हमें कोई परिश्रम करना नहीं पड़ता, किन्तु हमारे भीतर जो वस्तु है वह आनन्दमय पुरुष है--यह सुनने पर सहसा विश्वास नहीं होता। "त्रिविध तापेते तारा, निशिदिन हतेछि सारा"--(हे तारा! त्रिविध तापों से दिन-रात पीड़ित हो रहे हैं हम सब) यही तो समझ में आता है, और यही हमारे अन्तरात्मा की गूढ़ खबर है। यह खबर झूठी है यह कैसे समझें?

अष्टावक्रसंहिता में शिष्य गुरु को आत्मानुभव का परिचय देने के प्रसङ्ग में कह रहे हैं—एक सच्चिदानन्द-रूप आत्मा सीमाहीन महासागर के समान दसों दिशाओं में व्याप्त है; एवं उसीमें कोटि-कोटि विश्व बुद्बुद के समान उठ रहे हैं, लीन हो रहे हैं—यह बात सुन ली, किन्तु सुनकर मन में आया कि एक अद्भुत अलौकिक व्यापार

है। यह मेरे ही स्वरूप का परिचय है इसमें मुझे जरा भी सन्देह नहीं होता। अभी उस दिन दक्षिणेश्वर में काली-मन्दिर में परमहंसदेव ने चिन्मय 'कोशा', 'कूशी' (ताँबे के पूजा-पात्र), चिन्मय गङ्गाजल, चिन्मय घर-द्वार, चिन्मय पेड़-पौधे—की बात कहकर हमें अवाक् कर दिया था। आत्मा ही बहुरुपिया सजकर, जगत् बनकर अपनी ही आँखों में जादू लगाये हुए हैं—यह बात सुनकर हमें विश्वास नहीं होता। तब भी, यह सब मायावाद है, विवर्तवाद की बात हजारों वर्षों से हमारे विराट् समाज और सभ्यता की शिराओं, उपशिराओं में रक्त के समान प्रवाहित होकर नाना पुराणों में, इतिहास में, गाथा-उपाख्यानों में, दर्शन-मतवादों में और लोक-विश्वास में स्फुटित हो उठी है।

कुछ समय से अपनी इसी घरेलू बात के कारण हमें 'साहब' लोगों का बुरा-भला सुनना पड़ रहा है। 'मायावाद' 'मायावाद' की रट लगाकर हम लोग अत्यन्त निष्ठुरता से सचमुच इस जगत् को झुठलाकर मानो स्वयं ही परित्यक्त हो गये हैं, ऐसा 'साहब' लोग कहते हैं। जगत् के लेन-देन के खाते में पृथ्वी का पाँचवाँ भाग इसीलिए आज शून्य में शामिल है। विलियम आर्थर आदि विदेशी समालोचकों के मतानुसार माया ही हमारी सनातन सभ्यता है—एक प्रकाण्ड धोखा है। खैर, जो भी हो, अब हम लोग 'साहबों' की दृष्टि में शिष्ट सभ्य बालक बन रहे हैं—अब हम अपने 'घर' की खबर नहीं रखते। उसे सुनकर विस्मय प्रकट करना हम सीख गये हैं।

यह भय की बात है या विश्वस्त होने की—नहीं जानते, किन्तु आत्मतत्त्व चिरकाल से ही दुर्विज्ञेय रहा है। कठ-श्रुति के सुर में सुर मिलाकर इसीलिए गीता कहती है—"आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम् आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।" (२.२९) इत्यादि। आत्मा की बात हमारी अपनी ही बात है, किन्तु उसे सुनकर चकित, अवाक् होना आज की नयी बात नहीं है—"श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।" हमारे समाज में शिक्षा-दीक्षा द्वारा इस 'अपनी बात' के अभ्यस्त कराने का आयोजन, अनुष्ठान अनेक प्रकार से चिरकाल से ही चल रहा था। फलस्वरूप हमारे पूर्वगामी लोग बात सुनने पर, सब समय न समझने पर भी भय से चौंक नहीं उठते थे और उससे दूर नहीं भागते थे। पुराणों में, नाटक-मेलों में, कीर्तन, संगीत आदि में उसी बात को घुमा-फिराकर तरह-तरह से रोचक बनाकर कहा जाता था, तो वह सब देखने से तत्त्व की बात भले ही सीधे पूरी-पूरी आत्मसात् न भी होती हो, किन्तु कम-से-कम उसके प्रति हमारा ममत्वबोध तो बढ़ ही गया था। वह अपनी ही बात है, इतना तो समझते ही थे।

हमारी अपनी ही बात इतना बड़ा गूढ़ रहस्य है कि इच्छा होते ही तत्काल उस

रहस्य को खोल दिया जा सके यह संभव नहीं। धीरे-धीरे परदे के वाद परदा हटाते-हटाते जिज्ञासा को क्रमशः भीतर की ओर ले जाना होता है। शङ्कराचार्य ने शारीरक भाष्य में अरुन्धती तारा दिखाने का दृष्टान्त दिया ही है। हमने भी पहले यही बात कुछ रूपान्तर से कही है। छोटा सूक्ष्म तारा दिखाने के लिए पहले उसके समीप के किसी बड़े तारे पर दृष्टि लगानी होती है। नहीं तो कुछ भी न जाननेवाले नये व्यक्ति की चञ्चल दृष्टि को अभीष्ट विषय पर सुस्थिर नहीं किया जा सकता। इसीलिए प्रत्येक साधन-शास्त्र जिज्ञासु का सामर्थ्य और अधिकार समझकर आवश्यकतानुसार लक्ष्य पदार्थ का लक्षण बदलते रहते हैं। इसलिए एक ही वस्तु के अनेक प्रकार के लक्षण या विवरण देखकर हमें चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए।

बालक पूछे कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर कैसे घूमती है? तो इस पर पहले तो उसे समझाने की सुविधा के लिए कहते हैं कि वृत्ताकार पथ में घूमती है, फिर उसमें संशोधन करते हैं कि अण्डाकार (ellipse) की तरह वृत्ताभास-पथ में घूमती है। अन्त में वस्तुस्थिति से पूरा परिचय होने पर वह बालक समझ जाता है कि यह मार्ग ठीक वृत्ताभास भी नहीं, उससे कहीं अधिक जटिल और कुटिल है। अवश्य ही कुछ हिसाव लगाना हो तो स्थूल रूप से उसे वृत्ताभास समझने में भी हानि नहीं। किन्तु वह हिसाब मोटामोटी (approximate) ही होगा। ग्रहों की गति के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध केप्लर साहब के हिसाव का पहला नियम मोटामोटी रूप से ही ठीक है।

किसी ग्रह का गतिपथ किसी स्थान पर न कहे जा सकनेवाले (अनिर्देश्य) कारण से कुटिल (टेढ़ा-मेढ़ा) होता देखकर ज्योतिर्विद् के मन में संशय हो गया कि यहाँ पर और कोई अज्ञात नक्षत्र दिखाई न देते हुए, [१९]पद्मासुर के समान हमारे परिचित उस ग्रह को पथ भुलाकर ले जा रहा है। ग्रह बेचारा शान्त-शिष्ट है पर उसे खींच-तानकर विपथ पर ले जाया जा रहा है। जैसे ही संशय उठा वैसे ही गिनना आरम्भ हुआ—खड़िया-पाटी लेकर ज्योतिषी महाशय ने गिनती कर दी कि उस विमानचारी पद्मासुर का अज्ञात-वास कितनी दूरी पर किस दिशा में है। जब ठिकाना मालूम पड़ गया तो फिर दूरवीक्षण यन्त्र के सामने वह विमानचारी छिप न सका, एक नये ग्रह के रूप में पकड़ा गया, तब से पाश्चात्य ज्योतिषियों की पञ्जिका में बन-ठनकर बैठने के लिए उसे आसन मिल गया। जो भी हो, मोटा-मोटी हिसाब न लगायें तो विज्ञान ही नहीं बनता। इसीलिए हमने कहा था कि केवल अध्यात्मशास्त्र में नहीं, विज्ञान में भी पहले कुछ सीधे-सादे आपात-लक्षण देना आरम्भ करना पड़ता है। विज्ञान व साधन-शास्त्र की यह बात स्मरण रखियेगा। प्रत्येक साधनशास्त्र का यही दस्तूर है।

इस प्रकार से इस बात को देखने जायँ तो बहुत ही स्वाभाविक लगती है न?

सजीव पदार्थ के समान जो वस्तु या भाव सहज ही, अपने-आप ही क्रमशः बढ़ रहा हो, उसे हमेशा किसी सीमा में बाँध रखना चल सकता है क्या ? वटवृक्ष का छोटा-सा पौधा टब में रखकर अपने बराण्डे के फूल-पत्ती के गमलों में उसे हम शामिल कर सकते हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों वह बड़ा होगा, हमारी सब सीमाएँ तोड़कर निकल जाना चाहेगा। और आगे बढ़ने पर हम अपना सारा घर-आँगन उसके लिए छोड़ दें तो भी उसे पूरा हाथ-पाँव फैलाकर सुख से बैठने को स्थान कम ही रहेगा। परीक्षा, पर्यवेक्षण आदि साधनाओं द्वारा सत्य मूर्ति को जहाँ पकड़ना चाह रहे हैं, वहाँ भी हमारी मूल धारणा शायद इसी गमले में वट-वृक्ष की भाँति ही कृपण व कुण्ठित है। किन्तु ज्यों-ज्यों धारणा पूर्णावयव होती जायगी, त्यों-त्यों उसे छोटे-छोटे लक्षणरूपी 'टब' में से निकालकर बड़ी व खुली भूमि में—उस भूमि की निराई करके (कंकड़, घास आदि निकालकर) पौधे की उपशाखाएँ छाँटकर उसे सीधा ऊँचा खड़ा होने का अवसर देना होगा। यदि उस दिन-दिन बढ़ती धारणा को एक लक्षण के गमले में जकड़े रहना पड़े तो उसे तुच्छता तथा व्यर्थता में ही दम घुटकर मरना होता है।

अब इस बात को और फैलाकर कहने की आवश्यकता नहीं है। अवश्य ही, हमारे शास्त्ररहस्य, यहाँ तक कि दार्शनिक प्रस्थानों के भेद समझने जाने पर भी इस बात का ख्याल रखना अपेक्षित है। विज्ञानागार में यह बात स्वतःसिद्ध के समान ही है। किसी वस्तु या क्रिया का लक्षण या विवरण लेकर कोई यह नहीं सोच सकता कि सर्वथा चरम तथ्य प्राप्त हो गया है, इसमें कोई हलन-चलन नहीं होगी। विज्ञान में सभी विवरण मोटामोटी प्रकार के ही हैं। हमने रसायन-विद्या से पूछा—स्वर्ण क्या कोई मूल पदार्थ (element) है ? उसने उत्तर दिया—"मैं अब तक पूरा प्रयत्न करके भी जिस वस्तु को तोड़कर दो पृथक् पदार्थ-खण्डों में विभाजित नहीं कर सकी हूँ (जैसे जल को तोड़कर हाइड्रोजन व ऑक्सिजन कहा) वही मेरे लक्षण से मूल वस्तु है। किन्तु भविष्य में लक्षण क्या होगा यह मैं नहीं कह सकती।" और कितने दृष्टान्त लें ? शुद्ध गणित की परिभाषाओं के अतिरिक्त पदार्थ-विद्या, रसायन-विद्या, जीव-विद्या आदि विज्ञानागार के विभिन्न विभागों में जो-जो बातें हम लोग कहा-सुना करते हैं, वे सभी मोटामोटी ही हैं, चरम सुनिश्चित नहीं।

यहाँ जो प्रसङ्ग उठाया गया है, वह बहुत ही उपयोगी है। 'अधिकार' या सामर्थ्य का भेद हम लोगों में वस्तुतः है ही। हमारे आँख, कान आदि करण जैसे समान नहीं, हमारी धारणाशक्ति, कल्पनाशक्ति, विचारशक्ति आदि भीतरी शक्तियाँ भी उसी प्रकार एक समान नहीं हैं। इस वैचित्र्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए एक ही सत्य की भी एक-समान ही धारणा हम सबकी होना संभव नहीं। जो जैसा देख रहा है वह वैसी धारणा बना रहा है। फिर अकेले मेरा देखना भी सब

समय सब अवस्थाओं में एक-समान नहीं होता। मेरी शक्तियों का भी क्रमशः उन्मेष हो सकता है। कल मैंने जिस मार्ग को वृत्ताकार देखा था, आज उसीको वृत्ताभास के आकार में देखता हूँ; आज जिस वस्तु को अविभाज्य ठोस अणु (atom) देख रहा हूँ, कल शायद उसी वस्तु को एक पूर्ण क्षुद्र ब्रह्माण्ड के रूप में जानूंगा। आज जिस स्थान को शून्य, खाली समझ रहा हूँ, कल शायद उसीमें कोई सूक्ष्म वायवीय भूत (पदार्थ) मिल जायगा। मेरे देखने की कहाँ जाकर परिसमाप्ति--इतिशेष--होगी, हम नहीं जानते। इसीलिए नहीं कह सकते कि किस नित्य धाम में पहुँचकर सत्य के चरम निरतिशय रूप को पकड़ पायेंगे।

जितनी दूर तक हमारी दृष्टि चलेगी उतनी दूर तक ही अपनी धारणा की खींच-तान कर सकते हैं। इसीलिए हमारा दिया हुआ विवरण ऐकान्तिक (अन्तिम) नहीं होता। पहले जो विवरण दे चुके हैं वह आज नहीं दे रहे हैं और जो आज दे रहे हैं ठीक वह शायद कल नहीं देंगे। यही स्वाभाविक व्यवस्था है। यदि कोई तत्त्वदर्शी ऋषि हों और वे हमारे सामने तत्त्व का लक्षण रख भी दें तो हममें यह सामर्थ्य नहीं कि उसे तत्क्षण पूरा-पूरा समझ लें। हमारे अपने संस्कार और सामर्थ्य के अनुरूप ही उसे देखना-सुनना-समझना होता है। इस कारण स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षण में अन्तर है और आवश्यकता या उपयोगिता दोनों की ही है। विज्ञान में स्वरूप-लक्षण को एक आदर्श (Ideal limit) के समान सामने खड़ा रखना होता है। तटस्थ (या approximate)-लक्षणों पर ही अधिक कारबार चलता है। इन तटस्थ-लक्षणों के बिना विज्ञान का काम नहीं चलता। अध्यात्मक्षेत्र में भी यही स्थिति है।

अणु या छोटी वस्तु की ओर से हिसाब प्रारम्भ करने पर अणुत्व की जहाँ पराकाष्ठा मिली उसे कहा गया atom। उसका व्युत्पत्तिगत अर्थ हुआ जिस वस्तु को और आगे तोड़ा नहीं जा सकता; जिसके टुकड़े नहीं हो सकते। किन्तु इस दिशा में atom एक काल्पनिक आदर्शभर है। अन्ततः अब विज्ञान यही सोच रहा है। रसायन-विद्या जिन्हें atom कहते हुए व्यवहार चला रही है वे दो कारणों से चरम अणु नहीं हैं। १. क्योंकि वे सावयव परिमित द्रव्य हैं। वैज्ञानिकों ने इनका भी नाप ले लिया है। सावयव द्रव्य के अंश होते ही हैं। २. तथा, रासायनिक अणु से भी बहुत छोटे कौर्पसल भी अब पकड़े जा सके हैं। रेडियम जाति के पदार्थसमूह में बहुत संभव है कि atom ही टूटकर चूरा बनकर अपने नन्हे टुकड़े बाहर बिखरा रहे हैं। इसीसे यह देखा गया कि chemical atom वस्तुतः परमाणु या अणुत्व की पराकाष्ठा नहीं हैं। तब भी उस रासायनिक atom को ही परमाणु का तटस्थ लक्षण मानकर रसायन-विद्या अभी भी अपना समस्त कार्य चला रही है। सभी रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं में ये atom अभी भी मौलिक द्रव्य बने हुए हैं।

Atom से भी सूक्ष्म जो भूत वर्तमान हैं उनके रासायनिक संयोग-वियोग में, साक्षात् सम्बन्ध से मिलना एवं पृथक् होना हम अभी भी समझ नहीं पाये हैं। इस कारण उन सामान्य अणुओं को लेकर ही हमारे बहुत से कारवार और हिसाब अब तक चल रहे हैं। फिर corpuscles तो atom से हजारगुना छोटे हैं। पर इनसे भी तो हमारे परमाणु का स्वरूप-लक्षण नहीं मिला है। क्योंकि ये भी सावयव एवं परिमित द्रव्य हैं। अब इनमें और भाग-बँटवारा न कर पाने पर भी, इनमें अंश या दाने रहना संभव है, यही समझ रहे हैं। इसलिए इलेक्ट्रॉन या कॉर्पसल भी परमाणु के तटस्थ-लक्षण ही हैं। इलेक्ट्रान को तड़ित् का एक सूक्ष्म वर्तुल (small sphere of electricity) समझकर ही लारेञ्ज, एब्राहम आदि वैज्ञानिक हमें सारा हिसाब दे रहे हैं, यहाँ तक कि उनके मत में—यह सूक्ष्म वर्तुल जब स्थिर रहता है (at rest) तभी वह ठीक-ठीक वर्तुल है, चलना आरम्भ करते ही (when in motion) फिर वर्तुल न रहकर अण्डाकार की भाँति गति की ओर कुछ चपटा हो जाता है (becomes an oblate spheroid)। तभी देखा गया कि यह छोटा ताड़ित वर्तुल ठोस (rigid) नहीं, नहीं तो, रवा की भाँति ठोस हो, तो कोई उसे दबाकर सिकोड़ न पाता। जिस वस्तु का रूपान्तर होता है अर्थात् जिसका चेहरा बदल जाता है, उस वस्तु के भीतर छोटे दानों (कणों) को स्थान बदलने का अवकाश अवश्य ही होता है, और जहाँ वह स्थान रहता है वह वस्तु पक्की ठोस नहीं होती। इसीलिए हम कह रहे हैं कि यह जो लारेञ्ज साहब का छोटा-सा ताड़ित वर्तुल है, जिसको इतने दिन से हम इलेक्ट्रान समझ रहे हैं, वही अणुत्व की पराकाष्ठा नहीं है। उससे तो हमें परमाणु का केवल तटस्थ-लक्षण प्राप्त होता है।

एब्राहम साहब ने अवश्य ही इस ताड़ित वर्तुल को ठोस मानकर गणना की थी, किन्तु उससे गणना में कुछ सुविधा-मात्र हुई। किसी वस्तु को पूरी ठोस, नीरन्ध्र (छेद-रहित) मान लेने पर उसके भीतर न झाँकने से भी काम चलता है, उसके बाहर के परीक्षण से ही भीतर का भी परीक्षण मान लिया जाता है, और उस वस्तु को पूरी एक ही समझ लिया जाता है। इससे गणित लगाने में अवश्य सरलता होती है, किन्तु सत्य का चेहरा भी कुछ अस्वाभाविक रूप से सरल हो जाता है। मनुष्य के शरीर की प्रतिमा गढ़ने जाने पर कुछ लम्बाई, कुछ चौड़ाई, कुछ मोटाई या गहराई लेनेभर से काम चलता हो तो नाप-जोख में बहुत ही सुविधा हो इसमें सन्देह नहीं, किन्तु आँख, कान, मुख, हाथ, पाँव—ये सब जो उसमें रहते हैं इससे हिसाब बड़ा जटिल हो जाता है, इन सबको काट-छाँटकर हटा पाते तभी गणित ठीक-ठीक बैठा सकते थे।

जो भी हो, इलेक्ट्रान चरम सूक्ष्म वस्तु या परमाणु का ही स्वरूप-विवरण नहीं, वह उसका तटस्थ-लक्षणभर है, 'तटस्थ-लक्षण' शब्द का प्रयोग यहाँ हम लोग प्रायिक (मोटामोटी) अर्थ में कर रहे हैं। अध्यापक लारमर साहब के समान एक "Point charge" अर्थात् एक 'शक्तिबिन्दु' तक जाकर पर्यवसान न कर पायें तो हम स्वरूप में नहीं पहुँच सकते। किन्तु उपसंहार का यह शक्तिबिन्दु वस्तुतः है क्या इसकी हम कल्पना-धारणा भी नहीं कर पाते। यूक्लिएड का बिन्दु जैसे हमारी कल्पना से अतीत है वैसे ही शक्तिबिन्दु भी। एटम का नाप है, कार्पसेल का भी कुछ नाप है, 'पारिमाण्डल्य' (घेरा) है, किन्तु बिन्दु कहने से फिर उसका नाप (magnitude) नहीं रहता, केवल अवस्थिति (position) रहती है। किन्तु यूक्लिएड के बिन्दु के समान 'Point charge' या शक्तिबिन्दु अचल नहीं हैं, सभी प्रकार की उत्तेजना एवं गति के मूल में ये हैं, इसीलिए इन्हें शक्ति-बिन्दु कहा जा रहा है।

शक्तिबिन्दु पर अभी और अधिक विवेचन अप्रासंगिक होगा। किन्तु किसी भी प्रकार यह नहीं भूलना होगा कि सूक्ष्मता की सीमा खोजने निकलने पर chemical atom या corpuscles तक जाकर रुकने से काम नहीं चलता। उन्हें लेकर काम तो किसी प्रकार चलाया जा सकता है, किन्तु वे परमाणु के तटस्थ-लक्षण ही हैं यह बात स्मरण रखनी होगी। और भी, कि 'परमाणु' शब्द का प्रयोग यहाँ हम नैयायिक-वैशेषिक द्वारा दिये गये लक्षणों के अनुसार नहीं कर रहे हैं। न्याय-वैशेषिक ने परमाणु पर जिन धर्मों का आरोप किया है, उसीके फलस्वरूप शङ्कराचार्य आदि द्वारा किया हुआ परमाणु-कारणता-वाद का खण्डन सङ्गत ही हो गया है। संभवतः कणाद एवं अक्षपाद (न्याय-वैशेषिक के मूल प्रवक्ता ऋषि) स्वयं भी परमाणुओं को पूरी तरह चरम कारण कहना चाहते नहीं थे, इसीलिए उन महर्षियों ने परमाणु के लक्षण में टालमटोल की है। जो उस छिद्र को पकड़कर और भी भीतर प्रवेश कर सकता हो, वह वैसा ही करे—यही संभवतः उन्हें अभिप्रेत था। तथा जो व्यक्ति कुछ मोटामोटी हिसाब लेने में ही समर्थ है वह परमाणु, द्व्यणुक, त्रसरेणु आदि लेकर ही निश्चिन्त होकर अपना कार्य निकाल सके इसका भी सुयोग अस्पष्ट लक्षणों में दे दिया गया है।

Chemical atom लेकर ही तो रसायन-विद्या निश्चिन्त भाव से बहुत समय से हमारे इन्द्रियग्राह्य जगत् के माल-मसाले की तालिका एवं पाक-प्रणाली लिखती रही है। अब भी वैसे ही लिख रही है। मोटामोटी रूप से उसमें किसीको आपत्ति भी नहीं है। हाँ, उसमें भी वह कट्टरपना करने लगे तो फिर हम लोग सहिष्णु न रहेंगे। जगत् का असली उपकरण एक ही है—इस बात को खूब जोर देकर अभी न कह पाने पर भी, रसायन-विद्या के मुख से उसी बहुत पुरानी बात को ही, प्रकारान्तर से सुनने को हम

उत्सुक हो उठे हैं। विशेष रूप से रेडियम ने सभा में दर्शन देकर हमें इसी बात को सुनने के लिए अधिक उतावला बना दिया है।

और भी एक बात है, हम जिसे शक्ति-बिन्दु कह रहे हैं, वह केवल जड़ जगत् के ही क्षेत्र में बँधा नहीं। अर्थात् आधुनिक विज्ञान जिन्हें जड़शक्तियाँ (Physical energies) कहता है केवल उन्हींके मौलिक सामान्य अंश (common units) हमारे शक्ति-बिन्दु नहीं हैं। प्राण, मन, बुद्धि आदि जो सब अतीन्द्रिय शक्तियाँ हमारे भीतर अनेक प्रकार से क्रिया कर रही हैं, उनके भी मौलिक सामान्य अंश (common unit or denominator) ये शक्ति-बिन्दु ही हैं।

तात्पर्य यह है कि शक्ति-बिन्दु तक उतरकर फिर जड़ एवं प्राण, प्राण एवं मन के बीच काम चलाने जितना जो अन्तर हम किया करते हैं, वह अन्तर या पार्थक्य खड़ा रखना अब चलेगा नहीं। अर्थात् जड़ के सम्बन्ध से जो शक्ति-बिन्दु है, प्राण व मन के सम्बन्ध में वही शक्ति-बिन्दु नहीं है—ऐसा जातिभेद वहाँ नहीं बना रह सकता। शक्ति का क्षेत्र जगन्नाथ-क्षेत्र[११०] है, वहाँ पाँव रखते ही जड़, मन, प्राण सभी अपनी-अपनी उपाधि खोकर एकाकार हो जाते हैं।

विज्ञान ने जड़ के क्षेत्र (Physical world) में विभिन्न प्रकार की शक्तियों में एक प्रकार का सापेक्षत्व (correlativity) प्रतिष्ठित किया है। हमारे वेद व तन्त्र ने निखिल ब्रह्माण्ड में (जड़, प्राण या मन किसीमें भी हो) सभी शक्तियों का एक ही मूल पकड़ लिया है। शक्ति अद्वितीय है, उसका कोई द्वितीय नहीं। अर्थात् 'शक्ति' एक ही है, दो या अनेक नहीं। विशेष रूप से तन्त्रशास्त्र ने शक्ति का रहस्य खूब विस्तार से कहा है। शक्ति की यह कोई निर्विशेष पक्षपातशून्य अवस्था (undirected scalar condition) है, ऐसा नहीं, इस अवस्था में शक्ति की किसी एक विशिष्ट दिशा में प्रवणता (tendency) नहीं है। मानो सीमाहीन महासिन्धु है। नदी तो किसी एक निर्दिष्ट दिशा में बह निकलती है, सीमाहीन सागर में वैसी अभिमुखीनता नहीं होती। सागर पूर्व में चल रहा है कि पश्चिम या उत्तर या दक्षिण की ओर जा रहा है ऐसा नहीं प्रतीत होता। शक्ति की ऐसी ही अवस्था है नाद।

शक्ति की जो सविशेष एवं अभिमुखीन (directed, vector) अवस्था है उसके बिना सृष्टि नहीं होती, जगत् की कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। पृथ्वी चक्कर लगाती हुई सूर्य के चारों ओर घूम रही है; वृक्ष-वनस्पतियों की प्रत्येक शिरा में भूमि का रस सिंच रहा है; मन किसी एक निर्दिष्ट विषय में अभिनिवेश कर रहा है—यह सब शक्ति की अभिमुखीन अवस्था है। ये एक प्रकार के उदाहरण हैं। दूसरी ओर कोई एक प्रवाह या गति हो रही है। ऐसे प्रवाह या गति के लिए बिन्दुओं या points

की अपेक्षा है। गति को समझने के लिए आरम्भ करना होता है एक बिन्दु से, चलना होता है एक के बाद दूसरे बिन्दु का स्पर्श करते हुए और पहुँचना भी होता है एक बिन्दु पर ही। मानसिक अभिनिवेश (attention) में भी इस नियम का व्यतिक्रम नहीं। इसीलिए कहीं भी कुछ भी क्रिया होनी हो तो बिन्दु से ही कार्य आरम्भ होता है।

सागर सागर ही बना हुआ पड़ा रहे तो काम नहीं चलता, उसे असंख्य बिन्दुओं के रूप में अपने-आपको तोड़ लेना पड़ता है। इस प्रकार बिन्दुओं की राशि बनने पर ही इधर-उधर चलना-फिरना संभव होता है। एक ही वस्तु यदि सब कुछ व्याप्त करके पड़ी रहे तो उसका चलना-फिरना कैसा, कहाँ, किस प्रकार होगा ? किन्तु उसी सर्वव्यापी विभु पदार्थ में यदि राशि-राशि (अनेकों समूहों में) बिन्दु दिखाई पड़ें तो वे बिन्दु ही अपना स्थान-परिवर्तन कर सकते हैं, विभिन्न दिशाओं में विभिन्न प्रकार से दौड़-भाग कर सकते हैं। कहना न होगा यहाँ बिन्दु से अभिप्राय यूक्लिड का बिन्दु (point) नहीं, शक्तिबिन्दु है।

मान लीजिये, एक गिलास में पानी इस प्रकार रखा हुआ है कि वह गिलास छोड़कर किसी भी प्रकार बाहर नहीं आ सकता। गिलास पूरा भरा है, उसका मुँह भी बन्द है। इस दशा में उस पानी में हलचल उत्पन्न करना चाहें तो क्या करेंगे ? उसे नीचे से ताप देना आरम्भ किया। थोड़ी देर में ही देखने में आया कि जल-कण चञ्चल चरणों से ऊपर-नीचे दौड़ने लगे। जल में कुछ कचरा हो तो स्पष्ट ही यहाँ उसका चकरी-झूले में चक्कर खाना दिखने लगता है। यह गिलास का पानी तो सीमित, परिमित, परिच्छिन्न वस्तु है। उसके दृष्टान्त से 'कारण-वारिधि' को पूरी तरह नहीं समझ सकेंगे। तो भी इतना तो स्पष्ट हुआ कि जल में यदि दाने न हों तो उसमें हलचल नहीं हो सकती, वैसे ही शक्ति भी यदि स्वयं को बिन्दुओं में परिवर्तित न करे, निर्विशेष भाव से महासागर की भाँति बनी रहे तो वह यह जगत् नहीं बन सकती एवं इस जगत् को चला भी नहीं सकती। समस्त जड़ जगत् में जो ताड़ित शक्ति (electricity) ओतप्रोत रूप से वर्तमान है एवं सम्भवतः जो शक्ति जड़ जगत् के सभी कार्य-कलाप (माध्याकर्षण-क्रिया तक) के मूल में है, वह शक्ति भी दानों-दानों में विभक्त होकर ही कार्य करती है—यह तथ्य पश्चिम में सर्ववादीसम्मत तथ्य है—यही हमारा पहले कहा हुआ atomic structure of electricity है।

प्राण के अणुत्व की बात उस दिन हमने प्रसङ्गतः उठायी थी, उसकी विस्तृत चर्चा बाद में करेंगे। न्याय-वैशेषिक आत्मा को विभु कहते हैं पर मन को अणु मानते हैं। इसका अभिप्राय भी मूल में जाकर हमें समझना होगा। अभी तो सार-अर्थ यही सामने आया कि शक्ति बिन्दु-बिन्दु रूप में न आये तो जगत् नहीं बन सकता—यह

निश्चित हो चला। विभु और अणु, नाद और विन्दु—इन दोनों का सम्पर्क किस प्रकार का है यह भी कुछ संक्षेप में समझा गया। केवल किसी एक निरवच्छिन्न वस्तु से जगत् नहीं बनता। क्रमशः तटस्थ-लक्षणों में से होकर सूक्ष्मत्व की पराकाष्ठा खोजने चले तो महत्त्व की भी पराकाष्ठा की एक हदिश (अता-पता) हमें मिल गयी।

सबसे छोटी वस्तु या छोटेपन की सीमा कहाँ है खोजते-खोजते हम शक्ति-विन्दु में पहुँच गये। पश्चिम में—particle, molecule, atom, corpuscle, prime atom—इन सब चरम सूक्ष्म वस्तुओं या स्थितियों को क्रमशः 'सबसे छोटे' के रूप में हमारी धारणा में लाने की चेष्टा है। अध्यापक कॉर्ल पियर्सन के अन्तर्वर्त्ती होकर हमने भी उस दिन इन सबका नक्शा आँककर देखा था। उसीसे समझ में आ सकेगा कि ईथर नाम के एक अखण्ड (continuous) पदार्थ के अणिष्ठ (सबसे छोटे) अंशों (elements) की कल्पना करके उन्हींके समावेश से प्राइम एटम, कॉर्पसल आदि जड़ पदार्थों के अधिकाधिक सूक्ष्म कणों को समझने की चेष्टा आज का विज्ञान किस प्रकार कर रहा है।

हम Ether elements के स्थान पर शक्तिविन्दु को बैठा रहे हैं, क्योंकि ईथर के टुकड़े मिलने पर भी, उनके नाना प्रकार के व्यूह रचकर, परस्पर खींचतान, ठेलना, हलचल आदि करके भी कैसे उन टुकड़ों ने इस जगत् को बहाल रखा है यह बात पूरी समझ में नहीं आती, जब तक उन ईथर के टुकड़ों के भी पीछे शक्ति को नहीं देखते। ईथर में क्या एक घूर्णिपाक (चक्कर खानेवाला) एटम है या प्राइम एटम है ? किन्तु वह चक्कर काटना भी होता है कैसे ? उस घूर्णिपाक के मूल में हम शक्ति को ही पाते हैं। हाइड्रोजन और क्लोरीन के एटम क्या एक-दूसरे को बाँधे हुए हाइड्रोक्लोरिक एसिड का एक molecule बना रहे हैं ? किन्तु कौन उन्हें वैसा बाँधे हुए है ?—शक्ति ही। 'वेनजिन'[१३१] या इसी प्रकार के किसी molecule में atoms की व्यूहरचना भी कितनी अद्भुत है ? वैज्ञानिक उसे लेकर कितनी माथापच्ची कर रहे हैं ? और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। इतने से ही हम यह देख रहे हैं कि शक्ति ही सभी प्रकार के आयोजन का मूल है। जो विद्वान् energy-quanta लेकर जड़ का विवरण देना चाह रहे हैं, उन्होंने ठीक ही मार्ग पकड़ा है।

जो भी हो, यहाँ दार्शनिक विचार में न पड़कर इतना ही कहेंगे कि हम ईथर के स्थान पर शक्ति की विभु या सर्वव्यापी अवस्था ले रहे हैं और ईथर के अणिष्ठ अंश (elements) के स्थान पर शक्तिविन्दुओं को स्थापित कर रहे हैं। ईथर और उसके लघु कण वर्तमान हैं एवं शक्ति उन पर क्रिया करती हुई उन्हें विविध प्रकार से सजा रही है और चला रही है—यह कहने की अपेक्षा, सीधे सभी कुछ शक्ति का ही

खेल है—यह कहने में लाघव है। 'किसकी शक्ति है', 'कहाँ शक्ति है'—ये सब नैयायिक तर्क उठाकर अनावश्यक विस्तार बढ़ाने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

द्रव्य का अणिष्ठ अंश खोजते-खोजते हमने पाया शक्तिविन्दु; इसे अंग्रेजी नाम दें तो होगा Point charge। इस नाम से यह न समझा जाय कि यह विद्युत् के ही क्षेत्र के अन्तर्गत रहेगा। मन के अणिष्ठ अंश शक्तिविन्दु हैं, तो अन्न के अणिष्ठ अंश भी वही हैं, इसीलिए 'अन्न द्वारा मन की पुष्टि होती है'—छान्दोग्य की इस बात से हमें विस्मय होने की कोई बात नहीं है। प्राण एवं ताप के मध्य भी ऐसा ही सम्पर्क है। तापशक्ति ताड़ितशक्ति में और ताड़ितशक्ति ताप में परिणत होती है यह बात सुनने से हमें अब थोड़ा भी विस्मय नहीं होता। अन्न में शक्तिविन्दुओं का जो विशेष सन्निवेश (configuration) है, उसके फलस्वरूप ही सम्भवत: अन्न विशेष रूप से मन का पोषक बनता है। अन्यथा वायु-मात्र आहार लेकर भी योगी लोग ध्यान-धारणा आदि मानसिक कार्य तीव्र एवं एकाग्र वेग से कर पाते ही हैं—यह सुना ही हुआ है। इसीलिए कहना होगा कि केवल दाल-भात से नहीं, ऑक्सीजन-नाइट्रोजन आदि से भी मन की खुराक-पोशाक चलायी जा सकती है।

तात्पर्य यह हुआ कि 'अन्न' और 'आहार' इन्हें व्यापक अर्थ में लें तो सभी वस्तुओं में से मन अपना आहार ले सकता है। यह ठीक भी है, क्योंकि मूलत: मन जिस उपादान से बना है, जल, वायु, पृथ्वी आदि भी उसी उपादान से बने हैं। वनस्पति-जगत् इन्हीं जल, वायु, मिट्टी में से ही प्रोटोप्लाज्म तैयार करने में समर्थ है। प्राणियों में, इसीलिए हममें भी, साधारणतया वह शक्ति नहीं है। प्राणायाम आदि उपायों से उस प्रकार की शक्ति हम भी अर्जित कर पायें तो वायु, जल, मिट्टी में से ही हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन, ऑक्सीजन लेकर प्राण व मन की क्षुधा मिटायी जा सकती है—ऐसी आशा योगी लोग आधे भोजन या पूरे भोजनाभाव से पीड़ित भारतीयों को बँधाते रहे हैं। अगले वर्ष जब हमारी नयी व्यवस्थापक सभा होगी तो आशा है, कोई न कोई कर्मवीर सज्जन जोर देकर इस देश के लोगों को प्राणायाम-परायण कर देने का प्रस्ताव लायेंगे। क्योंकि वैसा होने पर भारत में 'फेमिन' (अकाल) का भय तो चिरकाल के लिए दूर हो ही जायेगा और फिर हमें वायुयान के लिए इतना धन-व्यय करने की आवश्यकता नहीं रहेगी; क्योंकि पहले ही कह चुके हैं कि प्राणायाम के माहात्म्य से आकाश-गमन बहुत ही अनायास प्राप्त होनेवाली सिद्धि है। खैर, जो भी हो, पार्टिकल-मॉलीक्यूल आदि के साथ शक्तिबिन्दु को मिला न दें। दूसरी ओर परमाणु, द्व्यणुक आदि के साथ भी इनका झमेला न हो जाय, सबको अपने-अपने स्थान पर समझे रहना होगा। और एक बात है कि शक्तिबिन्दु सूक्ष्मता

की पराकाष्ठा है—The limiting order of smallness. अतः इनके भी corpuscles में अनेक स्तर हो सकते हैं।

एक खूब लम्बी जंजीर का एक सिरा हमारे हाथ में है, उसीको हम मान ले रहे हैं एक खड़िया का टुकड़ा। यह टुकड़ा बहुत से "पार्टिकलों" की समष्टि है। पार्टिकल के बाद मौलिक्यूल, उसके बाद एटम, उसके बाद कॉर्पसल, उसके बाद भी कितने ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतर दाने हैं, जिन्हें अभी तक मनुष्य की बुद्धि पकड़ नहीं पायी है। अन्त में उस जंजीर का दूसरा सिरा है शक्तिबिन्दु—यही उस खड़िया के टुकड़े का अणिष्ठ (सूक्ष्मतम) अंश है। कार्पसल या इलॅक्ट्रोन के बाद एक छलाँग में शक्ति-बिन्दु पर पहुँचकर काम करने जायँ तो धक्का लगेगा ही। कुछ वर्ष पहले, सीधे-सादे कुछ एक इलेक्ट्रोन या कार्पसलों को इकट्ठा सजाकर एटम का निर्माण-कौशल समझ लिया गया—ऐसा बहुत लोग समझते थे। किन्तु इस सम्बन्ध में Prof, Cunningham ने अपने Principle of Relativity नामक ग्रन्थ में क्या लिखा था—सुनिये—

"It seems that we are entering a new region of phenomena of untold possibillities for our might into the constitution of matter. Much more must be done before so broad a generalisation can be made as seemed only a few years ago possible in the conception of a matter built up of simple electrons."

यह पुस्तक सन् १९१४ में लिखी गयी थी। अब इलॅक्ट्रोन तक पहुँचकर ही हाथ-पाँव फैला बैठने से हमारा काम नहीं चलेगा। उसके बाद भी कितना लम्बा पथ हमारे सामने पड़ा रहेगा यह यहीं से कौन बता सकता है ? हाँ, एक बात है, कुछ दिन पहले एटम को ही चरम सूक्ष्म वस्तु समझकर, निश्चिन्त भाव से विज्ञान का कारबार चल रहा था, अभी भी उतनी निश्चिन्तता से न सही पर चल तो रहा ही है। इसलिए एटम को ही परमाणु का तटस्थ या व्यावहारिक प्रतिनिधि मानने में दोष नहीं, कार्य में सुविधा ही है। 'परमाणु' शब्द का प्रयोग यहाँ अणिष्ठ अंश अथवा 'सूक्ष्मता की पराकाष्ठा' के अर्थ में कर रहे हैं। इस हिसाब से एटम जैसे उसकी तटस्थ विवृति है वैसे ही इलॅक्ट्रोन और कॉर्पसल भी। कार्पसल एवं इलॅक्ट्रोन वस्तुतः पकड़े गये हैं, उनका नाप, वजन लिया गया है, वैज्ञानिकों ने उनका Tour Programme भी तय कर लिया है। इसीलिए इन्हें परमाणु का प्रतिनिधि-स्थानीय मानने का समझौता कुछ बुरा नहीं।

किन्तु विज्ञान यह न समझे कि बस इनको पाने से ही काम हो गया। इनके मिलने से जो लाभ हुआ है उसका मूल्य कितना अधिक है इसे आधुनिक विज्ञान के

समझदार विद्वान् जानते हैं। यह अभिनव ताड़ित-विद्या विज्ञान के विशाल समाज को एक नूतन ऐक्य के बन्धन में बाँध चुकी है एवं बाँध रही है; इससे लाभ कितना भी बड़ा हो, परमार्थ-लाभ अभी बहुत बाकी ही है।

वर्तमान समय में हम जिस दिशा में परमार्थ खोज रहे हैं, वह सूक्ष्म की दिशा है। अनुसन्धान के फलस्वरूप सूक्ष्म को जो मूर्ति हम देख पाये हैं, उसे अंग्रेजी में—an infinitesimal series—कह सकते हैं। गणित-विद्या में orders of smallness छोटी संख्या या परिमाण को और भी छोटा, और भी छोटा कल्पना करने एवं तुलना करने की प्रथा—बहुत समय से प्रचलित है, विशेष रूप से न्यूटन, लाइबनिज् के समय से। हम भी पदार्थविद्या के सूक्ष्म की एक शृंखला (series) या क्रमिक धारा की कल्पना कर रहे हैं। इस धारा के कुछ स्तरों—जैसे पार्टिकल, मालिक्यूल, एटम, कार्पसूल आदि—को हम इस बीच स्पर्श भी कर चुके हैं। किन्तु धारा की समाप्ति यहाँ नहीं है। आगे पकड़ना, स्पर्श करना संभव न होने पर भी इस क्रमिक धारा को कल्पना में तो बनाये रख ही सके हैं। इस धारा का जहाँ अन्त (limit) है वहीं हमारी परिभाषा का 'शक्तिबिन्दु' है।

शक्ति या energy का हिसाब लगाने के लिए विज्ञान ने अनेक प्रकार के छोटे-बड़े बटखरों की कल्पना की है– dyne[११] आदि। किन्तु वे सब बड़े-बड़े बाट हैं। Point charge की बात देखने-सुनने में कुछ अच्छी है, किन्तु वह भी विशेष रूप से ताड़ित गोत्र (electrical relation) का ही ज्ञान कराता है। इसलिए उससे भी यह झमेला मिटेगा नहीं। हमारी परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जिसके फलस्वरूप ताड़ित या ताप या आलोक या माध्याकर्षण या प्राण या मन—इस सभी में कहीं पक्षपात न हो। मन का अणिष्ठ अंश ही शक्तिविन्दु है या प्राण का, या ताड़ित का ही अणिष्ठ अंश शक्तिबिन्दु है, इसे हम एकदृष्टि (पक्षपातरहित) होकर नहीं कह सकेंगे।

आजकल विज्ञान ने जड़ (matter), प्राण और मन के मध्य बड़ी-बड़ी दूरी खड़ी कर दी है, इन तीनों के बिल्कुल पृथक् कक्ष बना दिये हैं या इनके बीच खाइयाँ खोद रखी हैं, किन्तु वे खाइयाँ जितनी द्रुतगति से भर रही हैं, उससे ज्ञात होता है कि कुछ दिन बाद पदार्थविद्या (Physics), जीवविद्या (Biology) और मनोविद्या (Psychology) के बीच 'यह इसका है, उसका नहीं' ऐसा दखली स्वत्व बनाये रखना सरल न होगा। इनका जातिभेद एवं 'शुचिबाई' (अपरस='मुझे न छुओ'—ऐसे अपनी-अपनी पवित्रता बनाये रखने का आडम्बर) दूर हो जाने पर, भीतर और बाहर एक ही शक्ति का खेल है यह संस्कार दृढ़ होने पर, शक्तिबिन्दु के माध्यम से परस्पर कार्य-निर्वाह करने में इन्हें आपत्ति नहीं रहेगी। शक्तिबिन्दु को energy-points कहेंगे।

हमने इन प्रवन्धों में limit शव्द बहुत वार कहा है। वह गणितशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। एक वृत्त के बीच एक बहुभुज क्षेत्र आँककर उसकी भुजाओं की संख्या यदि क्रमशः बढ़ाते रहें तो उसकी सीमा क्रमशः इस वृत्त की परिधि के समान ही हो जायगी। किन्तु भुजाओं की संख्या कितनी भी वढ़ा दें, हाथ की रेखाओं से उस क्षेत्र की सीमा और वृत्त की परिधि को पूरी तरह एक नहीं किया जा सकता, मिलाया नहीं जा सकता, हाथ से यह न कर पाने पर भी (क्योंकि अधिक लघु स्थिति की भुजाएँ आँकना कठिन है) कल्पना की ही जा सकती है कि भुजाओं की संख्या गणनातीत (असंख्य) होने पर वह क्षेत्र वृत्त से पूरी तरह मिल जायगा। यह limit या पराकाष्ठा या निरतिशयता का उदाहरण है। भुजसंख्या वढ़ते-वढ़ते अन्त में क्षेत्र की जो दशा होगी वही है वृत्त। इसे आप स्मरण रखियेगा। जहाँ भी एक series या क्रमिक धारा देखें वहीं एक चरम दशा या पराकाष्ठा की कल्पना की जा सकती है।

पदार्थविद्या दो क्रमिक धाराएँ लेकर वहुत विव्रत हो चली है। एक है—पूर्वोक्त infinitesimal series—सूक्ष्म से भी सूक्ष्म की धारा इसी धारा से अब तक हमने परिचय पाया। इस धारा के अनुसरण से पदार्थविद्या अभी कॉर्पसल तक पहुँची है। यह कॉर्पसल पदार्थ का अणिष्ठ अंश नहीं, अणुत्व की पराकाष्ठा नहीं है। तव भी इसे उस चरम आदर्श (limit) के तटस्थ लक्षण या प्रतिनिधि के रूप में काम में लिया जा सकता हैं। विज्ञान वही कर रहा है। हम इस series या limit की वात को यदि अधिक घ्यान से न देखें तो विज्ञान के atom व electron से हमारे अणु-परमाणु का बड़ा झमेला उठ खड़ा होगा (क्योंकि दोनों समान समझे जा रहे हैं, पर समान हैं नहीं)।

दूसरी ओर विज्ञान के ईथर और हमारे वैदिक आकाश में भी झमेला खड़ा होने को वहुत संभावना है, यदि और एक series और उसकी limit की वात का विशेष रूप से पीछा न किया जाय। विज्ञान इस दूसरी क्रमिक धारा के सम्बन्ध में भी विव्रत (प्रतिज्ञा से च्युत ?) हुआ है। उसे नाम दे सकते हैं continua series, जैसे हमें सबसे छोटे को खोजने की धुन है वैसे ही सवसे बड़े को, सबके आधार, आश्रय या अधिष्ठान वस्तु को खोजने का भी व्यसन है। शक्तिबिन्दु शक्ति का अणिष्ठ अंश या परिमाण है—smallest unit। कल्पना में उसे प्राप्त कर लेने पर भी, परीक्षा में अभी तक कॉर्पसल तक ही पहुँचे हैं। अन्ततः उनका ही हिसाब दे पा रहे हैं। शक्तिबिन्दु की यह अपेक्षाकृत स्थूल मूर्त्ति लेकर ही अभी हमारी विवेचना चले।

मान लीजिये, इस कमरे की वायु है। कमरे के प्रत्येक भाग में वायु है, क्योंकि कहीं भी हम श्वास ले पाते हैं। और हमसे बहुत छोटे मच्छर, मक्खी आदि जितने भी प्राणी यहाँ हैं, वे भी श्वास ले ही रहे हैं। इसीसे प्रतीत होता है कि वायु सर्वत्र है,

एक अखण्डित वस्तु है जिसमें भीतर अवकाश नहीं; किन्तु सामान्य परीक्षा से हम देख पाते हैं कि वायु भी अखण्ड रूप से सर्वत्र नहीं है। पृथ्वी छोड़कर दो-एक सो मील आगे जाने पर वहाँ यह वायु नहीं मिलती। जितना ही ऊपर जायें वायु की घनता (density) उतनी ही कम होती जाती है। पुराण-युग में जो लोग योगसिद्धि के प्रसाद से इस ग्रह—उस ग्रह, इस लोक—उस लोक में घूमते-फिरते थे उन्हें वायु की यह माया छोड़कर ही जाना होता था। इस घेरे के पश्चात् पृथ्वी के शरीर पर थोड़ी दूर तक वायु लगी हुई तो है, किन्तु उस जगह में भी वायु तैलधारा के समान अविच्छिन्न (continuous) ,नहीं। पहले भी किसी दिन kinetic theory of gases की व्याख्या के प्रसङ्ग में हमने कहा था कि वायु तथा अन्य-अन्य गैसों में वहुत पोल या अवकाश है अर्थात् वे ठोस पदार्थ नहीं। उसी खाली स्थान में ही गैसों के 'मौलिक्यूल' दौड़-भाग, धक्का-मुक्की किया करते हैं। थोड़े से स्थान में भी कितने मौलिक्यूल ऐसे ही खेल खेला करते हैं उसे विज्ञान ने गिन-माप भी लिया है। प्रत्येक मौलिक्यूल की अवाधगति कितने पथ में कितने समय तक होती है इसकी भी स्थूल गणना मैक्सवेल आदि ने हमें दे दी हैं। इन सब प्रमाणों की पर्यालोचना करने पर फिर सन्देह नहीं रहता कि वायु अविच्छिन्न (continuous) पदार्थ नहीं है।

वायु के कण परस्पर खूब दूर-दूर ही बसे हुए यथेष्ट घूमना-फिरना करते रहते हैं। इसीलिए यह सिद्ध हुआ कि वायवीय पदार्थ घन प्रतीत होने पर भी वस्तुतः वैसे नहीं हैं। उनके भीतर खूब खाली स्थान है। अवश्य ही यह सब सूक्ष्म राज्य की वात है। चर्मचक्षुओं से, यहाँ तक कि अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से भी यह सब छिद्रान्वेषण करने जायँ तो अपने मगज (मस्तिष्क) का ही छेद पकड़ में आ जायगा।

एक मौलिक्यूल वहुत ही छोटा होता है। एक दिन हमने हिसाब दिया था कि किसी वायुरहित स्थान के प्रत्येक घन मिलीमीटर में, ४ पर ९ शून्य देने से जितनी संख्या होगी, उतने मौलिक्यूल रहते हैं, वह भी एक-दूसरे से सटे हुए नहीं, खूब स्वच्छन्द दौड़-भाग करते हुए। अत्यधिक शीत एवं चाप (दबाव) पाने पर वे अवश्य एक-दूसरे का लिहाफ पकड़कर खींचातानी करते हैं, किन्तु गरमी पाने पर वे परस्पर निकट आना ही नहीं चाहते। इसीलिए हम देखते हैं कि वायु के कणों की अस्थि-अस्थि में छिद्र हैं। हम जो continuum या अखण्ड पदार्थ खोज रहे हैं, वह वायु नहीं। वायु के ये ह्रस्वकाय कण (मौलिक्यूल) जिसके आश्रय में निवास कर रहे हैं, उसे खोज निकालना होगा। उससे पहले इस बात को भी समझ रखना अच्छा होगा कि जल, तेल आदि तरल पदार्थ एवं सोना-चाँदी आदि कठिन पदार्थ भी थोड़े-बहुत उक्त प्रकार से हवा के ही समान हैं। केवल kinetic theory of gases नहीं, kinetic theory of liquids and solids भी दिखाई पड़ रही है। जल की प्रत्येक कणिका में शक्कर की

कणिकाएँ प्रवेश करती हैं इसीसे हम मीठा पानी पीकर तृप्त हो सकते हैं। जल यदि ठोस होता तो उसमें चीनी कैसे प्रविष्ट होती ? मस्तिष्क हो चाहे बुद्धि हो, कुछ भी वस्तु पक्की ठोस हो तो उसमें कोई भी अन्य वस्तु प्रवेश नहीं कर सकती। यह महा-सत्य बचपन में पाठशाला में गुरुजी महाशय की छड़ी से निकलकर हमारी त्वचा भेद-कर इतने गहरे तक पैठ चुका है कि अभी भी स्मृति में पूरी तरह जागरूक हैं। गहने ठोस न हों तो गृहिणी को नदी-वेग से काँपती कच्ची हरी बेंत की झाड़ियों की तरह ही क्रोध से काँपते बहुतों ने साक्षात् देखा होगा। किन्तु सुनार की धौंकनी की उत्तेजना से गिन्नी-सोना जब गलकर आभूषण बनने का उपक्रम कर रहा होता है, उस समय उसके रेणु काँपते रहते हैं (संभवतः बाद में पहननेवाली गृहिणी द्वारा अस्वीकार किये जाने को आशङ्का से)—उसे हम आँख से न देख पाने पर भी टिण्डाल आदि वैज्ञानिकों के मुख से प्रायः एक शताब्दी से सुनते आ रहे हैं एवं पदार्थविद्या (Chemistry) की पाठ्य-पुस्तकों से मुखस्थ कर रहे हैं। सुवर्ण के रेणु यदि काँपते हैं तो अवश्य ही उन्हें काँपने का स्थान मिला हुआ है, जैसे हमारे तैंतीस करोड़ नर-नारियों के मलेरिया, प्लेग आदि रोगों या सबसे बड़े 'जूजू' (बच्चों को डराने के लिए कल्पित दैव) के भय से काँपकर मरने के लिए स्थान है यह भारतवर्ष।

अतएव सिद्ध हुआ कि जल भी अखण्ड, अविभक्त वस्तु नहीं है, सोना भी नहीं। हम जिसे खोज रहे हैं उसे इन सबमें से एक नहीं समझ सकते। केवल जल और स्वर्ण के भीतर छिद्र या खाली स्थान का आविष्कार करनेभर से हमारा कार्य पूरा नहीं हो गया। एटम के भीतर भी पोल है, इलॅक्ट्रॉनों का भी एक चञ्चल जगत् है, यह सब हम पहले व्याख्यानों में विस्तार से वर्णन कर चुके हैं। इलॅक्ट्रॉन भी चरम पदार्थ नहीं है। पर-छिद्रान्वेषण से बढ़कर रुचिकर अनुष्ठान और कोई नहीं। थोड़े दिन धैर्य रखें। इन इलॅक्ट्रॉनों के भी घर के छिद्र दिखाई पड़ ही जायेंगे।

अभी तो यही हाल है। हमारे परिचित मिट्टी, जल, वायु कोई भी तो अखण्ड सामग्री नहीं हैं। जो सूक्ष्मभूत आज तक दिखाई पड़े हैं उनके भी कण-कण में खाली स्थान है। इसलिए continuum मिला नहीं। यहाँ हमें series या क्रमोन्नत स्तर-श्रेणी की कल्पना करनी होगी। बहुत मोटे तौर पर वायुमण्डल को हो निरन्तर या ठोस (continuous) वस्तु समझने से कोई बहुत दोष नहीं। यही समझकर हमारा व्यवहार चल रहा है। "मेरी पञ्चवटी के कुटीर के भीतर ही वायु बह रही है, 'गोल दीघी' (झील) में वायु नहीं है"--ऐसा तो हम नहीं सोचते। किन्तु इतना सरलता से समझ सकते हैं कि वायु पूरी तरह सर्वव्यापी अखण्ड एक पदार्थ नहीं। सरल एवं कठिन वस्तुओं को वायु की अपेक्षा कुछ अधिक जमी हुई, कम पोलवाली समझने पर भी, उनमें भी कण खुले-खुले कुछ-कुछ दूरी पर (*discrete, discontinuous*) ही

हैं, यहाँ तक कि मौलिक्यूल एटम की भी यही अवस्था है—यह शीघ्र ही समझ में आ जाता है।

अच्छा, जगत् की सब गणनातीत टुकड़ोंवाली असंख्य वस्तुएँ कहाँ ठहरी हुई हे ? कहाँ रहती हुई ये सब परस्पर मिलना-जुलना या दौड़-भाग कर रही हैं ? निखिल वस्तुओं के असंख्य रेणुओं का जो चञ्चल चरणों से दौड़ना, नाना छन्दों में नाना प्रकार का नृत्य-अभिनय चल रहा है, इसका आश्रयस्वरूप मञ्च क्या है ? कहाँ है ? इन सब प्रश्नों का एक शब्द में उत्तर है—आकाश। इस पदार्थ में फिर कोई खण्ड या दाने (कण) नहीं हैं, इसके भीतर फिर और किसी अवकाश या पोल की कल्पना नहीं की जा सकती। कल्पना करने जायँ तो फिर आकाश का भी आधार कोई और आकाश खड़ा करना होगा। जिस क्रम का कोई अन्त नहीं, इसे कहते हैं अनवस्था दोष। इस शुद्ध, विभु, अविच्छिन्न आकाश को अंग्रेजी में Pure Space कहा जा सकता है। Pure विशेषण क्यों दिया इसे आगे क्रमशः समझ सकेंगे।

अच्छा, यह शुद्ध, निरवच्छिन्न, अखण्ड वस्तु क्या है ? मैं कहूँगा, यही चिदाकाश है। छान्दोग्य श्रुति ने 'ज्यायान्' एवं 'परायण' कहकर इसीकी वन्दना की थी एवं शङ्कराचार्य आदि इसीको 'ब्रह्म'रूप से व्याख्या देकर कृतार्थ हुए थे। इसी चिदाकाश की बात कुछ समय बाद पुनः करेंगे। हाँ, इस बीच नाम सुनते ही इतना शायद समझा जा सका है कि यह वस्तु केवल बाहर की वस्तु नहीं, भीतर-बाहर, जड़ में, प्राण में, मन में—सर्वत्र व्याप्त है—यही चिदाकाश या चैतन्यरूपी आकाश है।

हमने जिस द्वितीय श्रेणी-क्रम (series) का प्रसङ्ग उठाया है उसीकी पराकाष्ठा (limit) है यह चिदाकाश। सूक्ष्म की ओर से इस क्रम धारा का चरम स्थान जैसे शक्ति-बिन्दु है (केवल बिन्दु इसलिए नहीं कह रहे हैं कि उसके साथ Euclid point का भ्रम हो सकता है।) यूक्लिड-बिन्दु अवस्थिति-मात्र (static) है। किन्तु शक्तिबिन्दु चल (dynamic) है। वैसे ही व्यापकता या continuum की ओर से चरम भूमि है चिदाकाश। तन्त्र इसे ही शतकण्ठों से परमव्योम या शिव घोषित करते हैं। हमारा पवन या वायु व्यापक पदार्थ का तटस्थ-लक्षण या काम चलानेवाला प्रतिनिधि है। विज्ञान भी इस व्यापक पदार्थ का चरम पद खोज रहा है। अधिक आगे नहीं बढ़ सका है। छोटे के क्रम में जैसे कॉर्पस्ल या इलेक्ट्रॉन तक पहुँचकर 'किन्तु' कहते हुए सिर खुजला रहे हैं, फिर और भी भीतर घुसने के लिए energy-quanta आदि के समान नवीन प्रकार के अस्त्र-शस्त्र पैने कर रहे हैं, वैसे ही व्यापक 'सीरीज' के क्रम में भी ईथर में आकर फँसे खड़े हैं, बहुत कुछ '''ससेमिरा' गुच्छक बने हुए हैं। दोनों दिशाओं की इन दोनों क्रमधाराओं को आप भूलियेगा नहीं। इनकी पराकाष्ठा (limit) की बात भी स्मरण रखियेगा।

हमारे भारतीय चिन्तन में भी इन दोनों क्रमधाराओं का अनुसरण चला था। जो कोई भी गहराई में चिन्तन करता है, वह अवश्य इस खोज में आगे बढ़ता है कि कहाँ जाकर इस विषय का 'इति शेषः' होगा। एक बूंद जल लेकर चिन्तन आरम्भ किया, तो chinese puzzle box की तरह छिलके छुड़ाते-छुड़ाते पार्टिकल, मौलिक्यूल में से गुजरते हुए हमने अन्तिम सीमा या पराकाष्ठा पायी शक्तिविन्दु में। विज्ञान भी यही puzzle box लेकर आवरण खोलता जा रहा है। कॉर्पसल तक पहुँचा है, उसके भी भीतर की सार-सत्ता अर्थात् शक्ति का आस्वाद भी थोड़ा-बहुत पाना आरम्भ किया है। दूसरी ओर पुनः मिट्टी, जल, वायु आदि लेकर व्यापक से व्यापकतर का अन्वेषण चला। हमारे ऋषियों ने केवल बाहर के पृथ्वी-जल को ही नहीं, भीतर के प्राण, मन आदि को भी इस हिसाब में खींचकर जिस वस्तु का आविष्कार किया वह है चिदाकाश—व्यापकता की पराकाष्ठा--Continuum in the limit.

विज्ञान भी इस मार्ग पर बहुत दिनों से चल रहा है, अभी भी वह प्राण व मन की खबर तो इस सम्बन्ध में अच्छी तरह नहीं रखता, किन्तु बाहर के जड़ में उसने जितनी-सी खबर पायी है उसमें अभी उसकी गति की अवधि है ईथर। जड़ (matter) को वह जिस व्यापक वस्तु का परिमाण समझ रहा है उसे नाम दिया है ईथर। यह बात हम पहले ही विस्तार से कह चुके हैं। किन्तु आप स्मरण रखियेगा कि ईथर व्यापकता की पराकाष्ठा नहीं है।

इसीलिए विज्ञान का ईथर और छान्दोग्य का आकाश (ज्यायान्, परायण) ठीक एक नहीं है। विज्ञान का ईथर स्थान-स्थान पर रूपान्तरित (strained) हो सकता है। जैसे दबाकर पकड़ने से रबा का रूपान्तर होता है, ठीक वैसे ही रूपान्तरित ईथर में फिर अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाने का स्वभाव है। अतः ईथर में strain and stress susceptibility है, अर्थात् वह विकार्य वस्तु है। किन्तु चिदाकाश या आत्मा—'अविकार्योऽयमुच्यते' [११४]—Here strain and stress susceptibility is zero। और भी, ईथर सर्वाङ्ग में सचल न होने पर भी अंशविशेष में सचल भी है। इन्हीं दोनों कारणों से समझा जा सकता है कि विज्ञान का ईथर ठीक सर्वव्यापी विभु पदार्थ continuum in the limit नहीं है।

ईथर का विस्तृत विवरण भविष्य में फिर कभी देंगे। अभी इतना देखा कि व्यापक अन्वेषण-अभियान में ईथर मध्य का एक ठहराव या अड्डा है, आखिरी मंजिल नहीं। सूक्ष्म की खोज में कॉर्पसल की भी यही स्थिति है। अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मार्ग के ये ठहराव पार करने ही होंगे। इसीलिए हम इन्हें अपने लक्ष्य का तटस्थविवरण कह रहे हैं, स्वरूपविवरण नहीं। विज्ञान यह कहना चाह रहा है कि—

ईथर सद् वस्तु है, शून्य नहीं है तथा ईथर विभु, सर्वाश्रय पदार्थ है—किन्तु उसका जो विवरण देने के लिए (जड़ की व्याख्या के लिए) विज्ञान वाध्य है, उसमें ईथर के वाद पुनः और किसी ईथर की आवश्यकता हो रही है। Sir G Stokes साहब ने एक 'जेली' series को भी कल्पना की थी। वह वात वाद में कहेंगे। इस धारा की जो पराकाष्ठा या limit हो, वही छान्दोग्य का आकाश है। यथार्थ रूप से खोज पायें तो इसी शृंखला का चरम स्तर ही चिदाकाश है। वीच का एक स्तर है विज्ञान का वह ईथर, जिसमें तरङ्गों की कल्पना करके हम लोग आलोक एवं तड़ित् की व्याख्या दे रहे हैं, wireless (बेतार का तार) भेज रहे हैं। उसीके ऊपर का एक स्तर संभवतः सभी जीवों का प्राणमय कोश है। उसीके ऊपर के स्तर हैं—मनोमय और विज्ञानमय कोश, जिनके द्वारा हमारे भाव दूर-दूर तक संचारित (Thought transference) किये जा सकते हैं। हमारे वेदान्त के भूताकाश, वायु, मरुत् आदि को भी इसी श्रेणी (series) में यथायोग्य स्थान पर वैठाना होगा। ये सब बहुत वड़ी वातें हैं। एक और वात कहकर उपसंहार करेंगे कि 'आकाश', 'ईथर', 'अणु' आदि की धारणाओं को अचल वना लेने से नहीं चलेगा। सारे समझौते या समन्वय में एक क्रमिकता की व्यवस्था है, यह सदा स्मरण रखना होगा। तब हम वेद और विज्ञान में अकारण कलह नहीं खड़ा करेंगे।

आठ

वेदव्याख्या के मूल में पश्चिम की भूल

बहुत दिन तक इस विषय में हमारी बातचीत स्थगित रही। हममें से बहुत उस विषय का सूत्र खो बैठे होंगे। संक्षेप में वह सूत्र यह था—सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, उससे भी सूक्ष्मतर खोजते-खोजते हमने सूक्ष्मता की पराकाष्ठा पाने का प्रयास किया था, विज्ञान भी वही कर रहा है। किसी भी पदार्थ के दाने, फिर उनके भी दाने, उनके भी दाने ऐसे खोजते-खोजते विज्ञान ने Particle, molecule, atom, corpuscle आदि में से होते हुए धीरे-धीरे यात्रा की है। इस यात्रा का अन्त कहाँ होगा कौन जाने ?

मौलिक्यूल, एटम आदि इस महायात्रा के पथ में बीच-बीच के एक-एक पड़ाव हैं। इनमें से एक-एक पर पहुँचकर विज्ञान जरा विश्राम कर लेता है, किन्तु यह भी जानता है कि इन्हींको पाकर सुस्थिर, निश्चिन्त बैठा नहीं जा सकता। अणिष्ठ या चरम सूक्ष्म वस्तु को हम कब पकड़ पायेंगे यह नहीं जानते। वास्तव में पूरी तरह पकड़ पायेंगे भी या नहीं यह भी नहीं कह पाते। किन्तु उस गन्तव्य की एक परिभाषा बना रखने में हानि नहीं। वह परिभाषा ही है शक्तिबिन्दु। यूक्लिड (Euclid) के बिन्दु की भाँति यह निश्चल व निष्क्रिय नहीं।

दूसरी ओर महत् से महत्तर, विपुल से विपुलतर खोजते-खोजते हम विपुलता की भी पराकाष्ठा खोजने निकले थे। उस दिशा में हमें एक व्यापक एवं अखण्ड (जिसमें कण या टुकड़े न हों) वस्तु चाहिए। उस अन्वेषण में भी बहुत से स्तर और श्रेणियों का कारोबार है। स्थूल रूप से वायु वैसी अखण्ड (continuous) व्यापक वस्तु है किन्तु पूरी तरह नहीं, क्योंकि बहुत स्थानों पर वायु नहीं रहती। जहाँ वायु है वहाँ भी वायु के कण दूर-दूर हैं, घने चिपके हुए नहीं। विज्ञान की नजीर दिखाते हुए ये सब बातें हम पहले ही खोलकर कह चुके हैं। मिट्टी, जल, पत्थर इत्यादि कोई भी व्यापक एवं अखण्ड वस्तु नहीं है। विज्ञान कहता है कि ईथर बहुत कुछ हमारी आशा पूरी कर सकता है, किन्तु थोड़ी मात्रा में ही, सर्वथा नहीं। यदि ईथर सर्वथा व्यापक व अखण्ड वस्तु हो तो उसमें किसी प्रकार का कम्पन या चाञ्चल्य या विक्षोभ उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रह सकती। क्योंकि चेष्टा के लिए ईथर के कणों को स्थान-परिवर्तन करना होगा। यह स्थान-परिवर्तन ही फिर ईथर में अवकाश को सिद्ध करता है। अतएव हम जिस विभु (सर्वव्यापी) एवं अखण्ड पदार्थ को खोज रहे हैं, विज्ञान का ईथर ठीक वह नहीं है, किन्तु उस खोज की यात्रा में यह एक पड़ाव

अवश्य है । इसलिए ईथर ठीक Continuum in the limit (निरतिशय अखण्ड सामग्री) न होने पर भी Continua series में किसी स्थान पर अवश्य रह सकता है, एटम का जैसे infinitesimal series में स्थान दिया जा सकता है ।

हमारे शास्त्र के रहस्यों को विज्ञान की दिशा से समझते समय आप लोग इस series या श्रेणी की बात हमेशा स्मरण रखियेगा । 'छोटा' और 'वड़ा' इन दो शब्दों का अर्थ पूरा-पूरा समझ रखने पर सारी भ्रान्ति मिट जायेंगी । छोटे-से-छोटा, उससे छोटा—ऐसे उतरते हुए शायद सबसे छोटे को पकड़ सकेंगे । दूसरी ओर वड़े-से-वड़ा, उससे भी वड़ा—इस प्रकार क्रमशः उठते हुए सबसे वड़े का भी कुछ पता शायद पा जायें । किन्तु इस उतरने-चढ़ने की समर्थता चाहिए; टिककर एक ही जगह वैठे रहने से काम नहीं चलेगा । विज्ञान का ईथर क्या छान्दोग्य का आकाश है ? यह प्रश्न सुनने पर 'हाँ' या 'ना' में से कोई भी उत्तर दें तो ठीक नहीं ।

छान्दोग्य श्रुति ने जिस 'ज्यायान्' व 'परायण' आकाश की वात कही है, वह विभु और अखण्ड वस्तु की निरतिशय मूर्ति या सर्वोच्च श्रेणी है । विज्ञान का ईथर उससे कहीं नीचे ही किसी श्रेणी में पढ़-लिख रहा है और विज्ञान क्रमशः उसे ऊपर-ऊपर की श्रेणी में कक्षोन्नति (Promotion) देता जा रहा है । किन्तु उसका सर्वोच्च श्रेणी में पहुँच पाना अभी बहुत दूर है । आधी शताव्दी पहले का जड़ ईथर अव प्रायः जड़ातीत हो आया है । अभी भी भूतशुद्धि चल रही है—'हंसः सोऽहम् स्वाहा' कहकर किसी दिन विज्ञान-साधक इस ईथर को चिन्मय आत्मा या व्रह्म में ही न मिला दें ! उसी दिन संभवतः ईथर सर्वोच्च श्रेणी में पदोन्नति पायेगा, 'ज्यायान् व परायण' वनेगा । किन्तु अभी उसमें बहुत देर है ।

अभी तक वड़े एवं छोटे की दिशाओं में जो दो श्रेणी या series हमें प्राप्त हुई हैं, उन्हें आप भूलियेगा नहीं । भूलने से फिर वेद और विज्ञान को समझना नहीं हो सकेगा । आप यदि हठ पकड़ें कि इसी प्रहर में ही विज्ञान के ईथर और वेद के आकाश को मिला देना होगा; अथवा विज्ञान के इलेक्ट्रॉन एवं तन्त्र के शक्तिविन्दु को एक कर देना होगा,—तो और कोई भले ही इस कार्य का भार स्वीकार कर ले, मैं तो असमर्थता प्रकट करके इस्तीफा दे दूँगा ।

श्रेणी (series) एवं पराकाष्ठा (limit) की बात बढ़ाकर हम व्याख्यान को दुर्धर्ष (कुछ असहनीय, कठिन) बना दे रहे हैं, केवल इसलिए कि सीधे-सीधे 'वेद की यह वस्तु विज्ञान में अमुक है'—ऐसा कहते हुए पत्र-पाठ (दो पुस्तकों के पन्ने) मिलाते जायें तो बहुत कच्चा काम होगा ऐसा मानता हूँ । विज्ञान का ईथर व कॉर्पसल तो निश्चित रूप से पकड़ पाने की वस्तु है नहीं । अभी भी कार्पसल या

इलॅक्ट्रॉन को भी तोड़ लेने के लिए बहुत से वैज्ञानिकों के हाथ खुजला रहे हैं। उस दिन जौन्स्टान स्टोनी साहब की उक्ति उद्धृत की थी। दूसरी ओर लॉर्ड केल्विन ईथर पर सन्देह करने से चिढ़ते थे, किन्तु अब बहुत से वैज्ञानिक सज्जन यह सन्देह प्रकट करने में गला ऊँचा कर रहे हैं, उसके फलस्वरूप केल्विन के प्रेतात्मा को, नहीं तो उनके भाई जे० जे० टॉम्सन के प्रत्यगात्मा को जो उद्वेग हो रहा है उसका क्या उपाय है, बोलिये ? इसीलिए इलॅक्ट्रॉन और ईथर के ऊपर अपना वैदिक व्याख्यान गढ़ने में मैं भी नाराज हूँ। ऐसी व्याख्या की इमारत कभी पक्की नहीं हो सकती। series या limit पकड़ लेने पर फिर भय नहीं। तब आवश्यकतानुसार हलन-चलन की जा सकती है। ईथर या electricity का [१३५]'गुणकर्मविभागशः' श्रेणीविभाग कर देंगे। जिसका जैसा लक्षण एवं अधिकार हो उसे वैसा ही स्थान मिलेगा। विज्ञान जैसे-जैसे लक्षण बदलेगा हम भी स्थान बदल देंगे। किन्तु लक्ष्य या limit ठीक-ठीक स्थिर रहना चाहिए। यह संक्षिप्त सूत्र ध्यान में रहे तो आजकल के विज्ञान के ईथर अथवा इलॅक्ट्रॉन को हमारे शास्त्र के आकाश तथा बिन्दु का तटस्थ-लक्षण मान लेने में कोई द्विधा नहीं होगी। स्वरूपलक्षण संभवतः पृथक् होगा। मोटामोटी समझना तटस्थ-लक्षण द्वारा हो सकता है। हम भी ईथर, इलॅक्ट्रॉन आदि की सहायता से शायद वेद का मर्मरहस्य कुछ अच्छी तरह ही समझ सकेंगे, कम-से-कम कहीं-कहीं। इस विषय में आशा तो 'फलेन परिचीयते' (फल से ही पहचानी जायेगी)। अब अधिक गौरचन्द्रिका (गहन जटिल विस्तृत टीका) की आवश्यकता नहीं।

यह हुई संक्षेप में पहले प्रस्ताव की अनुवृत्ति। वेद-व्याख्या में इस प्रकार श्रेणी एवं पराकाष्ठा की बात मौलिक बात है। सभी वस्तुओं को क्रमशः समझ लेने की चेष्टा करनी होगी। प्रत्येक सोपान और अधिकार में खड़े रहकर वहाँ की अभिज्ञता का हिसाब-परिमाण लेना होगा। छान्दोग्य श्रुति ने इस प्रकार सोपान-क्रम से चढ़कर देखने को 'परोवरीयान्' भाव से देखना कहा है। पहले एक दिन वह बात हमने सुनाई है। छोटे को भी इसी रीति से देखना होगा, बड़े को भी।

वेद समझना शुरू करने पर एक और बड़ी बात स्मरण रखना अच्छा होगा। बहुत से लोग अपने मस्तिष्क में एक बद्धमूल धारणा या मतवाद (theory) लेकर आलोचना में प्रवृत्त होते हैं। विज्ञान के परीक्षागार में ऐसा होना साधना का प्रबल परिपन्थी (बाधक) है। इसीलिए वैज्ञानिक निष्पक्ष व्यक्ति से ही परीक्षा कराने की व्यवस्था देते हैं। वैदिक आलोचना के समय भी हमें यथासंभव वैज्ञानिकों की यह व्यवस्था मानकर चलना होगा। विलायती पण्डितों के मस्तिष्क में बहुत दिन तक एक मतवाद घुसा हुआ था कि—"मध्य-एशिया या इस प्रकार के किसी भी देश की निवासी प्राचीन आर्य जाति सरल कृषक रूप से रहती थी। बाद में झुण्डों में बँटकर

वह इधर-उधर जाकर विखर गयी है। उन्होंमें से एक झुण्ड पञ्चनद देश में आ पहुँचा। क्रमशः अनार्य दस्युओं के साथ लड़ाई करते-करते उन आर्यों ने आर्यावर्त को अपनी दखल में ले लिया एवं वहाँ क्रमशः अपनी सभ्यता बनाई और पनपाई। ऋग्वेद उनकी सभ्यता की किशोरावस्था का परिचय है। ऋग्वेद के मन्त्रों में स्थान-स्थान पर यथेष्ट कवित्व है; उसीके बीच-बीच प्राकृतिक तथ्यों की थोड़ी-बहुत अभिज्ञता भी सरल भाव से या रूपक-छल से विकसित देखी जाती है। विश्वमानव के आत्मा की क्रमोन्नति को एक निचली तह हमें इन सबमें स्पष्ट झलकती दिखती है। किन्तु बस यहीं तक रहें, और अधिक प्रत्याशा करते जाने से अन्याय होगा।''—यही बात पश्चिम के पण्डित हमें सिखाते थे और इसी बोली को दोहराते रहने में हमारी चिरचञ्चला रसना कभी भी कुण्ठित नहीं हुई।

पश्चिम के पण्डित अपने मध्य एशिया-सिद्धान्त (Mid Asiatic theory) को क्रमशः छोड़ रहे हैं। किन्तु वेद का सूर्य जैसे उषा के तीस योजन पीछे चलता है, वैसे ही हम भी पश्चिम देशों के भाव और चिन्तन के अनेकों योजन पीछे चला करते हैं। उन देशों में जो मत अब हेय (छोड़ने योग्य) हो चला है, वह अब यहाँवालों के लिये उपादेय होना आरम्भ कर रहा है। अब केवल तुलनामूलक भाषा-विज्ञान (Comparative Philology) के बल पर मानव के प्राचीन इतिहास के ध्वंसावशेषों की जोड़-तोड़ का प्रयास नहीं होता। एन्थ्रोपॉलोजी नाम से एक विशाल विद्या की सृष्टि हुई है कुछ समय से, और उस विद्या में अच्छी गति न हो तो प्राचीन-इतिहास के पुनः संस्कार-कार्य में हाथ डालने का आजकल कोई साहस नहीं करता।

जो भी हो, आर्यों की आदिम गृहस्थली की चौहद्दी के विषय में झमेला खड़ा करने पर भी उनकी पुरातन सभ्यता को अभी भी विश्व-मानव की पाठशाला में बाल-पोथी का ही स्थान दिया गया है। जीवन्मुक्त जड़भरत बात ज्यादा नहीं करते थे, पर एक दिन राजा रहूगण[111] ने उनको अन्त्यज समझकर अपनी पालकी ढोने में लगा लिया था। हमारी प्राचीन वेदविद्या हमसे कोई बातें करने तो आयीं नहीं, एवं उनकी वाणी अभी भी वीणा की स्वर-लहरी की भाँति न जाने कितने गम्भीर धीरोदात्त छन्द में झंकृत है। किन्तु वेदमाता सरस्वती की स्तन्यसुधा (दूध) का आस्वाद भूलकर हम आर्य-सन्तान भूल गये हैं उस वाणी का सङ्केत, अभिप्राय और तात्पर्य। इसीलिए श्रुति सुनकर भी कहाँ कुछ भी समझते हैं ? जितना-सा समझते हैं, उतना भी हमें ऐसा लगता है मानो मानवात्मा के शैशव का ही सरल सङ्गीत है,—जो सुन्दर है, किन्तु जिसमें भाव, भाषा एवं छन्द अभी भी पुष्टाङ्ग व सबल नहीं हुए हैं।

बात यही है कि हमने 'साहबों' का हुक्म पाकर, असम्यक् परिचित वेद को, जड़-भरत की भाँति वाराणसी या नैमिषारण्य आदि स्थानों से खींच लाकर, हमारे विचारों

की पालकी ढोने में जोत दिया है। लगता है, खूब अच्छा किया है (जड़भरत को खूब मोटा-स्वस्थ देखकर राजा के सेवकों ने उसे पालकी ढोने के बिल्कुल उपयुक्त माना था, हमने भी वेद को खूब समृद्ध देखकर विचारों की सवारी ढोने में समर्थ माना हुआ है और मजदूरी करा रहे हैं)। किन्तु कठिनाई यह है कि वेद महाशय ठीक-ठीक हमारी इच्छानुसार कदम रखना चाहते नहीं या रख सकते नहीं। दस-बीस वर्षों से वेद को सरल कृषकों के कवित्वपूर्ण गीत कहकर खूब मनमानी व्याख्याएँ दी जा रही थीं, किन्तु उन्नीसवीं शताव्दी के अन्तिम भाग से ही विज्ञान ने हमारी धारणाओं को जो नयी गढ़न देना आरम्भ किया, उसे सुनकर अब हम वेद के कन्धे पर सवार होकर उससे अपने सिद्धान्तों की पालकी तो क्या ढुलवायें ! हमें ही व्यस्त-समस्त (घबराहट से व्यग्र, उद्विग्न) होकर नीचे उतरकर उसी अनादृत, उपेक्षित प्राचीन के पाँव-तले लोटना पड़ रहा है एवं हमारी सव ज्ञान-गरिमा और शक्ति-सामर्थ्य देकर उसीके वरणीय वपु को जगत् की मुग्ध दृष्टि के सामने लाने की आकांक्षा प्रबल हो रही है।

वेद में कवित्व है, रूपक है, प्रतीक है—किन्तु वेद मानव-शिशु के शैशव का गीत नहीं। मानव-शिशु का शैशव अतीत के किस विलुप्त परिच्छेद के साथ भूमि के स्तरों में जीर्ण होकर मिट गया है, उसका निरूपण कौन कर सकता है ? इजिप्ट (मिस्र) का इतिहास, वेबीलोन, आसीरिया का इतिहास जितना-सा शुद्ध करके जान पा रहे हैं, उसमें दस-वारह हजार वर्षों के पहले की सभ्यता का चेहरा देखकर हमारे विस्मय की सीमा-परिसीमा नहीं रहती। उस सभ्यता में प्रवीणता के लक्षण सुस्पष्ट दिखाई देते हैं—उसके पीछे न जाने कितने सुदीर्घ अतीत की पुञ्जीकृत अभिज्ञता जागी हुई दिखती है। जिस सभ्यता ने पिरामिड गढ़कर उसमें 'ममी' आदि का संरक्षण किया होगा, उस सभ्यता की दृष्टि अध्यात्म-राज्य में जितनी-सी प्रसारित थी, जड़ के मर्मस्थल में भी उसने वैसा ही प्रवेश पाया होगा एवं उस दृष्टि की गम्भीरता और प्रसार को चिन्तनपूर्वक देखने से आज की विज्ञान-विद्या को भी तुलना में कुण्ठा व लज्जा का अनुभव नहीं होगा क्या ?

हम आज इतिहास सुनाने नहीं बैठे हैं। किन्तु स्मरण रखियेगा कि मानव-समाज के शैशव, कैशोर, यौवन आदि दशाओं की बात बहुत सावधान होकर कहना ही हमारे लिए उचित होगा। बहुत दूर से देखने से हिमालय एक लम्बी-सी चहार-दीवारी (प्राचीर) जैसा ही दिखाई देता है, यह लगता नहीं कि उस श्वेतशीर्ष प्राचीर का विस्तार सौ योजन है। कितने ही लम्बे समय की चढ़ाई-उतराई पार करके तीर्थ-यात्री को उस प्राचीर के बीच में स्थित गङ्गोत्री, जमनोत्री, वद्रिकाश्रम, बद्रीनारायण आदि देखने जाना पड़ता है। अधिक दूरी वस्तुओं के परस्पर के व्यवधान को दूर कर देती है—यह जैसे देश के सम्बन्ध में तथ्य है, वैसे काल के सम्बन्ध में भी है।

इसीलिए ऋग्वेद-संहिता के मन्त्र सुनकर हम सोचते हैं, मानव-शिशु पहले-पहल मानो उषा देखकर, अरुणोदय देखकर, विद्युत्-विकास, वर्षा एवं झंझावात देखकर विस्मित हो उठा, उनका कारण कुछ ठीक-ठीक न पाकर उनके पीछे अनेकों देवताओं की कल्पना करने लगा, देवताओं को रथ में बैठाने लगा। रथ में पाँच-सात घोड़े जोत दिये, उन्हें सोमरस के भाग देना चाहते थे, उनके लिए अग्नि में घी डालते थे एवं बहुत उपायों से उन्हें प्रसन्न रखने के लिए सचेष्ट रहते थे—यही पाश्चात्य पण्डितों का animism, spiritism, magic आदि हैं। खूब चटपटी व्याख्या है।

उनका दिया हुआ वेद का वयःक्रम स्वीकार कर लेने पर भी क्या हम यह नहीं देख पाते कि उससे पहले कितने लाख वर्ष मनुष्य प्रकृति की गोद में लालित-पालित-वर्धित हो चुका है—कितने करोड़ों बार उषा, अरुणोदय, विद्युत् आदि देख चुका है। यहाँ तक कि अपेक्षाकृत निश्चिन्त रूप से समाजबद्ध जीवन भी कितने सहस्रों वर्ष पहले से ही चल रहा था।

वेद के ऋषियों को दुधमुँहे शिशु समझने का कारण क्या है यह तो हमें खोजे नहीं मिलता। हम जिस माल-असबाब और कार्य-कलाप को सभ्यता का लक्षण और अङ्ग कह रहे हैं—वे ही मानव की प्रवीणता को प्रमाणित करते हैं, उनके रहते ही सभ्यता पूर्णाङ्ग है और उनकी अल्पता हो तो सभ्यता अपरिणत, अपरिपक्व है—यह बात भला किस नियम या आधार या प्रमाण पर सोची जा सकती है? देवताओं को मानना सभ्यता है या न मानना सभ्यता है? यज्ञ में मन्त्र पढ़कर घी ढालना सभ्यता है या वह सब पाठ और कर्म उड़ा देना ही सभ्यता है? कौन कैसे निर्णय करेगा? और भी, सभ्यता के अभ्युदय को नापने का कोई एक प्रमाण या माप-तौल जब तक निश्चित न कर पायें, तब तक कौन आगे है कौन पीछे, कौन छोटा है कौन बड़ा, और कौन भारी है कौन हल्का?—इसका सभी को सम्मत (सर्ववादिसम्मत) रूप से निरूपण करने का कोई उपाय तो दिखता नहीं।

आप लोग पश्चिम के पण्डे-पुरोहित हैं तो अपने तीर्थ को ही महातीर्थ समझकर बैठे हुए हैं। आपकी अपनी वर्तमान सभ्यता को ही सभी का परला सिरा (अन्तिम छोर) या सेहरा (शिरोभूषण) समझ रहे हैं और उसीके आदर्श पर सभी प्राचीन-अर्वाचीन सभ्यता का हिसाब कर लेने का हठ किये बैठे हैं। किन्तु आप लोगों के अन्ध-प्रशंसकों से अतिरिक्त कौन बिना विचारे आपके आदर्श को सिर पर उठा लेगा? क्या मानव-समाज का सुख मोटे तौर पर बढ़ा या घटा—यही देखकर सभ्यता की उन्नति-अवनति नापोगे? ऐसा ही नापो, तब भी वर्तमान सभ्यता का प्राधान्य निस्सङ्कोच ऊँचे गले से नहीं कहा जा सकता। अध्यापक हक्सले की मर्मस्पर्शी भाषा में कहें तो आधु-

निक अपरा-विद्या कितनी ही ऊँची उछल-कूद क्यों न किया करे एवं उसका इन्द्रजाल देखकर हमारी आँखें कितनी ही फैलती रहें, किन्तु [१२७]"Human Prometheus के हृत्पिण्ड को दुःखरूपी जो सनातन बाज तोड़-तोड़ के खा रहा है, उस बाज को हमारी यह अपरा-विद्या हटा नहीं सकी है। बल्कि वेद के उसी सर्वभुक् अहि या वृत्र के समान उस बाज की भूख को यह उत्तरोत्तर और भी प्रज्वलित किये दे रही है।

मनुष्य की धर्मबुद्धि और कल्याणबुद्धि क्रमशः बढ़ रही है, इसलिए हम लोग क्रमशः सभ्य हो रहे हैं—यह बात सुनकर हँसें कि रोयें—कह नहीं सकते। विशेष रूप से अभी जो पृथ्वी-व्यापी कुरुक्षेत्र (प्रथम विश्व-महायुद्ध) हो गया एवं फिर भी होने की तैयारी है, उससे बनी हुई रक्त-नदियों की ओर देखकर 'मानव की समाज-व्यवस्था बढ़ने से ही समाज उन्नत हुआ'—हर्बर्ट स्पेन्सर की इस मति को हम अनायास गले नहीं उतार सकते। जटिलता क्रमशः भूलभुलैया की तरह इतनी भयावह होती जा रही है कि मानवात्मा के वास्तविक कल्याण की ओर देखकर सचमुच ही अब हमें ऐसा लगने लगा है कि चलने का कोई सीधा-सादा मार्ग हो तो अच्छा रहे।

योरप तो उस कुरुक्षेत्र को किसी प्रकार एकआध सन्धि का बहलावा देकर उसका मुँह बन्द कर रहा है किन्तु केवल उसीके नहीं, विश्व-समाज के ही मर्मस्थल पर आज जो Bolshevism के रुद्र-ताण्डव की संवेदना या छाप पड़ गयी है उसी Bolshevism की रक्तवाहिनी, मानवात्मा के वक्ष पर से पाषाण-समूह जैसी स्तूप बनी हुई जटिल व्यवस्था का बोझा हटाकर उसे अपेक्षाकृत स्वच्छन्द एवं उसके समाज को अपेक्षाकृत सरल किये बिना छोड़ेगी क्या? यह श्राद्ध कब तक चलेगा अभी कहना कठिन है। किन्तु मनुष्य को पुनः "Back to the cottage, back to the field" किये बिना रुद्रदेव अपनी संहारलीला का उपसंहार करेंगे नहीं, ऐसा लगता है। इसीलिए चलने का पथ सीधा होना ही अच्छा है—यह सहसा नहीं कहा जा सकता। वेद का मानव-समाज अपेक्षाकृत सरल है, इसीलिए वह शिशु माना जाय और वर्तमान मानव-समाज जटिल है इसलिए उसीको प्रवीण, वयोवृद्ध माना जाय—ऐसी समाजनीति हम तत्काल नहीं मान सकते।

यदि कहें कि ज्ञान के विकास का हिसाब लेकर सभ्यता की उन्नति का हिसाब करेंगे—तब भी कठिनाई ही है—ज्ञान क्या है? और उसका विकास क्या है? ज्ञातव्य विषय तो अनन्त हैं एवं उन सबका यथार्थ ज्ञान भी अनेक स्तरों का हो सकता है। इस महासिन्धु में कहाँ डुबकी लगा पाने पर हीरा-माणिक-मुक्ता पर हाथ पड़ेगा और ऐसी विद्या प्राप्त करेंगे कि उसकी गोद में बैठकर माता के स्तन-युगल में से झरनेवाली अमृतधारा के समान श्रेय व प्रेय दोनों का ही निश्चिन्त भाव से पान करके अपने को

कृतार्थ समझ सकेंगे ? पश्चिम की विद्या तो अनेक प्रकार की बातें सिखा रही है, किन्तु उन बातों में सच्ची, खरी, काम की बातें कितनी हैं जिनसे हम चतुर्वर्ग प्राप्त कर सकें—इसकी निःसंशय रूप से परीक्षा किस कसौटी से करें कहिये तो ? केवल विद्या का आयतन (लम्बाई-चौड़ाई) देखकर ही हम उसका वरण नहीं कर लेंगे, उसके रूप-गुण का भी कुछ परिचय लेंगे——इसका उत्तर सहसा क्या दें, सोच नहीं पाते।

इसीलिए हम कह रहे थे कि वेद में जिस सभ्यता की मूर्त्ति हम देख पाते हैं, उसे मानवात्मा की बाल-गोपाल मूर्त्ति समझना ही होगा और उसकी बातों को "अमृतं बालभाषितं" मानते हुए स्नेह-कौतुक-मिश्रित हास्य के साथ सुनना ही होगा। जब वह प्यार में भरकर हमारी गोद में और कन्धों पर चढ़ने लगे तो उसे दो गोविन्द-लड्डू देकर बहलाना ही होगा——ऐसी जो बातें वर्णूफ, मैक्समूलर, वेब्र, रोजेन आदि पाश्चात्य वैदिक पण्डित कहते हैं, उनकी फरमाइश के अनुसार चलने को हम तो किसी भी तरह राजी नहीं, आप चाहें तो चलें।

असली बात समग्र वैदिक गवेषणा के मूल में ही भूल है, एवं उसने उस गवेषणा को प्रायः गुड़गोबर ही कर डाला है। आरम्भ से ही हमने मस्तिष्क में यह मतवाद ठूंस लिया कि ऋग्वेद-संहिता मानव-समाज के अंश-विशेष के शैशव की ही अभिव्यक्ति और इतिहास है। शिशु के मुँह से बड़ी बातें कोई सुनना नहीं चाहता, सुने तो उसे छोटे मुँह बड़ी बात समझा जाता है। इसीलिए वेद-संहिताओं के मुख से बड़ी-बड़ी बातें सुनने से हम चिढ़ते हैं। स्थान-स्थान पर आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों का आभास वेद में पाने पर अथवा अति-गहन अन्तर्दृष्टि का परिचय वहाँ मिलने पर हम कुछ विचलित हो जाते हैं। हो सके तो उनकी कोई सरल-सीधी व्याख्या निकाल लेते हैं, नहीं तो फिर उन्हें 'परवर्ती युग का प्रक्षिप्त अंश' कह देते हैं। इसके बिना हमें चैन नहीं पड़ता। क्योंकि किसी भी प्रकार हमारी वेद-माता को शिशु का ही वेश पहनाये रखना ही होगा। किन्तु इस नन्हें-मुन्ने के वेश में हमारी माता का दम अटक जाये तो क्या होगा ? पश्चिम देशों से उस्तादजी का आदेश मिला है, उस आदेश का उल्लंघन प्राण रहते हो नहीं सकता।

जब तक पश्चिम का यह मतवाद भूत की तरह हमारे मस्तिष्क पर चढ़ा बैठा है, तब तक इस 'सरल व्याख्या' का मोह कटेगा नहीं। उसे शिशु ही समझें तो सरल पहाड़े देना ही स्वाभाविक है। इसीलिए न्यूटन का Principea अथवा आइन्स्टाइन, मिस्किब्स्की का Four-Dimensional Calculus उस शिशु के हाथ में दे देने की मति नहीं होती। किन्तु सच ही प्रश्न उठता है कि क्या हमारा वेद शिशु है ? क्या वेद के मन्त्र आदिम आर्यों के सरल-सुन्दर संगीत हैं ?

उन्नीसवीं शताब्दी में एक भयावह दम्भ ने पृथ्वी के पंखरहित दो पैरवाले प्राणियों को 'सर्वज्ञ पुरुष' बना दिया था, वे अपनी अभिज्ञता को ही सबसे बड़ी समझने लगे थे। इसीलिये उनकी दृष्टि में वेद के ऋषि सरल कृषक और पशुपालक के सिवा और कुछ भी नहीं थे। किन्तु अब मानवों का सौभाग्य है कि विधाता पृथ्वी पर जो नवीन आलोक धीरे-धीरे ला रहे हैं, उससे उन्नीसवीं शताब्दी की वह आत्मगरिमा बहुत कुछ खण्डित होती जा रही है। अपनी अभिज्ञता को लेकर हठधर्मिता अब पश्चिम देशों में क्रमशः कम हो रही है, यहाँ तक कि, जैसे कि लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं—किसी दिन शायद अपने नये औद्धत्य से लज्जित होकर, स्वयं ही शिशु होकर, सनातनी वेदमाता की चिरमङ्गलमयी गोद की ओर हाथ बढ़ाये चलने लगेंगे। कहेंगे— "ओ माँ गरीयसि ! हमने अपने ज्ञान-विज्ञान की साधन-सम्पदा सब तुम्हारे चरणों में बिखेर दी है, तुम्हीं हमें बताओ कि इनमें से किसका कितना मूल्य और उपयोगिता है।"

जो भी हो, मैं यहाँ भविष्यवाणी करने नहीं खड़ा हुआ हूँ। तात्पर्य की बात यह कि—वेद शिशु है—यह पूरी तरह स्थिर समझकर ही चलें तो फिर वेद के व्याख्यान में हाथ लगाना व्यर्थ है। उस मतवाद को मन से निरस्त कर देना होगा। दूसरी ओर जिस वस्तु को हम वेद नाम से देख-सुन-समझ रहे हैं, वह वस्तु सर्वज्ञता का आधार है ऐसी प्रतिज्ञा भी करके हम नहीं बैठे हैं। आरम्भ में ही वेद के सम्बन्ध में एक श्रेणी या series हमने सोच ली थी। तो परमेश्वर के ज्ञान में जो वेद है वही पूर्ण एवं चरम वेद—Veda in the limit—है। उसके नीचे अनेक प्रकार के वेद अनेक शाखाओं में उतरे हैं। जिसने उस वेद का जितना-सा अंश देखा है या परिचय पाया है, उसके लिये उतना-सा ही वेद है। उस खण्डित वेद को सर्वज्ञता का आधार समझ लेने पर ऐसी सर्वनाशी हठधर्मिता दिखाई देगी जिसका मूल हमारे वेद, पुराण, या दर्शन-मीमांसा में मिलेगा ही नहीं। इसीलिये कहता हूँ कि वेद शिशु है या सर्वज्ञता का आधार है—ऐसी कोई भी निश्चित धारणा हृदय में बाँधकर वेद को देखने जायें तो विडम्बना और मनस्ताप ही होगा। आस्तिक्य अन्ध होने पर, बहुत बार नास्तिक्य के कन्धे पर चढ़कर उसीके साथ-साथ 'मोहगर्त' में गिरकर डूब मरता है। ●

नौ

वेद के रूपकों में विज्ञान

कोई सिद्धान्त या धारणा मन में लेकर वेद में हाथ लगायें तो बहुत प्रकार की हाथ की सफाई दिखाने का अवसर मिलता है, क्योंकि हमारी श्रुति तो कामधेनु या वाञ्छाकल्पलता है। तुम जो-जैसा देखना चाहो, श्रुति वैसा ही दिखा देगी। वेद को शिशु मानकर बच्चों जैसी सरल व्याख्या करो तो भले करो, वेद को उसमें आपत्ति नहीं। तुम वेद के साथ रेत के घरौंदों का खेल करना चाहते हो तो वेद वही प्रस्तुत कर देगा। अगर तुम चाहते हो वेद से परम पुरुषार्थ लेना, तो आलस्यरहित, अप्रमादी, सहिष्णु होकर प्रयत्न द्वारा वेद की आधिभौतिक और आधिदैविक व्याख्या के छद्मवेष के बीच से, मूँज में से सींक निकालने की तरह सावधानी से अध्यात्म-दृष्टि निकाल लो—उसके भी संकेत और उपाय वेद में दिये हुए हैं, तुम्हें विफल-मनोरथ नहीं होना होगा। तुम वैदिक पण्डित हो, देवता-ठेवता को उड़ाकर उन्हें भी मनुष्य ही बना देना चाहते हो, तो खोजो, तुम्हारे ऐसे अभीष्ट का भी वर्षण करनेवाले वचनों का अभाव नहीं है। माँ गङ्गा मरे हुओं को बहा ले जाने के लिये ही नहीं आई हैं, विशेष रूप से शीत ऋतु के अन्त में; हमारी वेदमाता भी सिद्धान्तों के जञ्जाल खींचकर अपने अंगों का आभूषण बनाने में द्विधा नहीं करतीं, विशेष रूप से इस कलियुग की संध्या में। ऋग्वेद और गीता की भाषा में समुद्र में सभी प्रकार के 'आपः' (जल-नदियाँ) प्रवेश करते हैं, तब भी उससे समुद्र की प्रतिष्ठा डोलती नहीं, उसी प्रकार वेद में युग-युगान्तर से व्याख्या-अपव्याख्या होती चली आई; किन्तु उससे वेद की प्रतिष्ठा तत्त्वदर्शी निगूढ़ रस के रसिक साधकों की दृष्टि में—बिन्दुमात्र भी विचलित नहीं हुई। छोटी-बड़ी सभी प्रकार की धारणाओं-मतवादों का मूल वेद में से खोज निकालना चलता है। वेद के ऋषि वायुयान में चढ़कर हवा खाते थे यह तुम्हारा मत है तो खोज लो, ऋग्वेद में त्वष्टा या विश्वकर्मा केवल इन्द्र के लिये वज्र बनाकर ही छुट्टी नहीं पा गये थे, रथ और विमान भी शायद बनाते थे।

कहना न होगा कि अपने मत के अनुकूल वचनों का अभाव नहीं है। और वैसे वचन न भी हों तो क्या? चाहे जिस वचन को लेकर अनेक धातुओं से अनेक अर्थ निकाल-कर, खींच-तानकर तुम किसी तरह वेद में विमान गढ़ भी दो तो तुम्हें रोकेगा कौन? लौहयान, बाष्प-शकट तो पड़े हुए ही हैं; उनमें भाप तैयार कैसे होती होगी यह प्रश्न उठायें तो शायद उत्तर देंगे काष्ठ आदि इंधन जलाकर, अथवा गाँजे का स्तूप ही

इंधन बनता होगा। असली बात यह है कि वेद का अर्थ हम भूल गये हैं, वेद की भाषा बहुत कुछ साङ्केतिक भाषा में शामिल हो गयी है।

केवल हम ही नहीं भूले, सायणाचार्य कल के युवक थे, वे भी वेद का अर्थ अनेक प्रकार का कर सकते हैं, किन्तु निरुक्तकार यास्क तो प्राचीन थे, वे भी किसी-किसी मन्त्र का क्या अर्थ करें मानो इसकी थाह नहीं पा रहे हैं, ऐसा लगता है। ऋक् का देवता कहीं-कहीं अश्विनी-द्वय हैं। ये लोग कौन हैं? यास्क लिखते हैं—"तत् कौ अश्विनौ? **द्यावापृथिव्यौ इत्येके। अहोरात्रौ इत्येके। सूर्याचन्द्रमसौ इत्येके। राजानौ पुण्यकृतौ इति ऐतिहासिकाः।**"[११८] इत्यादि। बहुतों के बहुत से मतवाद हैं। धातु का अर्थ लेकर बहुत से तात्पर्य लगाये ही जा सकते हैं। यास्क और सायण ने अर्थ-सङ्गति के लिये एक ही शब्द के अनेकों अर्थ बहुत स्थानों पर कहे हैं। ऋग्वेद प्रथममण्डल के ५५वें सूक्त की दूसरी ऋक् में 'समुद्रियः' पद इन्द्र का विशेषण है। इन्द्र भला समुद्र में कैसे उत्पन्न होंगे? सुतरां, सायण ने व्याख्या दी—"**समुद्रम् अन्तरिक्षम् अतएव समुद्रियः**" अर्थात् समुद्र का अर्थ है अन्तरिक्ष या आकाश। आकाश या द्यु सभी देवताओं का पिता है यह बात वेद में बहुत स्थानों पर कही गयी है, इसलिए वैसा अर्थ करने में कोई बाधा नहीं, इसीलिए 'समुद्र' का अर्थ 'आकाश' कर दिया सायणाचार्य ने। फिर १/११० सूक्त की पहली ऋक् में समुद्र शब्द है। वहाँ सायण ने धात्वर्थ दूसरी ओर ले जाकर अर्थ किया—"**समुदनशीलोऽयं सोमरसः**" समुद्र सोमरस हो गया। सोम शब्द का अर्थ भी केवल सोमलता का रस समझने से सब जगह काम नहीं चलेगा। १/९१ सूक्त के देवता सोम हैं। उस सूक्त की चौथी ऋक् है—"**या ते व्याख्यानि विविषा पृथिव्याम्**"—इत्यादि। अर्थात् "हे सोम! तुम्हारा जो तेज द्युलोक में, पृथिवी में, पर्वतों में, ओषधियों में एवं जल में है, उसी तेज से युक्त होकर हे सुमना एवं क्रोधहीन राजन्! हमारा हव्य ग्रहण करो।" पुनः उसी सूक्त की २२वीं ऋक् में—"**त्वमिमा ओषधीः**" इत्यादि का भी अर्थ सुनिये—"हे सोम, तुमने ही इन सब ओषधियों को उत्पन्न किया है, तुम्हींने वृष्टि का जल बनाया है, तुम्हींने सब गायें बनायी हैं। तुम्हींने इस विशाल अन्तरिक्ष को विस्तीर्ण किया है एवं उसके अन्धकार को ज्योतिः द्वारा विनष्ट किया है।" यह स्तुतिवाक्य सुनकर आप सोम को क्या समझेंगे कहिये तो? केवल किसी लता का मादक रस समझने से काम चलेगा क्या? सरल 'कृषकों' के गीत में यह 'किस' की गम्भीर विपुल झङ्कार है?

यज्ञ में जिस सोम का अभिषेक करते हैं उस सोम में न जाने किस सर्वव्यापी दिव्य वस्तु का अव्यक्त अनुभव जाग्रत् हो रहा है। फिर उसी सूक्त की १७वीं ऋक् में सोम को लता भी कहा गया है। इस लता को प्रतीक बनाकर यह किसका अनुध्यान और उपासना है कहिये तो? पुनः १/१० सूक्त की ६, ७, ८, ९ ऋचायें सावधान होकर

सुनिये—"मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः" इत्यादि कुछ ऋचायें ही जैसे सुन्दर मन्दारमाला जैसी हैं, अनुभव तो 'दूरे आस्ताम्' (अनुभव की तो बात ही क्या) केवल कानों से सुननेभर से मानो प्राण मधुमय हो जाते हैं। अर्थ है—"समस्त वायु मधु बरसा रही है। नदियाँ मधु ही बहा रही हैं, ओषधियाँ भी सब माधुर्य-युक्त हों, हमारी रात्रि और उषा मधुर हों, पार्थिव जनपद माधुर्यभरे हों, जो आकाश सभी का पालक है, वह आकाश भी मधुयुक्त हो। वनस्पति हमारे प्रति मधुर हों, सूर्य भी मधुर हों, सभी गायें मधुर हों, मित्र, वरुण, अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र एवं विस्तीर्ण पदक्षेप करनेवाले विष्णु हमारे लिये सुखकर हों"—यह जो निखिल पदार्थों में ओतप्रोत माधुर्य या आनन्द का अनुभव है, कटु, कषाय, तिक्त सभी रसों में मधुरस के फल्गु-प्रवाह का आविष्कार जो हृदय कर सका, उसमें शैशव की सरलता तो अवश्य है, किन्तु शैशव की मूढ़ता कदापि नहीं; उस हृदय की वेदना में शैशव की स्वच्छता और निर्मलता तो है, किन्तु सङ्कोच और चपलता नहीं। उसे शिशु कहना हो तो भले कहो, किन्तु वह देव-विग्रह वामनरूपी होने पर भी विष्णु की भाँति इसके पद-प्रक्षेप से द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष सब आक्रान्त और आवृत हो जाता है।

जो भी हो, वेद के व्याख्यान में प्रवृत्त होने पर इतनी बात स्मरण रखनी होगी कि वेद के शब्दों को काटना-छाँटना और एक ही साँचे में ढले अर्थ करना हमेशा चलेगा नहीं। स्वयं श्रुति के ही सङ्केत एवं निर्देश के अनुसार अनेक प्रकार के अर्थ करने होते हैं। यास्क, सायण आदि वेद-व्याख्याकारों ने इसीका प्रयास किया है। अवश्य ही वे भी पूरी तरह कृतकार्य नहीं हो सके हैं। वेद के शब्दों के अर्थ-समूह को स्थितिस्थापक (elastic) कर लेने में एक ओर जहाँ इष्टापत्ति और सुविधा है, वहीं दूसरी ओर मतवादों (theories) के उपद्रव में बात बढ़ जाने से सर्वनाश भी है। संक्षेप में कहें तो वेद का अर्थ ठीक स्पष्ट रूप से आँखों के सामने उतर नहीं आता इसलिये वेद-शब्दराशि में से सत्य-सिद्धान्त निकाल लेने की सुविधा जितनी है, उतनी ही, अपने विचार के अनुसार वेद के शिव को वानर बना लेने की भी सुविधा है। अन्धेरे में जहाँ अच्छी तरह कुछ दिखता नहीं, वहाँ जंगल के झाड़-झंखाड़ की कल्पना से भूत-पिशाच बना लें तो इसमें विचित्र क्या है? मतवादों को बिल्कुल हटाकर सदा-शिव या कोई 'तटस्थ सामान्य मनुष्य' होकर वेद पढ़ना शायद निभता नहीं, एक-आध अष्टक पढ़ते न पढ़ते ही कन्धों पर मतवादों (theories) का भूत ऐसा चिपकने लगता है कि तभी पोथी फेंककर लेखनी के रथ में वैदिक देवताओं की तरह दो-चार अश्व जोत देने की इच्छा होती है। लिखने से साध पूरी नहीं होती, स्पर्धा की सीमा नहीं रहती, ऐसी इच्छा होती है कि अपनी मानसी-'थ्योरी'-देवी के सम्मुख घुटने टेककर स्तुति करें—

असितगिरिनिभं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शाखा सर्वकालं
तदपि तव गुणानां 'देवि' पारं न याति ।।[१३९]

इसीलिए प्रार्थना करते हैं कि हे अश्विनीद्वय ! तुम्हारी पुराकीर्ति तो 'बहुधा श्रूयते' तुम्हीं 'थ्योरी' के अत्याचार से हमें बचाओ ।

मतवादों के विरुद्ध मेरा ऐसा अभियान देखकर शायद आपकी जिह्वा मुझे एक बात कहने को अकुला उठी होगी कि "अरे, कथाकार महाशय की धारणा यदि 'स्वकीया' ही हो तो शायद दोष नहीं होगा, क्यों ? theory परकीया हो तो उसका रसास्वादन करने को गोस्वामीजी ने मना किया है क्या ? तुम दूसरों के मत के प्रति असहिष्णु हो, तो क्या तुम्हारा अपना भी कोई मत नहीं है ? तुम इस व्यापनशील द्युतिमान् सोमरस को विज्ञान की परिभाषा के अनुसार 'a universal stream of radiation' कहते हुए अभी कितनी ही व्याख्यायें जुटा दोगे, यह क्या हम समझते नहीं ? हमारे कन्धे पर वायुयान या वाष्पशकट का भूत सवार है तो तुम्हारे कन्धे पर शायद इलेक्ट्रॉन, रेडियम, ईथर आदि का भूत चढ़ा होगा । किसी न किसी तरह हम दोनों ही समान हैं ।"—इस प्रकार की जिरह आप लोग उठायें तो तत्काल अपनी कैफियत देने की क्षमता मुझमें नहीं । अभी तो मान ही लेंगे कि मेरी भी कोई धारणा या सिद्धान्त (theory) है । किन्तु यदि निर्भय होकर कहने की आज्ञा दें तो इतना-सा निवेदन कर रखता हूँ कि इस सिद्धान्त का मन्त्र मेरे कान में स्वयं वेदमाता ने ही कहा है, मैंने कहीं बाहर से नहीं लिया या अपने मन से नहीं निकाला ।

मैं अकृती हूँ । साधन-भजन करके ठीक-ठीक मेलजोल बैठा नहीं सका हूँ, किन्तु जितना-सा चिन्तन करके देखा है, उससे यही समझ में आया कि वेद स्वयं मुझसे जो कुछ कह गये हैं—नवीन विज्ञान ने भी उलट-फेरकर धीरे-धीरे सहज-भाव से वही तो कहना आरम्भ किया है । और भी मन में आता है कि हमारे समान जो लोग साधक नहीं, परीक्षक नहीं, उनके विशाल वेदायतनों के कक्षों में सजी रत्नराशि को परखने, पहचानने के लिए नवीन-विज्ञान की आलोक-वर्त्तिका कुछ कम्पित-चञ्चल होने पर भी थोड़ी-बहुत किसी प्रकार पथ-प्रदर्शिका, अन्तःपुर-परिचायिका हो ही सकती है । कहाँ तक, कितना-सा काम बनता है या नहीं इसका परिचय तो फल ही देगा । किन्तु एक बात है,—इधर-उधर बिखरे नव-विज्ञान के आलोक की रश्मियों को एकत्र जुटाकर वास्तव में उन्हें एक उज्ज्वल मशाल बना लेने में जैसे मनीषा और एकनिष्ठा अपेक्षित है, वह हममें नहीं है, इसलिए अकेले तो इस कार्य को आरम्भभर ही कर सकता हूँ, और

आरम्भ सदोष ही हुआ करता है। इस क्षेत्र में भी दस-बीस को मिलकर ही कार्य करना होगा। ऋग्वेद-संहिता के उपसंहार का वह मन्त्र स्मरण कीजिये--"समानी व आकूतिः समितिः समानी संवो मनांसि जानताम्।" (१/१/१९१)

"तुम सबका अभिप्राय एक हो, अन्तःकरण एक हो, मन एक हो, तुम सब सभी अंशों में सम्पूर्ण रूप से एकमत हो जाओ।"

अच्छा, theory की बात जाने दें। वेद की सभी बातें क्या अक्षरशः सत्य मान लेनी होंगी ? अर्थात् वेद में क्या कवित्व या रूपक नहीं है ? हैं, प्रचुर हैं, वह है इसीलिये तो खूब सावधान होकर मर्मार्थ समझने की चेष्टा करनी होती है। कवित्व का उदाहरण देना हो तो सम्पूर्ण संहिता ही प्रस्तुत हो जायेगी। उसकी आवश्यकता नहीं। रूपक ? हाँ, वे भी यथेष्ट हैं। इसके दो-एक दृष्टान्त देता हूँ; अन्ततः उसमें इतना-सा ही समझेंगे कि क्यों हम वेद-वारिधि में जाल फेंककर वैज्ञानिक तथ्य खोज निकालने का प्रयास कर रहे हैं। वेद-मन्त्रों में वैज्ञानिक तथ्य कहीं तो स्पष्ट रूप से है, कहीं अस्पष्ट रूप से, रूपक के छल से निहित है। थोड़ा-सा झाँककर देखें तो देखा जा सकता है कि यह वैज्ञानिक रहस्य (scientific truth) है। मेरे मन में पुनः आता है कि ये वैज्ञानिक रहस्य निगूढ़ रहस्य हैं, कुछ दिन पहले समझने की कोशिश करने पर भी शायद समझ न पाते; अब विज्ञान की आकृति-प्रकृति बदल जाने से, समझने की कुछ-कुछ सम्भावना हो गई है। किन्तु हठधर्मिता करने से नहीं चलेगा। सम्भावना कुछ अंश में, कुछ परिमाण में हो रही है, पूरी तरह से, पूरे परिमाण में अभी भी नहीं। अर्थात् विज्ञान के इलेक्ट्रॉन, ईथर, रेडियेशन आदि नयी धारणाओं (concepts) को वेद की अदिति, मरुद्गण, सोम आदि की तटस्थ विवृति या approximate description रूप से ग्रहण करने का ही मैं परामर्श देता हूँ। कौन किसका प्रतिनिधि है यह बाद में कहेंगे।

आप लोग उस श्रृंखला या series की बात भूलियेगा नहीं जो मैंने आरम्भ में ही कही थी, नहीं तो वेद और विज्ञान के दोनों ही किनारे छूट जायेंगे। वामनावतार की कथा आप लोगों ने पुराणों में पढ़ी है, नाटक आदि में देखी-सुनी है। उसका मूल है वेद की १/२२ सूक्त की १७वीं ऋक्--"विष्णु ने यह परिक्रम किया है, तीन प्रकार पदविक्षेप किया था, उनके धूलियुक्त चरण से जगत् आवृत हो गया था।" इसका मर्मार्थ क्या है ?—यास्क कहते हैं—"सूर्य ही विष्णु हैं।" सायण ने भी सूर्य की ओर ही अर्थ दिया। आत्मा की ओर की अथवा आध्यात्मिक व्याख्या ऋषि के मन में नहीं थी, यह बात मैं तो योरोपीय पण्डितों के सुर में सुर मिलाकर कह नहीं सकता। उनके मत से तो शैशव में आत्मा को ओर का चिन्तन सम्भव नहीं। ऋग्वेद के ऋषि अधिकतर शैशव की दशा में हैं। विष्णु सर्वव्यापी आत्मा है, उसके तीन प्रकार

के पद-विक्षेप हैं—जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति । ऐसी व्याख्या कोई दे तो मैं तो लाठी नहीं निकालूँगा ।

अवश्य ही स्पष्ट है कि एक व्याख्या आधिभौतिक है अर्थात् बाह्य भूतों की ओर से है, अर्थ तो इस रूपक में से निकल ही रहा है । भूत-पक्ष की व्याख्या देने जाकर ही यास्क ने शाकपूणि और आचार्य और्णनाभ की नजीर दिखाई है । मोटामोटी देखें तो सूर्य-उदयगिरि, अन्तरिक्ष एवं अस्तगिरि—इन तीन स्थानों पर पद-विक्षेप करता है ऐसा ही एक अर्थ समझा जा सकता है । किन्तु 'धूलियुक्त पैरों से जगत् आवृत किया' इसका अर्थ क्या है ? "अस्य पांसुरे"—इसका अर्थ क्या इतना ही है कि सूर्य की किरणों द्वारा समस्त जगत् आच्छन्न होता है ? तब तो 'पांसुरे' शब्द को उड़ा ही देना पड़ेगा। सूर्य की रश्मि या radiation अर्थ अभिप्रेत हो तो सन्देह नहीं उठता, किन्तु प्रश्न यह है कि किस प्रकार की रश्मि है । सूर्य की रश्मियों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के गूढ़ रहस्य ऋषि लोग जानते थे; वेद में बहुत स्थानों पर सूर्य का रथ सात अश्व खींच रहे हैं ऐसा वर्णन है । वहाँ सब जगह 'अश्व' रश्मि या किरण का ही रूपक है । सात अश्व क्यों ? न्यूटन से आरम्भ करके सभी वैज्ञानिकों ने प्रतिपन्न किया है कि सूर्य-किरणों में मुख्य रूप से सात वर्णों की रश्मियाँ सम्मिलित हैं, तीन पहलूवाले काँच में से देखी जायें तो सूर्य-किरण सात रंगों में विभक्त हो जाती हैं, वे सातों मिलने पर सूर्य की शुभ्र किरण बनती है, यह आलोक-विज्ञान की एक प्रधान बात है । वेद में इन सप्त-रश्मियों की बात बहुत बार दिखाई देती है । इसीलिए वैज्ञानिकों की दृष्टि में ऋषि लोग रश्मि के सम्बन्ध में अनाड़ी नहीं थे ।

न्यूटन की और भी एक बात है, वे समझते थे कि आलोक बहुत सूक्ष्म रेणु-कणों (corpuscles) की तरह वेग से दौड़ता हुआ आता है । वे जैसे आलोक के रवे या कण हैं । इसके बाद यंग, फ्रेसनेल आदि बहुतों ने, अनेक कारणों से न्यूटन के मत का खण्डन करके आलोक-रश्मि को ईथर-समुद्र की तरङ्ग मानना आरम्भ किया। और भी बाद में मैक्सवेल आदि वैज्ञानिकों ने प्रतिपन्न किया कि यह स्वरूपतः electro-magnetic disturbance है ।

आलोक के सम्बन्ध में विस्तीर्ण आलोचना करने का समय आज हमें नहीं है। किन्तु संक्षेप में कहना चाहता हूँ कि न्यूटन के कॉर्पसल अथवा तैजस रेणु चेहरा बदल-कर अब पुनः दिखाई देने लगे हैं । H. A. Lorenz आदि बहुतों ने प्रयास किया है यह दिखाने का कि किस प्रकार कॉर्पसल या इलेक्ट्रॉन छन्दोबद्ध रूप से एटम के भीतर नृत्य करते हुए ईथर-सागर को कँपा देते हैं एवं उसके फलस्वरूप आलोक की सृष्टि करते हैं । इसलिये कॉर्पसल ही आलोक का मूल है । न्यूटन की प्रतिभा-दृष्टि इसी मूल तक पहुँची थी । ठीक ये कॉर्पसल ही सेना की तरह वेग से दौड़कर आकर

हमारे मस्तिष्क को चञ्चल करके आलोक का ज्ञान उत्पन्न करें या न करें, किन्तु उस चाञ्चल्य का मूल तो इन सूक्ष्म तैजस भूतों को ही मानना होगा। वे ही विभिन्न गतियों में एटम में नृत्य करते हुए spectrum में विविध रंग-विरंगी रेखायें उत्पन्न करते हैं।

Dr. Johnstone Stoney की उक्ति सुनिये—"Now, an electron when undergoing periodic motion of any kind propagates electro-magnetic, that is to say luminous waves through the surrounding ether; etc." आप पूछेंगे—इलॅक्ट्रान या कार्पसल आलोक के उत्पादक हैं यह तो सिद्धान्त (theory) में मिल रहा है किन्तु उसका प्रत्यक्ष प्रमाण कहाँ है ? रेडियम आदि पदार्थों के साथ परिचय होने पर हम सच ही इन सूक्ष्म भूतों को पकड़ पाये हैं। यह वात पहले वीच-वीच में कह चुका हूँ, वाद में और भी विस्तार से कहूँगा। अतः ये सूक्ष्म पदार्थ केवल theory नहीं हैं।

इलॅक्ट्रान भी जीवों की तरह दो प्रकार के हैं—मुक्त और वद्ध। कुछ एटम में वँधे हुए गोल चक्कर काट रहे हैं। उनके ही नृत्य में, व्योमकेश का जटाजाल अन्तरिक्ष में व्याप्त होने की भाँति, आलोकरश्मि का जाल सव ओर फैलता है। इनसे पृथक् भी असंख्य इलॅक्ट्रान मुक्त रूप से ईथर-सागर में अथवा शून्य में दौड़-भाग करते घूम रहे हैं; इनकी सेना का जो अभियान या प्रवाह है उसको भी विज्ञान radiation कहता है। अवश्य ही बहुत स्थलों पर ये हमारी दृष्टि में नहीं आते इसलिये अदृष्ट, अरूप या non-luminous रूप से रहते हैं। सूर्य या आदित्यमण्डल से ऐसा द्विविध (दृष्ट और अदृष्ट, luminous and non-luminous) radiation हो रहा है। अर्थात् सूर्यमण्डल में इलॅक्ट्रान विविध छन्दों में नृत्य करते हुए, ईथर में से, आलोकरश्मियाँ हमें भेज रहे हैं। तथा, सूर्यमण्डल से असंख्य सूक्ष्म charged particles विखरते हुए झर रहे हैं एवं असंख्य ही electrons सूर्यमण्डल की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। एक वाक्य में कहें तो निखिल सौर जगत् में, यहाँ तक कि उसके भी बाहर नक्षत्रलोक में सूर्यदेव इन्हीं संख्यातीत सूक्ष्म तैजस भूतों द्वारा कन्दुकक्रीड़ा कर रहे हैं। उन्हें फेंकते हैं, फिर पकड़ते हैं।

वैज्ञानिकों ने एक छोटे-से वर्तुल (small drop) पर आलोचना करके उपसंहार में क्या कहा है, सुनिये—"Such drops are constantly being repelled from the sun in enormous numbers. Their expulsion keeps up the sun's positive charge, but that positive charge does not increase indefinitely since the sun drains vast tracts of space of the electrons (or negative charges) which abound in them. Arrhenius has

estimated that the sun drains the space as far out as one-sixth of the distance of the nearest fixed star of its free electrons, and thus maintains a constant circulation of electricity throughout the solar system."

सूर्यदेव ने निखिल सौर जगत् में एक ताड़ितशक्ति का प्रवाह वहा रखा है; हम पहले ही कह आये हैं कि तड़ित् का प्रवाह एकतान, अखण्ड (continuous) वस्तु नहीं—वह मानो एक विपुल सेना का अभियान है। व्योमकेश महाव्योम में रश्मि-जाल रूप से केवल अपनी जटायें ही बिखराकर कँपा रहे हैं ऐसा नहीं, उनके दिव्य अङ्गों में रमाई हुई विभूति (भस्म) भी दिग्दिगन्त में बिखरा रहे हैं। यही है charged particles का समन्तात् (सब दिशाओं में, सर्वत्र) प्रवाह। इसीको समझाने के लिये वेद-मन्त्रों में 'तस्य पांसुरे' ऐसा संक्षिप्त प्रयोग है कि वे अपने धूलि-विशिष्ट चरण से जगत् को छा ले रहे हैं। विज्ञान के atomic structure of radiation को समझाने के सिवा 'पांसुरे' शब्द का अन्य कोई अभिप्राय मैं नहीं समझ सका हूँ। वस्तुतः मेरी प्रतीति यही है कि इस 'पांसुरे' शब्द के संकेत द्वारा ऋषियों ने अपनी ध्यानलब्ध या परीक्षा-लब्ध अथवा विश्वस्त (आप्त) Radiation theory की ही बात हमें सुनाई है।

कहीं एक-आध स्थान पर एक बात मिले तो किसी तरह धातु का ही अर्थ लेकर सही-गलत कुछ अर्थ गढ़ लिया जा भी सकता है, किन्तु "मरुद्गणों के वाहन विन्दु-अङ्कित मृग हैं" ऐसा जब बहुत स्थलों पर दिखता हैं, वैद्युताग्नि द्वारा मेघ की गर्भ-रचना पर विचार करके देखता हूँ, इन्द्र के सहस्र धारवाले वज्र की बात सुनता हूँ, तब फिर चित्त में सन्देह नहीं रहता कि आधुनिक विज्ञान के सूक्ष्म तैजस पदार्थ (corpuscles electrons) मन्त्रद्रष्टाओं के लिए सर्वथा अनदेखे, अपरिचित नहीं थे। इनके माप, वजन, चलने-फिरने की पद्धति आदि लेकर वे सवाल लगाते (हिसाब फैलाते) थे या नहीं, यह नहीं कह सकते, किन्तु किसी भी प्रकार उन्हें पकड़ा-पहचाना तो था ही। आज के साहब-पण्डित लोग मन्त्र के इस धूलवाचक शब्द को लेकर कैसे आँकड़े फैलायें या क्या झमेला उठायें यह सोच नहीं पाते।

कहना न होगा कि मैं यहाँ इसकी वैज्ञानिक व्याख्या देकर बगल-बजाने का पक्षपाती नहीं। आज भी ईथर कष्ट में ही है—शायद कल न रहे, या रहकर भी न रहने के समान हो जाय। आजकल आइन्स्टाइन का खूब नाम हो गया है, उनका सिद्धान्त था कि केवल magnetism का ही क्यों, gravitation का भी आलोक-रश्मियों पर प्रभाव है अर्थात् किसी भी सुदूरवर्ती नक्षत्र का आलोक यदि सूर्य-मण्डल में से होकर आये तो सूर्य उसे अपनी ओर आकर्षित कर लेगा। आजकल की परीक्षाओं

में यह सिद्धान्त जाँचा जाकर टिका हुआ है। तब भी आइन्स्टाइन के हिसाब में ईथर का प्रयोजन कितना सा है? कहना यही है कि ईथर शायद फँस ही जायेगा, कम-से-कम जैसा अभी तक कहा-माना जा रहा है। किन्तु शिव के अनुचर इन सूक्ष्म भूतों (corpuscles) पर कोई मार नहीं है। इसलिये हम लोग निश्चिन्त भाव से विष्णु के इस विश्वव्यापी 'पांसुर' चरण की रज मस्तक पर धारण कर ही सकते हैं।

वेद में रश्मि (radiation) के सम्बन्ध में बहुत सी बातें हैं। १।२२वें सूक्त की १६वीं ऋक् में 'सप्तधामभिः' शब्द है; सायण ने उसका अर्थ किया है—"गायत्री आदि सात छन्दों द्वारा"। यदि यही अर्थ ठीक हो तो प्रश्न उठता है कि सूर्य इन सातों छन्दों में कैसा परिक्रम कर रहे हैं? उनकी सात किरणें सात प्रकार के छन्दोबद्ध नृत्य या स्पन्दन से उत्पन्न हैं—wave motion is harmonic motion; प्रत्येक प्रकार की किरण के लिये एक-एक भिन्न प्रकार का harmonic motion अपेक्षित है—वही एक-एक छन्द है; वह मन्त्रों का छन्द तो है ही, उसके अतिरिक्त उसके वर्तमान रूप को समझा रहा है harmonic motion। अपनी आँखों से तो इस रश्मि को हम अनुभव नहीं करते, तब भी रश्मि वास्तव में oscillation या undulation है इसे ऋषियों ने कैसे दिखाया था? १।६०।१ ऋक् कहती है—"विश्व के समस्त भूत और पर्वत-समूह एवं अन्य जो महान् एवं दृढ़ पदार्थ हैं, वे भी सूर्यरश्मि की भाँति तुम्हारे भय से कम्पित हुए थे।" यहाँ सूर्यरश्मि का कम्पन उपमा बना है।

आज और बात नहीं बढ़ायेंगे। वेद में जड़तत्त्व, प्राणतत्त्व, मनस्तत्त्व और आत्मतत्त्व के अनेकों गम्भीर रहस्य प्रच्छन्न हैं। आज तो एक रूपक खोलने में ही हमारा दिन गया। यह कार्य कोई सहज नहीं है। कहना न होगा कि प्रत्येक रूपक आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन दिशाओं से खोला जा सकता है। इन प्रबन्धों में हम विज्ञान अथवा आधिभौतिक दिशा से ही ये रूपक खोलने की चेष्टा करेंगे। आज की चर्चा में वेद को समझने की एक प्रणाली के आविष्कार में हमारा यत्न पूरा विफल तो नहीं हुआ। जो जिस प्रकार से वेद को समझना-समझाना चाहते हैं, वे वैसे ही समझें-समझायें; किन्तु मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि हठधर्मिता नहीं करियेगा, "मेरी व्याख्या ही व्याख्या है और सब अपव्याख्या हैं'—ऐसी डींग न हाँकियेगा।

अन्त में कुछ आकाश की बात कहकर आज बिदा लेंगे। हमने सर्वव्यापी अखण्ड (continuous) वस्तु खोजना आरम्भ किया है। जानते हैं क्यों? क्योंकि वही 'ज्यायान्' या परायण है। यही मूल में है, इसीसे इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण, मरुद्गण आदि सभी हैं। इस मूल को न पहचानने पर हम कुछ भी नहीं पहचान पायेंगे।

ऋग्वेद १।८९।१० कहता है—"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरीक्षम्....." इत्यादि, अर्थात् "अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है; अदिति माता है, वही पिता है, पुत्र भी वही है, अदिति ही समस्त देव है, अदिति पञ्चजन है, अदिति ही जन्म है और जन्म का कारण भी।" पुराण में इन्हीं अदिति को कश्यप की पत्नी और देवताओं की माता कहा गया है। वे कौन हैं ? वे वही सर्वव्यापी अखण्ड वस्तु हैं, जिसका अन्वेषण हम कर रहे हैं—continuum in the limit—नाम से। 'दो' या 'दित्' धातु खण्डन या छेदन अर्थ में हैं; अतः अदिति का शब्दार्थ है अखण्ड, अच्छिन्न, असीम वस्तु। उसीसे सब उत्पन्न हुआ है एवं वह वस्तु ही सब कुछ बन गई है। अगली बार हमें इसीका स्वरूप समझने की चेष्टा करनी होगी एवं देखना होगा कि इसीसे इन्द्रादि की उत्पत्ति कैसे होती है। विज्ञान की दृष्टि से इन्द्र, अग्नि, मरुद्गण आदि को हम कैसे समझें ? प्रसंगवशतः विज्ञान से हमें बहुत कुछ सहमति कर लेनी पड़ेगी। स

दस

कारण-सलिल और ईथर

पिछली वार से ही हमने ऋग्वेद के मन्त्र उद्धृत करके विज्ञान की ओर से उनके अर्थ का रहस्योद्घाटन आरम्भ किया है। प्रथम मण्डल के प्रसिद्ध 'त्रेधा निदधे पदम्' इत्यादि मन्त्र में आदित्यरूपी विष्णु का जो महिमा-गान किया गया है, वहाँ 'तस्य पांसुरे' इस वाक्यांश से क्या समझें यह आधुनिक विज्ञान से पूछा गया था। 'आदित्य धूलिविशिष्ट पैरों से जगत् को आच्छन्न करते हैं'—इस वाक्य में 'धूल' का रहस्य क्या है यही हमारा प्रश्न था। उसे कवित्व का अतिरंजन या अतिशयोक्ति कहकर उड़ा देने से काम चलेगा क्या ? कवि पागल नहीं है—जगत् का महाकवि है, कवि और पागल में चाहे जितना निकट सम्बन्ध आप दिखा दें। इसीलिए कवि के मुख से सर्वथा निरर्थक और असम्बद्ध वाक्य सुनने की हम आशा नहीं करते। आदित्य की महिमा का वर्णन करने जाकर ठीक धूलिभरे पैरों की बात कवि क्यों कह रहा है ? हमें लगता है कि वहाँ 'पांसु' या धूल शब्द किसी बहुत बड़े प्रच्छन्न तथ्य के आविष्कार की कुंजी है।

वेद के केवल एक स्थान पर 'पांसुरे' देखकर उसके भीतर छिपे किसी तथ्य का अनुमान करना शायद हठकारिता होती, किन्तु जो बात यहाँ छिपी है वह और बहुत स्थलों पर एक प्रकार से खोलकर भी दिखाई गई है, उसके प्रमाण हम क्रमशः देते रहेंगे। ऋग्वेद के १०/१२वें सूक्त में देवताओं के जन्म का विवरण दिया गया है। इस सूक्त में अदिति के बहुत से उल्लेख हैं, उस सूक्त का विशेष अवलोकन हमें करना होगा। अभी उस सूक्त की छठी ऋक् का अर्थ सुनें। "देवता इस विश्वव्यापी जल में खड़े रहकर महान् उत्साह दिखाने लगे। वे क्योंकि नृत्य करने लगे, इस कारण प्रचुर धूल उठी।" यहाँ भी उसी धूल की बात है। उस धूल से हाथ बचाना कठिन है।

मन्त्र सुनते ही क्या आपको ऐसा नहीं लगा कि इस उपमा द्वारा, रूपक द्वारा कवि सृष्टि के मूल की बात कहना चाह रहा है, जिस सर्वव्यापी मूलवस्तु से सभी कुछ उत्पन्न हुआ है। जिसे आधुनिक विज्ञान 'ईथर' कहकर कुछ-कुछ छूने-पकड़ने की चेष्टा कर रहा है, उसी वस्तु को वैदिक ऋषि बहुत स्थलों पर 'समुद्र' नाम से संकेत द्वारा कह गये हैं। पुराण में आकर यह वैदिक समुद्र 'कारण-वारि' बना है। यह अखण्ड, असीम पदार्थ ही फिर अदिति है इसे हमने पहले ही आभास द्वारा जाना था।

इस समुद्र का हम दो रूपों में विचार कर सकते हैं—एकतान अखण्ड, (continuous) दूसरा खण्डित, टुकड़े-टुकड़े (discrete), विज्ञान भी जगत् की उपादान वस्तु के विषय में दोनों प्रकार से विचार कर रहा है। सर्वथा न सही, कुछ-कुछ अखण्ड वस्तु है विज्ञान का ईथर। और टुकड़े हैं मौलिक्यूल, एटम, कॉर्पसल इत्यादि। उस अखण्ड वस्तु और इन टुकड़ों के सहारे ही विज्ञान। आजकल जगत् का विवरण दे रहा है। मूल वस्तु केवल निर्विशेष रूप से एक, अखण्ड बनी पड़ी रहे तो उससे विश्व का उदय नहीं होगा। यह-वह विभिन्न अनेक वस्तुयें बनने के लिए उस निर्विशेष पदार्थ में किसी भी प्रकार का वैषम्य या विशेष दिखना चाहिये, फिर उस वस्तु का चलना-फिरना, परिणति (अर्थात् जगत्) होने के लिए उसी मूलवस्तु को खण्ड-खण्ड होना होगा।

जो सर्वव्यापी विभु पदार्थ है वह चलेगा (गतिशील होगा) कहाँ और कैसे ? टुकड़े, अंश या अवयवों का हिलना-डुलना या अदल-बदल होने का अर्थ ही है वस्तु की अवस्था बदलना या परिणति। दूध जब दही होता है तब दूध की कणिकायें कुछ आगन्तुक कणिकाओं की सहायता से अपना स्थान अदल-बदल कर लेती हैं। इसे रासायनिक प्रक्रिया कहें या और जो भी कहें बात असल में यही है। जल जब हिम बनता है तब भी उसके कणों का नया विन्यास (re-arrangement) ही हो जाता है। हमारा खाया हुआ भोजन जो विभिन्न रस व रक्त आदि बनता है वहाँ भी प्रक्रिया मूलतः यही है।

एक वाक्य में कहें तो यह विश्व ठीक एक अखण्ड वस्तु ही होता तो इसमें चलना-फिरना, विविध परिणति की गन्ध भी न रहती—इसीलिए 'जगत्' (गच्छतीति जगत्) ही न होता। इसीलिए मैं कह रहा था कि मूल वस्तु को दानेदार रूप में अभिव्यक्त होना ही होगा। यह केवल युक्ति की बात नहीं है। परीक्षणों में भी हमेशा देखा जाता है कि हमारे अनुभव में आनेवाले कठिन, तरल और वायवीय पदार्थ सभी दानेदार हैं। पहले प्रवचनों में इसके अनेकों प्रयोग-सिद्ध प्रमाण दिखा चुके हैं। हमारा साधारण प्रत्यक्ष जहाँ हार मान जाता है, वहाँ विज्ञान अपने यन्त्रादि सामग्री और हिसाब की पोथी खोलकर बैठ जाता है।

इस क्षेत्र में भी विज्ञान—छोटे-से-छोटा—उससे भी छोटा—ऐसे खोजते-खोजते जिस पार्टिकल, मालिक्यूल, एटम, कार्पसल तक पहुँचा है, उसके समाचार हम पहले ही निवेदित कर चुके हैं। तड़ित् (electricity) भी दानेदार वस्तु सिद्ध हो चुकी है, उस दाने को ही कार्पसल नाम दिया गया है; एवं कार्पसल या इलॅक्ट्रान को रेडियमजातीय पदार्थ के तेजोविकिरण में से पकड़ा गया है—यह बात हमारे पाठकों में से बहुत से जानते ही होंगे। हमने अवश्य ही इस इलॅक्ट्रान को चरम सूक्ष्म वस्तु नहीं

माना है, हाँ, उस चरम सूक्ष्म को समझने की दिशा में इलॅक्ट्रान को शिष्ट समादृत प्रतीक या संकेत समझने में कोई दोष नहीं।

उस दिन मैंने कहा था, आज फिर कहता हूँ कि वेदमन्त्र में जो 'पांसु' या धूलि शब्द हम पा रहे हैं, उसका लक्ष्यार्थ यही इलॅक्ट्रान या इसके सदृश ही सूक्ष्म वस्तु है; यह कहना भी आधिभौतिक व्याख्या की ओर से ही है। आदित्य के किरण-जाल को उसके चरण मान लेना आसान है, किन्तु वे चरण फिर धूलिभरे हैं इसका अर्थ पाने के लिए गहराई से देखना होता है। किस प्रकार किस रीति से रश्मिजाल उत्पन्न होता है और सब ओर प्रसारित होता है। हमने विज्ञान की दृष्टि से उस दिन देखा था कि रश्मिजाल (radiation) दो प्रकार का है—दृष्ट और अदृष्ट (luminous and non-luminous); तड़ित् कण और कार्पसल ही इस radiation के मूल में हैं। बहुत सम्भव है कि इनकी ही वेद-मन्त्र में धूलि-कण रूप से कल्पना है। इसके बिना उस मन्त्र का सटीक और सहज अर्थ नहीं किया जा सकता।

इसके अलावा, दशम मण्डल से जिस 'धूलि' की बात मैंने सुनाई, वह भी क्या सामान्य धूल ही है? वह साक्षात् व्रज की रज है। व्रज यानी निखिल विश्व। देवताओं ने महान् उत्साह से नृत्य करके मानो व्रजवाम को धूलि-धूसरित कर दिया है—ऐसा भी एक वचन वेदमन्त्रों में है। उस ऋक् में पहले विश्वव्यापी जलराशि की बात है। उसके बाद महान् उत्साह से नृत्य की बात है। अन्त में धूल की बात है। विश्वव्यापी जल किसका संकेत है यह हमने देखा, किन्तु उसमें नृत्य वस्तुतः क्या है? एवं उस नृत्य के फलस्वरूप धूल उड़ी, इसका भी संकेत क्या है? पुनः कह दूँ कि इन प्रबन्धों में हम इनकी आधिभौतिक व्याख्या (physical interpretation) का ही प्रयास कर रहे हैं। तथा इससे अतिरिक्त अन्य किसी उच्च स्तर की कोई व्याख्या दी नहीं जा सकती या वह ऋषियों के मन में अन्तर्निगूढ़ नहीं रही होगी—ऐसा मैं बिल्कुल भी नहीं कहना चाहता। जो जैसे भी देखना चाहें देखें, समझें, परस्पर कलह न करें—यही हमारी उस दिन की एक बड़ी बात थी।

अच्छा, नृत्य या धूलि की आधिभौतिक व्याख्या क्या दूँ? मोटामोटी देखें तो यहाँ 'धूलि' शब्द विश्वव्यापी एक अखण्ड वस्तु में किसी प्रकार के 'दाने' 'रवे' की उत्पत्ति समझा रहा है, इतने में तो अब आपका सन्देह नहीं रहा होगा। ऐसा दाना या अंश न हो तो कहीं कोई चलना-फिरना नहीं हो सकता, सुतरां जगत् नहीं हो सकता यह पहले ही कह चुके हैं। उसे आप स्मरण रखियेगा। मान लीजिये, इस विश्वव्यापी एक अखण्ड वस्तु का कामचलाऊ प्रतिनिधि या प्रतीक है विज्ञान का ईथर, क्योंकि सलिल और ईथर को पूरी तरह मिला देना मैं नहीं चाहता। अब यह ईथर यदि अक्षुब्ध, अविकृत ईथर ही बना पड़ा रहे तो जगत् का जन्म नहीं हो सकता—जगत् की

सामग्री-रूपी अणु-परमाणु का आविर्भाव नहीं हो सकता। यह ऑक्सीजन का अणु है, वह हाइड्रोजन का अणु है, दोनों मिलने से जल का कण वन रहा है, ये अलग रहें तो निराकार वायु बनता है—यह सब कुछ हो ही नहीं सकता यदि ईथर अक्षुब्ध, निस्तरङ्ग, अखण्ड रूप से ही पड़ा रहे। ईथर-सागर में स्थान-स्थान पर केन्द्र बनाकर कुछ गोल-गोल चक्कर काटना या इसी प्रकार का कुछ न कुछ क्षोभ (strain) उत्पन्न होना चाहिये। प्रोफ़ेसर लारमर की भाषा में कुछ centres of intrinsic strain की आवश्यकता है। लारमर साहब के वचन पहले किसी दिन विस्तार से सुनाये थे कि atoms भी asub-toms या prime atoms के मसाले से बने हैं। बहुत सम्भव है कि ये प्राइम एटम ही ईथर में intrinsic strain या विक्षोभ के केन्द्र हैं।

Helmholtz और Lord kalvin जैसा समझते थे, उसके अनुसार प्राइम-एटम ईथर के मध्य चलनेवाले भँवर या आवर्त हैं। हम जिन्हें कार्पसल कहते आ रहे हैं वे स्वरूपतः शायद ईथर में किसी प्रकार के आवर्त ही हैं। जिन दो वैज्ञानिक धुरन्धरों का नाम मैंने लिया, वे लोग गणित में भी खूब प्रतिभा दिखा गये हैं। Hydrodynamics नामक मिश्र गणित के अत्यन्त कठिन विभाग को इन्हीं दोनों ने ठोक-पीटकर गढ़ा और विकसित किया है कहने में अत्युक्ति नहीं। इन्होंने गणित द्वारा दिखाया था कि ईथर ऐसी पक्की चीज (perfect fluid) है कि उसमें अलौकिक शक्ति के बिना आवर्त की उत्पत्ति हो नहीं सकती। किन्तु यदि किसी अनहोने कारण से उसमें आवर्त पड़ने लगें तो फिर इस द्रव्य के गुण से वह आवर्त नित्य ही बना रहेगा। लाठी घुमाकर खड़े पानी में भँवर उत्पन्न करना बड़ा सरल है, किन्तु वह चक्कर अधिक समय तक टिकता नहीं; क्योंकि जल-कणों में एक-दूसरे को रोक लेने की एक प्रवणता (friction) है। जल-कणों का गोल घूमना शुरू होते ही आसपास के जलकण मानों हाथ पकड़कर खींचकर उनका गतिरोध करना चाहते हैं। इस मेज पर एक पत्थर या काँच की गोली (खेलने का कंचा) लुढ़का दें तो वह भी कुछ दूर तक लुढ़ककर खुद ही रुक जायेगी, बहुत कुछ उक्त कारण से ही।

आवर्त (गोल चक्कर काटने) या दौड़भाग करने के प्रतिबन्धक उक्त हेतु को friction कहते हैं। इस हेतु की विद्यमानता के कारण ही न्यूटन के गति-सम्बन्धी पहले नियम (First law of motion) को हम प्रत्यक्षविरुद्ध मानकर उड़ा देना चाहते हैं। अस्तु, जो भी हो, ईथर तो जल जैसी वस्तु नहीं है। उसमें अगर एक कण बनकर नाचना आरम्भ करे तो उसके पड़ोसियों को उससे कोई आपत्ति नहीं होती, कोई भी हाथ पकड़कर रोकने के लिये नहीं आता। अंग्रेजी में जिसे Fluid कहते हैं उसे हम सलिल या 'अप्' कहते हैं। उसे ठीक जल नहीं समझियेगा। तो, ईथर इस प्रकार का

'सलिल' है जिसके दाने (रवा या कण) एक-दूसरे के शरीर पर ही, बिना किसी रोक-टोक के, बड़ी कोमलता से लुढ़कते-सरकते रह सकते हैं। स्वय वैज्ञानिकों का ही मूल-लक्षण उद्धृत करता हूँ—

"The fluid which offers absolute resistance to compression and no resistance at all to slide of its parts or the parts of which slip over each other, without anything of the nature of frictional action .... is turned a perfect fluid."

यह मानो 'चरम सलिल' या सलिल की 'निरतिशय मूर्ति' है। इस चरम सलिल में आवर्त सरलता से उत्पन्न नहीं होता। यदि कहीं आवर्त शुरू हो जाय तो फिर थमेगा नहीं, क्योंकि इसके कण परस्पर शरीरों पर कोमलता से लुढ़कते रह सकते हैं। यह केवल अनुमान की बात नहीं। गणितशास्त्र में इसका प्रमाण है। लार्ड केल्विन समझते थे कि अणु (Prime atoms) उक्त प्रकार के चरम सलिल (ईथर) में होना संभव नहीं, किसी अतिप्राकृत क्रिया द्वारा उत्पादित आवर्त या vortex ring ही उनका स्वरूप है।

P. G. Tail ने इनकी व्याख्या में लिखा है—"Thus, if we adopt Sir Willam Tomson's supposition that the universe is filled with something which we have no right to call ordinary matter (though it must possess inertia) but which we may not call a perfect fluid, then, if any portions of it have vortex a motion communicated to them, they cannot part with it; it will remain with them as a characteristic for ever or at least until the creative act which produced it shall take it away again. Thus this property of rotation may be the basis of all that to our senses appeals as matter."

ईथर में जो यह आवर्त है, उसको नाम दिया गया है Gyrostatic strain; हमारे नव-परिचित कॉर्पसल को चरम सलिल में gyrostatic strain समझने से बहुत सुविधा होगी। सर विलियम थॉम्सन (लार्ड केल्विन) ने रसायन-विद्या के atoms को ही उक्त चरमसलिल के आवर्त समझा था एवं उन atoms के अनेकों धर्म और व्यवहार की भी बहुत सुन्दर प्रकार से कैफियत हमारे सामने जुटा दी थी; किन्तु अब रसायन-विद्या के वे अणु टूट-फूटकर चूर-चूर हो गये हैं, और उनके भीतर कॉर्पसल या इलेक्ट्रान किस प्रकार गोल चक्कर काटते हुए नाच या घूम रहे हैं उसका विवरण 'माया नाच'[१४०] की छन्दोमञ्जरी के सहित सर विलियम के भाई Sir James Thompson ने सुनाकर हमें चकित कर दिया है।

किन्तु प्रश्न उठता है—ये कार्पसल भी क्या हैं ? सर विलियम के निर्देशानुसार चरम-सलिल में आवर्त-रूप ही इन्हें मान लेना ठीक है क्या ? कार्पसल अविनाशी हैं, अब तक उन्हें हम गढ़ या तोड़ नहीं पाये हैं। वे यदि perfect fluid में आवर्त रूप द्रव्य हों तो वे अमर होंगे ही। पहले ही कह चुके हैं कि हेल्महाल्ट्ज् और केल्विन ने गणित द्वारा यह प्रतिपन्न कर दिया है। उनकी उत्पत्ति या ध्वंस करने जायें तो कोई अलौकिक शक्ति या supernatural agency चाहिये—यह बात केल्विन ने निर्भय होकर कही है।

विज्ञान की ओर से तो मामला ऐसा ही है। अब जरा ऋग्वेद दशम मण्डल के मन्त्र पुनः पढ़कर देखिये, "देवता-गण महान् उत्साह से नृत्य करने लगे" इत्यादि; रूपक के पीछे क्या ठीक उसी प्रकार का तथ्य नहीं पकड़ा जाता ? लार्ड केल्विन का ईथर या perfect fluid वेद के विश्वव्यापी जल (चरम-सलिल) का प्रतीक है (प्रतीक ही कह रहे हैं, पूरा-पूरा मिला नहीं सकते)। देवताओं का नृत्य उसी कारण-सलिल में आवर्त या rotational strain उत्पन्न कर रहा है। 'देव' शब्द द्वारा एक ऐसी चेतना-शक्ति कही जा रही है जो केल्विन की Supernatural agency के समान चरम-सलिल में आवर्त उत्पन्न करने में समर्थ है।

"देवताओं के महान् उत्साह में नृत्य के फलस्वरूप मानो धूलि-राशि उत्पन्न हुई"—इस धूलिराशि को विज्ञान के कार्पसल या प्राइम एटम का प्रतीक नहीं समझा जा सकता क्या ? विज्ञान जो कह रहा है वेद भी वही कह रहे हैं कि चरम-सलिल में अनिर्वचनीय चेतनशक्ति की क्रिया द्वारा घूर्णन (चक्कर काटना) उत्पन्न हो रहा है; अवश्य ही यह ठीक घूर्णन ही है या और किसी प्रकार की क्रिया है यह स्पष्ट निश्चित कहना अभी भी सम्भव नहीं हुआ है, किन्तु सम्भवतः वह घूर्णन ही है; उसीके फलस्वरूप चरम-सलिल में मानों स्थान-स्थान पर विषम (heterogeneous) अवस्था होकर दाने (कण) बँधते जा रहे हैं; ये कण (corpuscles) ही देवताओं के महानृत्य से उठी हुई सब ओर फैली हुई धूल हैं। इसी धूल से ही जगत् का 'माटी का तन' बना है। यह धूल न मिले तो विश्व-महाव्रज व्रज ही नहीं बनता।

यह आधिभौतिक व्याख्यान (physical interpretation) क्या आप लोगों के लिये कष्ट-कल्पना ही रहा ? 'विश्वव्यापी जल', 'देवताओं का नृत्य' एवं 'धूलि' ये बातें क्या हमें किसी गूढ़ रहस्य का सङ्केत नहीं दे रही हैं ? ऐसे किसी रहस्य का आभास न मिले तो, मुझे लगता है कि केवल एक ऋक् ही क्यों, वेद के बहुत से स्थलों के अभिप्राय समझने में ही हमें अनर्थक शब्दजाल फैलाकर या फिर 'यह नहीं वह नहीं' कहते हुए ही सरका देना पड़ेगा।

●

ग्यारह

सोम और तड़ित्

जिस ऋक् का अर्थ-विचार हमने पहले निबन्ध में किया, उसीके बाद की ऋक् है—"मेघसमूह की भाँति देवताओं ने समस्त भुवन को आच्छादित किया।" इसका अभिप्राय क्या है ? भेड़ों के झुण्ड की तरह देवता सारे संसार में बिखर रहे हैं—यह सुनने पर मेरे मन में तो उन्हीं बालखिल्यों के तैजस विग्रह या Corpuscles की बात ही उठती है। अवश्य ही विज्ञान ने अभी तक उन वामन-अवतारों में चैतन्य-शक्ति की प्रतिष्ठा नहीं की है, अर्थात् विज्ञान ने अभी यह कहने का साहस नहीं किया है कि Corpuscles चित्-शक्ति द्वारा ही उत्पादित और संजीवित हैं। चैतन्य की बात उठाने में विज्ञान अभी भी बड़े संकोच में पड़ा रहता है। किन्तु ऋषि लोग अन्य प्रकार से देखते व सोचते थे कि चैतन्य ही इस विश्व के आदि में, मध्य में और अन्त में है। जहाँ जड़ है वहीं, उसीमें, उसका अभिमानी चैतन्य भी है—ऐसी बात पश्चिम के दार्शनिक स्पिनोजा आदि कह गये हैं, तब भी विज्ञान अभी उन बातों को पूरी सम्मति देने को प्रस्तुत नहीं हुआ है। इसीलिये वेद की बात को विज्ञान की भाषा में कहने जायँ तो हमें अपेक्षित पर्याप्त सूत्र-समूह हाथ आते हैं।

वेद कहता है कि देवताओं ने मेघसमूह के समान समस्त भुवन को आच्छादित किया; और विज्ञान कहता है—Strain forms are fleeting through the sea of ether—अर्थात् ईथर सागर में ह्रस्व-काय मूर्ति-विशेष इतस्ततः दौड़ रही हैं, कार्पसल तैरते हुए घूम रहे हैं। विज्ञान वेद की ही बात अन्य प्रकार से कह रहा है। विज्ञान के पुरोहितों ने अभी तक अपने विग्रहों में प्राणप्रतिष्ठा नहीं की है, इसीलिये उनके विग्रह अभी भी देवविग्रह या देवता नहीं बने हैं। बस, वहीं पर वेद की बातों और विज्ञान की बातों में अन्तर है। वेद और विज्ञान की बात कहने की शैली बहुधा भिन्न है, किन्तु शैली अलग होने पर भी वक्तव्य विषय में अधिकतर बहुत समता है। वेद ने रूपक द्वारा देवताओं के समस्त विश्व में व्याप्त होने को बात कही; विज्ञान भी जब electrons के प्रवाह (stream) या अभियान की बात कहता है, तब भेड़ों के समूह की न सही, सेना की उपमा तो प्रायः देता ही है। वेद streams of radiation आदि कहने में बहुत समय घोड़ा, गाय, भेड़, हरिण के समूहों की उपमा देता है। ये पशु इन्द्र, आदित्य, अग्नि, मरुद्गण आदि देवताओं का रथ खूब अच्छी तरह चलाते हैं।

इन घोड़ा आदि से रथ खिंचवाना ऋषियों के लिये रूपक था, उन सब रूपकों में से वे अन्तःप्रकृति और बाह्यप्रकृति के अनेकों रहस्यों का परिचय हमें देना चाहते थे, इसमें सन्देह नहीं।

आदित्य के 'हरित्' नामक अश्वों का कितना ही बखान हुआ है,—सुन-सुनकर लगता था कि ऋषि लोग वास्तव में ही सूर्य को रथ पर बैठाकर घुड़दौड़ करा रहे हैं। किन्तु बीच में १।१५२।५—ऋक् में फिर यह क्या सुनते हैं—"आदित्य के कोई अश्व नहीं, प्रग्रह भी नहीं, तब भी वे अतिशीघ्र गतिशील हैं"—इत्यादि। तो फिर रथ की बात, अश्वों की बात सब रूपक ही हैं! अवश्य ही इन बातों में कोई रहस्य छिपा हुआ है। ऐसे ही, वेद के अनेकों उपाख्यानों के मूल में प्राकृतिक या आध्यात्मिक रहस्य निहित हैं यह भलीभाँति समझा जा सकता है।

१।६।५ ऋक् कहती है, "हे इन्द्र! दृढ़ स्थानों के भेदक (तोड़नेवाले) एवं वहनशील मरुद्गणों के साथ तुमने गुहा में छिपाई हुई गायों के समूह का अन्वेषण करके उद्धार किया था, उन्हें बाहर निकाला था।" वेद में उपाख्यान है (कई स्थलों पर विशेष रूप से १०।१०८ सूक्त में) कि पणि नामक असुरों से देवलोक से गायें चुरा लाकर अन्धकार की गुफा में छिपाकर रखी थीं। इन्द्र ने मरुतों के साथ जाकर उन्हें बाहर निकाला था। गायों का पता खोजने के लिये इन्द्र ने सरमा को नियुक्त किया था। कहानी मोटामोटी ऐसी ही है। मैक्सम्यूलर आदि ने इस कहानी की जो प्राकृतिक व्याख्या दी है, वह भी बिल्कुल उपेक्षायोग्य तो नहीं है। वे कहते हैं—

"The bright cows, the rays of the Sun or the rain clouds, for both go by the same name, have been stolen by the powers of darkness, by the Night and her manifold progeny. Gods and men are anxious for their return; but where are they to be found? They are hidden in a dark and strong stable or scattered along the ends of the sky, and the robbers will not restore them. At last in the farthest distance the first signs of Dawn appear, she peers about and runs with lightening quickness, it may be like a hound after scent across the darkness of the sky. She is looking for something and following the right path. She has found it; she has heard the lowing of the cows."

इससे यह स्थिर हुआ कि इस प्रसङ्ग में पणि है रात्रि का अन्धकार, देवताओं की गायें हैं सूर्य की रश्मियाँ, रात्रि के अन्धकार ने सूर्य की रश्मियों को हरण करके

छिपा लिया है; सरमा है उषा, वह आकर चुराई हुई सूर्यरश्मियों की खोज में निकली है। इन्द्र है आलोक या प्रकाश का देवता।

मैक्सम्यूलर और भी कहना चाहते हैं कि ग्रीक महाकवि होमर ने जो "ट्राय का युद्ध" लिखा है उसके कथानक के मूल में भी यही वैदिक उपाख्यान और यह प्राकृतिक रहस्य है—"The siege of Troy is but a repetition of the daily siege of the east by the solar powers that every evening are robbed of their brightest treasures in the west. The siege in its original form is the constant theme of the hymns of the Veda."

सरमा ही ग्रीस देश में 'हेलेना' बनी है और पणि 'पैरिस' बने हैं—ऐसे-ऐसे मैक्सम्यूलर के अनुमान शायद कुछ ठीक ही हैं, किन्तु अभी हम उन विचारों में प्रवृत्त नहीं होंगे। ऋ० १०।९५ सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा की कथा है, शायद वहाँ भी उर्वशी उषा है और पुरूरवा सूर्य हैं, उषा और सूर्य के प्रणय की बात ऋग्वेद में बहुधा सुनने को मिलती है।

इन्द्र ने वज्र द्वारा वृत्र को मारा—यह कथा भी ऋग्वेद में बहुत बार उल्लिखित है; यह भी सम्भवतः किसी प्राकृतिक रहस्य का ही रूपक द्वारा वर्णन है। इन सब उपाख्यानों का वास्तविक मर्म या अभिप्राय क्या है इसकी चर्चा हम अभी नहीं करेंगे; किन्तु जो बात मैं कहना चाह रहा हूँ वह यह है कि—वेद ने बहुधा रूपकों में से अथवा कहानियों द्वारा हमें प्राकृतिक विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान के रहस्य सुनाये हैं। ये कोरी कहानी नहीं, और कहानी समझकर इन्हें उड़ा देना उचित नहीं। कहानी का तात्पर्य समझने का सूत्र भी बहुत बाद वेद में ही दिया हुआ है। सतर्कता से उन सूत्रों को चुन लेना होगा।

इसी कारण हम कहते हैं कि वेद और विज्ञान की प्रतिपादन-शैली में ही अन्तर है, मूल-बातें एक ही हो सकती हैं।

यह तो हुई वैदिक रूपक, उपाख्यान आदि की बात। जहाँ रूपक या कहानी नहीं,—जैसे कि सोमरस की बात, यज्ञ की बात,—वहाँ भी मन्त्र का मर्म ठीक समझना हो, तो हमें एक बात अवश्य ही स्मरण रखनी होगी कि ऋषि सचमुच ही यज्ञ करते थे एवं सोमरस पान करते थे इसमें सन्देह नहीं; यज्ञ और सोमरस का गुण-कीर्तन उनके लिये बहुत स्वाभाविक है, किन्तु, यज्ञ, सोमरस इत्यादि को भी 'प्रतीक' (Symbol) रूप से लेकर उन्होंने अनेकों प्राकृतिक व आध्यात्मिक रहस्य समझ लिये हैं एवं समझा दिये हैं—यह भूलने से वेद पढ़ना पशु-श्रम ही होगा।

किसी स्थूल अति-परिचित बात को आलम्बन बनाकर उसीके सहारे किसी

सूक्ष्म, सरलता से प्रतीत न होनेवाली वस्तु को समझने और समझाने की चेष्टा हमारे ऋषियों और शास्त्रकारों को बहुत प्रिय थी, ऐसा प्रतीत होता है। स्थूल रूप से ऊपर से ही समझने की कोशिश करने में दोष नहीं। मान लो, सोम किसी लता-विशेष का रस निचोड़कर ही निकाला जा रहा है, उसी रस के द्वारा यज्ञ में अभिषेक हो रहा है,—इत्यादि। किन्तु बस इतना ही मानकर बैठ जाने से काम नहीं चलेगा। वेदमन्त्रों का तात्पर्य यहीं समाप्त नहीं हो गया है। और भी गहराई से देखना-समझना होगा। गहराई में जाने के लिए संकेत वेद में ही प्राप्य हैं। गहराई में समझना ही उद्देश्य हो, तो पहले ऊपर से आरम्भ किया जाता है।

सोम एक व्यापनशील, तेजोमय एवं तेजस्कर पदार्थ का प्रतीक (Symbol) है—यह हम पिछली बार दो-एक ऋचाओं का उद्धरण देकर दिखा चुके हैं। तात्पर्य यह कि उसे केवल किसी लता का रस समझने से ऋषियों का अभिप्राय नहीं समझा जा सकता। जहाँ भी सोम का उल्लेख है वहाँ पर 'दीप्यमान', 'उज्ज्वल', 'दीप्त' ऐसा कोई न कोई तेजस् का वाचक विशेषण प्रायः अवश्य पड़ा हुआ है। इसके अलावा उस दिन १।९१वें सूक्त की ४, २२वीं ऋचायें उद्धृत करके सुनाई थीं कि सोम एक ऐसी वस्तु है जिसका तेज द्युलोक में, पृथ्वी में, पर्वतों में, ओषधियों में एवं जल में भी है, उस तेज ने सब ओषधियों की, वृष्टि के जल की एवं गायों की सृष्टि की है; जिसने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को विस्तीर्ण बनाया है एवं उसके अन्धकार को ज्योति द्वारा दूर किया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर सोम सम्भवतः सर्वव्यापी प्राण या इसी प्रकार का कुछ है; ऊपर-ऊपर से स्थूल दृष्टि से यह समझ में नहीं आता। आधिभौतिक रूप से देखने पर यह वही इलॅक्ट्रान या कार्पसलों की सचल (free), व्यापनशील, स्पन्दनशील (mobile) अवस्था है, ऐसा मुझे लगता है। उज्ज्वल सोमबिन्दु की बात मन्त्रों में ही मिलती है। विज्ञान के मत से इलॅक्ट्रान बद्ध और मुक्त दोनों अवस्थाओं में वर्तमान हैं। वेद की उस विवृति को इन सूक्ष्म तैजस पदार्थों के साथ अनायास ही लगाया जा सकता है। विज्ञान भी कहता है कि ये atoms of electricity द्युलोक में, पृथ्वी में, पर्वतों में, ओषधियों में, जल में—सर्वत्र ही वर्तमान हैं; कोई परस्पर बँधे हुए गृहस्थी चला रहे हैं; और कोई संन्यासियों की तरह मुक्त स्वाधीन रूप से पूरे ब्रह्माण्ड में चाहे जहाँ विचरण करते हुए घूम रहे हैं। इसीलिये वेद की १।९१।४ ऋक् सुनकर विज्ञान कहेगा—"तथास्तु, मेरी सर्वव्यापी तड़ित् के कण तुम्हारे दिये हुए लक्षणों को मानकर चलने को प्रस्तुत हैं।"

इसके बाद उसी सूक्त की २२वीं ऋक् लें। Electrons ने अभी भी पाँव

पीछे नहीं लौटाये हैं। जुगनू की भाँति, सुना है कि ओषधियों में भी रात्रि में एक प्रकार की दीप्ति (चमक,—glow, phosphorescence) होती है। कालिदास ने इन्हीं ओषधियों के आलोक की किसी नैसर्गिक विशेष आलोक के प्रदीप-रूप से कल्पना की है। Sir Oliver Lodge कहते हैं कि "जुगनुओं में सम्भवतः एक ऐसी शक्ति होती है जिसके द्वारा वे अपने शरीर के electrons को आलोक उत्पन्न करने के काम में लगा सकते हैं। ऐसी ही कोई व्यवस्था ओषधियों में भी रहना विचित्र नहीं है। इसीलिये ओषधियों में भी व्याप्त जिस सोम की बात तुमने कही वह वस्तुतः ये तड़ित्-कण ही हैं।" —यह विज्ञान द्वारा एक व्याख्या है। उसके बाद वेद कहते हैं, सोम ने वृष्टि का जल उत्पन्न किया है। विज्ञान कहता है, हमारे electron की भी यही बात है। जब वर्षा में बूँदें गिरती हैं तब वे अन्तरिक्ष में सञ्चरण करते रहनेवाले electric charges को जमाकर खींच लाती हैं। केवल यही नहीं, अर्थात् वर्षा की बूँदें गगन के तड़ित्-कण-राशि को वहा लाती हों यही नहीं, तड़ित्-कण ही वृष्टि-बिन्दु को प्रसव करते हैं। आकाश में विद्युत्कण (ion) को केन्द्र बनाकर ही जलीय वाष्प घनीभूत होकर मेघ के दाने बाँधती हैं। इसी रहस्यमय नैसर्गिक प्रक्रिया को वैदिक ऋषियों ने मेघ या जल की गर्भरचना कहा है। इस बात को हम विशेष विस्तार से देखेंगे। अभी देखिये कि 'सोम वृष्टि की रचना करता है' इस बात की व्याख्या विज्ञान ने यही की कि विद्युत्-कण वृष्टि-विन्दु के घनीभाव-केन्द्र (centre of condensation) बनकर उसे जमाते हैं।

उसके बाद वेद ने कहा है—सोम ने गायों की सृष्टि की है। 'गो' शब्द वेद में अधिकतर रश्मि (radiation) का रूपक है। मान लीजिए, यहाँ भी वही है। ऐसा हो तो विज्ञान कहेगा—मैं भी ठीक यही तो कहना चाहता हूँ। तुम्हारा सोम यदि विद्युत्कण बनने को राजी हो तो फिर वही सभी प्रकार के रश्मि-विकिरण (radiation) के मूल में है इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता। उस दिन सबके आदि (आरम्भ) में सप्तरश्मि या सप्तच्छन्दः को समझते समय हमने इस सम्बन्ध की विज्ञान की आधुनिक मतधारा सुनी ही थी।

इसके बाद वेद कहते हैं—"हे सोम! तुमने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को विस्तीर्ण किया है।" यह सुनकर भी विज्ञान कहेगा—"हाँ, सच ही ऐसा ही है।" अन्तरिक्ष का अर्थ यदि एक वस्तु और दूसरी वस्तु के मध्य का अन्तर या दूरी या व्यवधान समझो, तो electrons ही परस्पर ठेलमठेल करके संसार के सभी पदार्थों को (यहाँ तक कि मौलिक्यूल या एटम आदि को भी) यहाँ-वहाँ दूर-दूर स्थापित करके रखे हुए हैं, नहीं तो सब एक ही जगह इकट्ठे जुट जाने से कैसे क्या काम चलता, इसकी कल्पना कठिन

है। सभी वस्तुयें एक ही जगह जुटकर नहीं जमी हैं, सबके शरीर-हाथ-पाँव फैले हुए हैं और गति कर सकते हैं, इसका अर्थ है कि उनके बीच में अन्तराल रूप से अन्तरिक्ष है; और इस अन्तरिक्ष को बनाये रखा है सर्वव्यापी electricity के कणों की ठेलमठेल ने ही।

यदि "electricity" इस म्लेच्छ नाम से आपको आपत्ति हो तो वेद की भाषा में उसे अग्नि कह सकते हैं। स्मरण रखना होगा कि आध्यात्मिक और आधिदैविक दृष्टि से अग्नि जो भी हो, आधिभौतिक (physical) दृष्टि से अग्नि वही विभु पदार्थ है जिसकी अभिव्यक्ति जगत् में विभिन्न रूपों में होने पर भी विज्ञान जिसे electricity कहता है, किन्तु जिसकी नब्ज़ (nature) की पकड़ विज्ञान को अभी भी नहीं है।

अन्तरिक्ष का जो अर्थ विज्ञान ने किया वह श्रुतिसम्मत है, यह ऋ० १०।८२।१ ऋक् सुनकर आप भी मान लेंगे।—"उस सुधीर पिता (विश्वकर्मा) ने उत्तम दृष्टि करके, मन में सम्यक् कल्पना व विचार करके जलरूप आकृतिवाले परस्पर मिश्रित इन द्यावापृथिवी की रचना की।.... उसके बाद द्युलोक एवं भूलोक पृथक् हो गये।" विश्वकर्मा ने सृष्टि के आरम्भ में जो कर्म किया, उससे जल के समान सतत (अखण्ड, continuous) एक वस्तु बनी; वही हमारी पूर्व-चर्चित अखण्ड वस्तु है। द्यावापृथिवी उसके गर्भ में निवास करते हैं; किन्तु अभी वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं हुए हैं।

विश्वकर्मा को यदि प्रजापति दक्ष कहें तो अदिति हैं दक्ष की पुत्री। केवल पुराणों ने हमें यह कहानी नहीं सुनाई है; १०।७२।५ ऋक् कहती है—"हे दक्ष ! जिस अदिति ने जन्म लिया है वह तुम्हारी कन्या है।" अदिति की महिमा हम बाद में और अच्छी तरह सुनेंगे। अब देखिये कि मूल में है एक अखण्ड वस्तु; उसके बाद वह अखण्ड मानो दो भागों में विभक्त हुई, तब वे दो वस्तुयें (जिनका सङ्केत द्यौ एवं पृथिवी है) एक-दूसरे से पृथक् हो गई। यह दोनों का पृथक् होना ही अन्तरिक्ष है।

अवश्य ही मैं आधिभौतिक रूप से ही समझना-समझाना चाह रहा हूँ। इन दो की जो लोग पुरुष-प्रकृति कहते हुए व्याख्या करें उनसे भी मेरा कोई विरोध नहीं, किन्तु यहाँ मेरी इस चर्चा का स्तर अभी उतना ऊँचा नहीं है। द्यौ एवं पृथिवी ये दोनों केवल प्रतिनिधि-स्थानीय हैं। जो कोई भी दो वस्तुयें परस्पर एक-दूसरे को व्यावृत्त करके दूर हटाती हैं उन्हींके प्रतिनिधि हैं द्यौस् एवं पृथ्वी। यदि दो electrons एक-दूसरे को धकेलते हुए दूर रखें तो वे ही द्यौः एवं पृथ्वी हैं, और उनके मध्य की दूरी अन्तरिक्ष है। एक positive charge और एक negative charge एकत्र मिल जायँ, तो द्यावापृथिवी की सम्मिलित अवस्था होगी। यह मानो अभिभूत या अव्यक्त अवस्था

है—neutral state। मेरे सामने पड़े इस मेज में संयोग-तड़ित् और वियोग-तड़ित् दोनों ही अवश्य विद्यमान हैं, किन्तु परस्पर को अभिभूत किये हुए हैं, इसीलिये विद्युत् इसमें वर्तमान रहते भी सुप्त है, गुप्त-अव्यक्त है। जिस तार में से होकर आती हुई विद्युत् इस काँच के भीतर आलोक प्रकट कर रही है, उस तार में वह केवल सुव्यक्त ही नहीं, यदि कोई बेकायदा उसे स्पर्श करे तो प्राण भी निकाल ले सकती है। इस तार में electrons सेना की भाँति द्रुत वेग से दौड़ रहे हैं। इस हिसाब से, लकड़ी के मेज में द्यावापृथिवी मानो सम्मिलित हैं, तार में वे दोनों पृथक् हैं।

द्यावापृथिवी की बात आगे फिर कहेंगे, देखेंगे कि श्रुति द्वारा प्राप्त परिचय के अनुसार वे निखिल जगत् के माता-पिता कैसे हैं? •

बारह

अदिति, इन्द्र और वृत्र

पदार्थ-समूह की अभिव्यक्ति में मोटामोटी तीन स्तरों की हम कल्पना कर सकते हैं। मूल में या आदि में एक अव्यक्त (undifferentiated) अवस्था है। यह अखण्ड और विभु-अवस्था है। यही कारणसमुद्र या अदिति है। ऋ० १०।१९० सूक्त में जो "ततः समुद्रोऽर्णवः" की बात कही गई है, वही कारणवारि है। मनु आदि के स्मृतिशास्त्रों में तथा पुराणों में इसी समुद्र से ही सृष्टि का आरम्भ किया जाता है। इसके बाद की एक प्रायः द्विधाकृत (differentiated) अव्यक्त अवस्था है। जैसे चने के भीतर दो दाने सम्मिलित रूप में रहते हैं, बहुत कुछ वैसी ही यह अवस्था है। यही सम्मिलित द्यावापृथिवी हैं। इसके बाद वे दोनों पृथक्-पृथक् दूर हो गये। एक ने दूसरे को अपने आलिङ्गन में से मुक्त करके दूर हटा दिया। यह जो सुस्पष्ट पृथक् होना या व्यवधान है, वही अन्तरिक्ष है।

अन्तरिक्ष शब्द की मर्मवाणी अभी और नहीं सुनेंगे। अब देखिये—"सोम ने अन्तरिक्ष को विस्तीर्ण किया है"—यह वेदवाणी सुनकर विज्ञान भी क्या सम्मति नहीं दे देगा—यदि मैं विज्ञान को उसकी अपनी अभिज्ञता और मतवाद के अनुसार ही 'सोम' और 'अन्तरिक्ष' को समझ लेने की अनुमति दे दूँ? हमने सोम-सम्बन्धी केवल दो मन्त्र लेकर विज्ञान से समझौता किया था। फलस्वरूप पाया था कि ऋषि सोम को केवल लता-विशेष का रस ही नहीं समझते थे; उस लता के रस को प्रतीक रूप में लेकर जिस सर्वव्यापी तेजोमय वस्तु को पकड़ने की आकांक्षा करते थे उसीकी कम-से-कम एक मूर्ति है विज्ञान का इलेक्ट्रान।

पुनः कहता हूँ कि यह आधिभौतिक स्तर की व्याख्या है। वेदविद्या केवल आधिभौतिक स्तर में परिसमाप्त नहीं है; वैसा समझने से बड़ी मूर्खता होगी। दूसरी ओर फिर केवल आध्यात्मिक या आधिदैविक व्याख्या देकर निश्चिन्त होना भी निखिल ज्ञान के आश्रय वेद के प्रति अविचार, अनौचित्य होगा। 'निखिल ज्ञानाश्रय' का अर्थ भी कट्टरता से न लीजियेगा।

जो भी हो, वेद में सोमरस सचमुच का कोई रस होने पर भी एक बहुत बड़े रहस्य के प्रतीक या सङ्केत के रूप में स्थान-स्थान पर कीर्तित हुआ है। केवल सोम ही नहीं, यज्ञ के सम्बन्ध में भी यही बात है। सचमुच का क्रियात्मक यज्ञ भी अवश्य ही

था; किन्तु 'यज्ञ' शब्द से ऋषि केवल स्थूल यज्ञ ही नहीं समझते थे। ऋ० १०।८१वें सूक्त के दो-एक मन्त्र सुनिये—"वह कौनसा वन है ? किस वृक्ष का काष्ठ है, जिससे द्युलोक एवं भूलोक का गठन हुआ है ? हे विद्वद्गण ! आप लोग एक बार अपने-आप-को पूछकर देखिये कि विश्वकर्मा किसके ऊपर खड़े होकर ब्रह्माण्ड धारण करते हैं ? हे विश्वकर्मा ! तुम्हारे जो उत्तम, मध्यम और अधम धाम हैं, यज्ञ के समय उनके विषय में मुझे बताइये। तुम अपने-आप यज्ञ करके अपना शरीर पुष्ट करते हो। चारों ओर सब लोग निर्बोध हैं। इन्द्र हमें बुद्धिस्फूर्ति दें।" विश्वकर्मा द्युलोक-भूलोक में सर्वत्र जो यज्ञ करके अपना शरीर पुष्ट कर रहे हैं, वह यज्ञ विश्वयज्ञ है, उसे समझने लायक बुद्धि इन्द्र ने हममें स्फूर्त नहीं की है क्या ? उसी विश्वयज्ञ को समझने के लिये ही स्थूल और सूक्ष्म यज्ञ का प्रतीक है।

इन्धन जलाकर यज्ञ होता है, किन्तु ऋषि पूछ रहे हैं—कौन बतायेगा, द्युलोक और भूलोक में जो यज्ञ अविरत चल रहा है, उसका इंधन क्या है और किस वन से काष्ठ-संग्रह किया गया है ? ऋ० १०।८८।१ क्या कहती है, सुनिये—"हमारे पिता वे ऋषि हैं, जो विश्वभुवन में हवन करने बैठे थे; जिन्होंने धन की कामना करके पहले आये हुए व्यक्ति-समूह को आच्छादित करके बाद में आये हुए व्यक्तियों के बीच उनका अनुप्रवेश कराया था।" उन प्राचीन ऋषि और उनके उस प्राचीन यज्ञ की बात समझना चाहने पर क्या हमारे अङ्ग रोमाञ्चित नहीं हो उठते हैं ?

'धन' की बात भी रूपक है इस पर दृष्टि रखियेगा। बहुत से वेद-मन्त्रों में 'धन' की बात है; उसे केवल 'धन-दौलत' न समझियेगा। धन अभ्युदय का सङ्केत-मात्र है। उसके बाद 'अन्न' की बात आती है। वह भी एक प्रतीक ही है। ऋ० १।४६।६ कह रही है—"हे अश्विद्वय ! जो ज्योतिर्मय अन्न अन्धकार का विनाश करके हमें तृप्ति देता है, वही अन्न हमें प्रदान करो।" यह अन्न क्या दाल-भात-रोटी-मक्खन है ? मूल में 'ज्योतिष्मती' और 'तमस्तिरः' ये दो पद हैं। सायणाचार्य ने सीधे-सीधे अन्न-पक्ष में ही इसका अर्थ कर दिया है कि "ज्योतिः'—अर्थात् आहार की रस-वीर्यादिरूप ज्योति; तमस्—अर्थात् दारिद्र्यरूपी अन्धकार। किन्तु उक्त मन्त्र पढ़कर स्वतः ही मन में नहीं आता क्या कि इसका अर्थ और भी गम्भीर स्तर में खोजना होगा ? आध्यात्मिक व्याख्या तो है ही—उसके अतिरिक्त विज्ञान की ओर से भी अन्न का अर्थ है—शायद ऐसे सब radiation जो आहार करने पर, अर्थात् अपने भीतर खींच लेने पर वाक्, काय और मन—इस त्रिविध धातु का मल-अंश कटकर सत्त्व-स्फूर्ति होती है।

सूर्य के अनेक radiations रोगों के बीजाणु ध्वंस करके शरीर को स्वास्थ्य दे सकते हैं। रेडियम-जातीय पदार्थ जो तेजोविकिरण करते हैं, वह तेज आँख से न

दिखाई देने पर भी, शरीर पर उसकी क्रिया बहुधा कल्याणप्रद है। X-ray आदि नाना प्रकार के जो सब अदृश्य radiation हैं, उनकी भी इसी प्रकार से परीक्षा होना आवश्यक है।

तात्पर्य यह कि आहार का अर्थ यहाँ ऊपरी तौर पर बाहर से वस्तुओं के तेजोमय सार का संग्रह करना है। विद्युत्-स्नान (electric bath) से रोगों की चिकित्सा हो रही है—तो हम इस प्रकार के वैदिक तैजस आहार की बात सुनकर हँसें क्यों? विज्ञान की ओर से देखने पर अन्न एवं आहार, ये दोनों absorption of radiation के ही विशेष या प्रकारभेद हैं—यह सूक्ष्म तथ्य वेदमन्त्रों में प्रच्छन्न रूप से रक्षित है ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए 'ज्योतिष्मती' 'तमस्तिरः' आदि को केवल घी-दूध के तेज में परिणत करके छोड़ देने से कैसे काम चलेगा?

प्रतीक की बात आज और नहीं कहेंगे, किन्तु स्मरण रखियेगा कि वेद में जल, अग्नि, सूर्य, वायु, सोम, मरुत्—इन सभी को केवल स्थूल रूप से नहीं देखा गया है। स्थूल रूप से देखने पर (अर्थात् साधारण जल, वायु, अग्नि, वर्षा आदि समझने पर) मन्त्र का सुसङ्गत, सुन्दर और सहज अर्थ नहीं निकल पाता। मान लीजिये, जल को लें। १०।१११।८वीं ऋक् कहती है—"इन्द्र की आज्ञा से जो जल चालित हुए (चलने को प्रेरित किये गये) वे सर्वप्रथम जलराशियाँ बहुत दूर गईं थीं। उन जलों का अग्रभाग कहाँ है? मस्तक कहाँ है? हे जल-गण! आप लोगों का मध्यस्थान और चरमस्थान कहाँ है?"—इस वर्णन से क्या वह साधारण जल प्रतीत होता है? जिस कारण-सलिल या चरम-सलिल की बात हम पहले से ही कहते आ रहे हैं, वही अनिर्वचनीय सलिलराशि ही क्या इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से लक्षित नहीं हो रही है?

और भी देखें।—"हे इन्द्र! वृत्र जब जलराशि को ग्रास कर रहा था, तब तुमने उन्हें मुक्त किया, तभी जल सर्वत्र वेग से दौड़ पड़े।"—यहाँ तो शायद ऐसा एक अर्थ जोड़ दे सकते हैं कि वृत्र एक ऐसी शक्ति है जो मेघ के जल-बिन्दुओं को परस्पर संहत होकर वृष्टि-बिन्दुओं (raindrops) में परिणत नहीं होने देती; मेघ के कणों को यह विच्छिन्न किये हुए है। इन्द्र ने विद्युत्रूपी वज्र द्वारा उन कणों को संहत कर दिया। ऐसा इन्द्र का कार्य वृत्र के कार्य से विपरीत है। यही है कि इन्द्र ने वज्र द्वारा वृत्र का वध करके वृष्टि होने का पथ खोल दिया।—ऐसा यह अर्थ सटीक है। इसमें सन्देह नहीं, किन्तु मेघ की इस प्रक्रिया को एक प्राकृतिक विपुल रहस्य का सङ्केत समझे बिना शायद ऋषियों के प्रति अन्याय ही होगा।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आदिम महामेघ (cosmic cloud) से इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। यह महामेघ का रहस्य ही इस वृत्र-संहार-काव्य का अभिप्राय

है। महामेघ का अर्थ केवल Nebula नहीं समझियेगा। वह 'रात्रि' या Primordial chaos—जो सृष्टि-प्रक्रिया का मूल समझी जा सकती है—वही हमारा 'मेघ' है। Sir J. J. Thomson ने इस विषय में क्या कहा है, सुनिये—"The primordial chaos is filled with corpuscles, in positive and negative pairs scattered throughout space. By mutual forces, due to the accompanying strains in the ether, they attract each other, and produce mutual acceleration."—इत्यादि। क्रमशः वे कार्पसल दलवद्ध होकर रासायनिक एटम, मौलिक्यूल आदि गढ़ देते हैं।

मूल में जो अवस्था है उसीको संकेत में कहा गया है मेघ। सबसे पहले उसी विश्वव्यापी मेघ में कॉर्पसल युग्म या जोड़े-जोड़े बनकर दौड़-भाग रहे हैं। एक जोड़ा दूसरे जोड़े की कोई परवाह नहीं करता। उनमें परस्पर कोई संहति नहीं है। जिस कारण से संहति नहीं है उस कारण का नाम है वृत्र। जैसे साधारण मेघ के दानों को परस्पर संहत होकर वारिबिन्दु बनने से रोक रहा है वृत्र, उसी प्रकार वही प्राचीन कारण-मेघ के ताड़ित्-मिथुनों को भी संहत होकर एटम, मॉलिक्यूल, जल, वायु, अग्नि आदि नहीं बनने दे रहा है—यह भी वृत्र ही है। किसी उपाय से वे जोड़े परस्पर समीप आकर एकजुट न बनें तो जैसा जगत् दिखाई दे रहा है वह बन नहीं सकता।

केवल गति से ही जगत् नहीं बन जाता, गति में छन्द भी होना चाहिये। ग्रह-उपग्रह आदि यदि छन्दोबद्ध रूप से न घूमकर चाहे जैसे चलते-फिरते तो परस्पर टकराकर कब्र के 'पञ्चत्व-प्राप्त' कर गये होते। इन्द्र गति में छन्द एवं शृंखला ला देते हैं। अथवा जिस अनिर्वचनीय कारण से सभी गतिशीलों में शृंखला व छन्द आया है और आता है, उस कारण को ही चेतन मानकर उसका नामकरण किया गया इन्द्र।

और अधिक विस्तार करने का आज समय नहीं है, किन्तु मेघ, विद्युत्, वृत्रसंहार—इन सभी बातों को बहुत बड़े निगूढ़ जागतिक (cosmic) रहस्यों का संकेत समझना चाहिये, ऐसा मुझे लगता है। वृत्र के सम्बन्ध में जितनी ऋचायें हैं, उनकी सूक्ष्म पर्यालोचना करने से आप सबको भी ऐसा ही लगेगा।

जो भी हो, अन्ततः यही स्थिर हुआ कि जल को सर्वदा साधारण जल समझने से काम नहीं चलेगा। जिस जल को 'महेरणाय चक्षसे' हम प्रार्थना करते हैं, 'उशतीरिव मातरः' जिस जल से उसके शिवतम रस की हम याचना करते हैं—वह निश्चय ही सामान्य जल नहीं है।

जो बात जल के सम्बन्ध में है, वही अग्नि आदि के सम्बन्ध में भी है। अग्नि को भी केवल साधारण जलने-जलानेवाली आग समझने से किसी तरह काम नहीं चलता। अनेकों ऋचायें उद्धृत करके दिखाया जा सकता है कि अग्नि निखिल भूतों में, यहाँ तक कि जल में भी निगूढ़ रूप से स्थित है; अग्नि अजर-अमर है। हम जिसे आग कहते हैं वह उसी विश्वव्यापी अग्नि या तेजस् की ही स्थूल अभिव्यक्ति है। उस अग्नि की भी भलीभाँति पूजा हमें करनी होगी, आज केवल इङ्गित से ही बात कही है।

इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु, मरुत्, रुद्र आदि बहुतों के विविध वर्णन देखकर हम वेद में बहुदेववाद न समझ बैठें। एक ही अखण्ड, विभु, मौलिक वस्तु को अनेकों प्रकार से देखने-समझने की चेष्टा की गई है इन विविध देवताओं में से। स्थूल दृष्टि से इन्द्र, अग्नि, वायु आदि को कितना ही विभिन्न, स्वतन्त्र क्यों न समझें किन्तु वेदमन्त्रों को पूरी गहराई तक, तल तक जाकर समझने पर अन्ततः एक ही मूल उत्स का आविष्कार किये बिना हम नहीं रह सकते। उसी मूल उत्स का नाम है अदिति। वे सब देवताओं की माता हैं। उनसे थोड़ा-सा ऊपरी परिचय हमारा हुआ है। उनकी सन्तानों की कीर्तिगाथा ही वेद है, इसलिये उन सन्तानों की तलाशी जरा धीरे-धीरे आदर-भाव से ही लेनी होगी।

आज हम शायद केवल दो कार्य कर पाये हैं। पहला—वेद के रूपक, उपाख्यान आदि की अच्छी तरह तलपर्यन्त पर्यालोचना करके परखने से उनके भीतर अनेकों निगूढ़ तथ्यों, रहस्यों का स्पष्ट आभास हमें प्राप्त हो सकता है—यह बात प्रमाण-दृष्टान्तसहित विवृत करने का प्रयत्न किया गया। अभिप्राय यह कि केवल 'सरल व्याख्या' से सब जगह काम पूरा नहीं होता। वेद में एक-आध जगह वह सरल व्याख्या उपयुक्त बैठने पर भी, अन्य स्थलों पर वह तुच्छ हो जाती है। किसी एक सूक्त में सोम को लता का रस कहकर काम चला ले सकते हैं, पर और पाँच सूक्तों में उसी सोम के सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी बातें मिलेंगी कि फिर किसी भी तरह उसे लता के रस के रूप में छोटा करके रखा नहीं जा सकेगा। अग्नि, जल आदि के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है।

यह सब देखकर स्वभावतः मन में आता है कि मन्त्र-द्रष्टाओं की दृष्टि की दौड़ स्थूल वस्तुओं को ऊपरी तौर पर सामने रखते हुए भी स्थूल में सीमाबद्ध नहीं थी। स्थूल को, व्यक्त को, प्रतीयमान को, प्रतीक रूप से लेते हुए वे ऋषि सूक्ष्म, अव्यक्त, अप्रतीयमान को पकड़ना-समझना चाहते थे। यही भारतवर्षीय दृष्टि है।

मूर्त्तिमान् ज्ञानराशि-स्वरूप साधु-संन्यासियों के चरणों में बैठकर हमने सुना

हैं कि वे भी विविध प्रकार की सभी की परिचित स्थूल वस्तुओं द्वारा ही हमें भीतर की गूढ़ सूक्ष्म बातें समझा देना चाहते हैं। दक्षिणेश्वर के परमहंसदेव निश्चय ही ज्ञान में शिशु नहीं थे। उन्होंने सूक्ष्म, स्थूल, मध्यम अनेकों प्रकार के उपदेश दिये, किन्तु उपदेश देने की पद्धति या रीति वही सनातन, वेद-पुराणों में प्रसिद्ध, भारतवर्षीय पद्धति ही थी—बाहर के स्थूल दृष्टान्त से भीतरी सूक्ष्म रहस्य को समझाने का प्रयास।

साहब-पण्डित (पाश्चात्य) इतनी-सी बात समझते नहीं, इसीलिए वेद में अनेकों स्तरों की कल्पना करते हैं। कहते हैं कि शुरू के ऋग्वेद में ऋषि लोग शिशु हैं, उनकी बातें भी छोटे बच्चों जैसी हैं, बाद में ज्यों-ज्यों बुद्धि कुछ-कुछ विकसित होने लगी त्यों-त्यों बातें भी कुछ सुसङ्गत, स्पष्टार्थ, मार्जित और गम्भीर कहने लगे। आरम्भ में बहुदेववाद और स्थूल की उपासना ही है; एक ही इन्द्र-अग्नि, विश्वकर्मा या पुरुष में सभी देवताओं की पूर्णाहुति देना, मन्त्रों में आध्यात्मिक रहस्य प्रकाशित करना यह सब वेद का प्राचीन स्तर नहीं, अर्वाचीन स्तर है। वेद में जहाँ भी गूढ़ बातें दिखाई दें, उस मन्त्र या स्थल को या उस अर्थ को अर्वाचीन मान लेना—यही है साहब-पण्डितों की वेद-व्याख्यान-पद्धति। वेद को शिशु समझकर, इसीको अपना मतवाद (theory) मानकर ही उन लोगों ने वेद की व्याख्या में हाथ लगाया है। उनकी दृष्टि में वेद ढेर-सारे मन्त्रों का एक स्तूप-भर ही है। उनमें कुछ थोड़ी-बहुत ऐतिहासिक धारा (historical development) शायद है भी, किन्तु उन्हें एक केन्द्र, एक लक्ष्य के आश्रय में एक शृंखला में बाँधते हुए व्यवस्थित सजाया नहीं जा सकता, अर्थात् उनमें एक system नहीं है। पाँच जनों की पाँच तरह की बातें,—बेहिसाब ही होंगी। जिसने जैसा समझा, वैसी रचना कर दी।—यही विलायती मत है।

इस 'theory' का भूत कन्धे पर चिपका रहे तो सभी कुछ धूल-मिट्टी हो जायेगा, हमारी श्रेयस्करी वेदविद्या व्यर्थ या भयङ्करी हो जायेगी। यह तो हुई आज की एक बात। दूसरी बात यह हुई कि वेद के मर्म का पीछा किया जाय तो सात अन्धों की तरह अपनी-अपनी बात को ही एकमात्र सत्य मानकर लट्ठमलट्ठा करने से काम नहीं चलेगा। मैंने एक आधिभौतिक (physical) व्याख्या दी है, इसलिए और ऊपर के स्तरों की व्याख्याओं को 'तुच्छ' कहने का कोई कारण नहीं। मैं केवल इतना-सा देखना चाह रहा हूँ कि आजकल के विज्ञान के अभिनव सूत्र हाथ में लेकर वेद-मन्दिर के किस-किस गुप्त प्रकोष्ठ में हम प्रवेश पा सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं जिस-जिस अंश में प्रविष्ट हो पाऊँगा बस केवल उन्हीं अंशों में वेद का पूरा रहस्य भरा है। यह बात मैं आपको बारम्बार सुनाता आ रहा हूँ। तथा आधिभौतिक व्याख्या (physical interpretation) भी कट्टर (rigid) रूप से देना मेरा अभीष्ट नहीं

है। इसलिए आगे चलकर विज्ञान के ईथर, इलॅक्ट्रॉन को लेते हुए कुछ मोटामोटी (approximate) विवृति या व्याख्यान चल सकते हैं, इतना ही मेरा आग्रह है।

विज्ञान की ओर से भी पक्का सिद्ध वैज्ञानिक बन वैठने से मेरा निर्वाह नहीं होगा, क्योंकि जितना भी वड़ा वैज्ञानिक हो, वह सर्वदा साधक ही रहता है, उसे हमेशा नये सिरे से आरम्भ करने के लिए प्रस्तुत रहना होगा। कुछ समय पहले लोग सुनकर हँसते थे, अब स्वयं French Academy घोषणा कर रही है कि जो कोई इस वर्ष अन्य किसी ग्रह के साथ हमारी पृथ्वी का वार्तालाप चलाने का कोई विहित उपाय निकाल सकेगा उसे एक लाख का पारितोषिक दिया जायेगा।

"अपरं वा किं भविष्यति"

(इससे बढ़कर आशा की और क्या बात होगी ?)

तेरह

अदिति और दिति का रहस्य

विज्ञान की दृष्टि से वेद का व्याख्यान करने में हमें जिस प्रणाली से चलना होगा उसके दो-एक नमूने देकर समझाने की चेष्टा मैंने की है। अदिति, इन्द्र, अग्नि, सोम—इन सबके सम्बन्ध में वेद में जितनी ऋचायें हैं, उनका सीधा-सीधा अर्थ सब जगह करना सम्भव नहीं, एवं विशेष ध्यान देकर देखने पर उनमें से किसी-किसीमें ऐसी-ऐसी बातें स्पष्ट या प्रच्छन्न रूप से कही हुई मिलती हैं जिन बातों पर टीका लिखना काशीधाम में बैठकर आजकल उतना सम्भव नहीं, जितना कि पश्चिम की केवेण्डिश Laboratory में बैठकर लिखा जा सकता है। इस बात को आप सतर्क होकर सुनियेगा। मैं मैक्सम्यूलर, रॉथ, वेबर आदि पश्चिम देश के गवेषणा-पन्थी पण्डितों द्वारा वेद की टीका लिखवाने की फरमाइश नहीं कर रहा हूँ, वैसी टीकायें तो गाड़ियाँ भरी हुई लिखी जा चुकी हैं। मैंने उनमें से जो एक-आध पढ़ी हैं उससे वैसी टीकाओं के प्रति मेरी श्रद्धा नहीं जगी। यहाँ तो मैं नवीन विज्ञान की नवीन ही परीक्षा व चिन्तनधारा में एक बार पूरा अवगाहन करके वेद के खास-खास अंशों की टीका लिखने की बात आपसे कह रहा हूँ।

पश्चिम देशों की ज्ञानधारा में अवगाहन कर लेने भर से ही ईसाई हो जाने की आशङ्का अब नहीं है। फलतः मेरा कहना यही है कि नव्य विज्ञान की आजकल की बही एक बार पढ़े बिना बहुत से वैदिक रहस्य हमारे लिये पहेली ही रह जायेंगे अथवा असम्बद्ध प्रलाप समझे जाकर उपेक्षित होंगे, नहीं तो फिर 'सरल व्याख्या' का 'मुष्टि-योग'[१४१] भयावह हो उठेगा। बहुत सी ऋचाओं में ऐसी दो-एक बातें हैं, अथवा बातें इस ढंग से कही गई हैं कि उनका तात्पर्य एवं उस शैली की सार्थकता समझने जायें तो नवीन विज्ञान के गिरजाघरों में एक-आध बार हमें प्रवेश करना ही होगा। कहना न होगा कि इससे हमारी आस्तिकता पतित नहीं होगी।

पहले अनेक बार वेद के विभिन्न स्थलों से मन्त्र उद्धृत करके एवं वैज्ञानिक दृष्टि से उनका मर्म सामने लाने की चेष्टा करके, आशा है हम वेद और विज्ञान के मामले में व्यर्थ की गड़बड़ बहुत कुछ रोक सके थे। यह बात भी मैं आपको बहुत बार सुना चुका हूँ कि केवल पदार्थ-विद्या (Physical science) की दृष्टि से ही वेद को समझना है—ऐसी बात नहीं, वेद को समझने के अनेकों स्तर हैं। श्रीमान् हीरेन्द्रबाबू

ने कहा है—संगीत में जैसे सप्तसुर, तीन ग्राम हैं, वैसे ही वेदार्थ की उपलब्धि में भी अनेकों स्तर हैं। पदार्थ-विज्ञान की ओर से दी गई व्याख्या आधिभौतिक हैं; उस व्याख्या को हटा देने से किसी प्रकार का भी काम नहीं चलेगा, विशेष रूप से इस युग में, जब कि विज्ञान हमारे विश्वास पर इतना अधिक कब्जा कर चुका है। हाँ, उसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक स्तरों की व्याख्या हैं।

साथ ही साथ आप यह भी नहीं भूलियेगा कि मैं जो वैज्ञानिक व्याख्या आपकी पत्तल में परोस रहा हूँ वह साक्षात् अमृत नहीं है, अतः आँख मूँदे गले के नीचे उतार लेने की वस्तु नहीं है। मैं तो ऐसी व्याख्या का एक मोटामोटी प्राथमिक नक्शा ही आपके सामने रख रहा हूँ। आप देख-सुनकर, संशोधन, पूरण, परिवर्जन आदि कर लीजियेगा। एक नई दिशा में आपका चिन्तन चलने लगे तो अच्छा हो—बस, इतना ही आपसे मेरा अनुरोध है।

वेद-विषयक विचार-चर्चा कर रहा हूँ इसलिए मेरा वाक्य वेदवाक्य नहीं हो जायेगा। मैं वैज्ञानिक नहीं। हाँ, विज्ञान की दो-चार बातें सुन पाता हूँ। उन्हें सुनकर मेरे मन में आता है कि इन बातों के द्वारा हमारे वेद का कौनसा अस्पष्ट अंश प्रकाशित हो रहा है? बहुत-सी टेढ़ी बातें वस्तुतः सरल हो जा रही हैं या नहीं?—देखें तो! आवश्यकता पड़े तो परीक्षा के लिये भी उतरना होगा। केवल विज्ञानागार में बात पूरी न बने तो सिद्धाश्रम की यात्रा भी करनी पड़ सकती है। मैं आप लोगों को भी साथ ले जाना चाहता हूँ। इस बीसवीं शताब्दी में वायुयानों के भैरव-गर्जन के नीचे बैठकर फिर उन्हीं पुराने मन्त्रों के अनुध्यान और उद्यापन करने के कार्य को जो लोग बङ्गाली मस्तिष्क का पागलपन या सनक समझ रहे हैं, मेरे उन हितैषी बन्धुओं से कहियेगा मेरे लिये कुछ मध्यमनारायण तेल तैयार करवा रखें। खैर, जो भी हो, हमारी चर्चा आगे बढ़ती रहे। आज के लिये पूर्वाभ्यास इतना ही रहे।

अदिति देवमाता हैं। इसीसे आरम्भ किया था। उन अदिति की मूर्ति ऐसे कुहरे से घिरी है कि जिस कुहरे को हमारी बुद्धि, विवेचना, कल्पना भी काट नहीं पा रही है। वे सृष्टि के मूल में अखण्ड, अपरिच्छिन्न वस्तु हैं। 'अव्यक्तादीनि भूतानि' कहकर जिस वस्तु को भगवान् ने अर्जुन को आभासरूप से ही परिचय दिया था, अदिति वही वस्तु है। विज्ञान का ईथर उसी अव्यक्त, अखण्ड, विभु पदार्थ का मोटे तौर पर प्रतिनिधि या प्रतीकभर, है यह हम पहले ही कह आये हैं। यही वह अव्यक्त पदार्थ है जिसने तैंतीस कोटि देवताओं को गर्भ में धारण किया है एवं अभी भी गोद में धारण किये हुए हैं; उसके सम्बन्ध में वेद ने भी पहेली की भाषा में ही बातें कही हैं। इसके अतिरिक्त अदिति की और कोई विवृति देना सम्भव नहीं।

ऋ० १०।७२।४ में कहा है—"अदिति से दक्ष ने जन्म लिया, फिर दक्ष से अदिति ने जन्म लिया।" मजे की बात है न! अदिति माँ होकर भी कन्या या पुत्री हैं। वहाँ ५वीं ऋक् भी कहती है—"हे दक्ष, जिस अदिति ने जन्म लिया है, वह तुम्हारी कन्या है।" इस रहस्य को कौन खोलेगा? केवल यही नहीं, और भी बहुत जगह श्रुति ने पहेली की भाषा कही है। १०।५४।३ ऋक् कहती है—"हे इन्द्र! हमसे पहले भी किस ऋषि ने तुम्हारी अखिल महिमा का अन्त पाया था? तुमने अपनी देह से अपने माता-पिता को एक साथ उत्पन्न किया था।" पिता-माता हैं द्यावापृथिवी। ऐसी ही मजेदार वातें और भी बहुत हैं। जिस "श्रेणी" (series) की बात हम पहले बहुत बार कह आये हैं, उसे स्मरण न रखने से इन पहेलियों का ओर-छोर कुछ नहीं मिल सकता।

जो अदिति माँ हैं, वे अवश्य चरमा या परमा अदिति हैं—The continuum in the limit—वही निरतिशय अखण्ड विभु पदार्थ है जो कि निखिल द्रव्यों व क्रियाओं का आश्रय है। वह पदार्थ है क्या?—चित् या चैतन्य। एकमात्र चैतन्य में ही निखिल जगत् चल रहा है। चैतन्य पृथक् वस्तु है और देश (space) पृथक् है, काल (time) पृथक् है, क्षिति, अप् इत्यादि भूत भी पृथक्-पृथक् हैं—ऐसा भेद व्यावहारिक ही है अर्थात् काम चलानेवाला भेद ही है। स्वरूपतः चैतन्य के बाहर या पृथक् कुछ भी रह सकने का कोई प्रमाण नहीं है। चैतन्य ने ही आकाशरूप से जड़जगत् को रह सकने का स्थान या अवकाश दिया है। फिर चैतन्य ही कालरूप से जगत् को एक प्रवाहरूप में प्रवाहित कर रहा है। हम न जानें तो यह सब कुछ भी नहीं है।

इस चैतन्य को एक परिच्छिन्न साढ़े तीन हाथ के देह के नाप में काटकर हम सोचते हैं कि चैतन्य के 'इलाके' (क्षेत्र) के बाहर एक प्रकाण्ड अनात्मीय जगत् पड़ा हुआ है। इसी तरह आप सब दस-बीस-पचास लोग मुझसे बाहर पृथक् हैं, मिट्टी, पानी, हवा, आकाश मुझसे बाहर है, किन्तु सचमुच ही यह सब बाहर है यह किसने कहा? हम क्यों सब कुछ बाहर समझते हैं इसकी कैफियत देने की सामर्थ्य हममें नहीं। किन्तु ऐसा समझे बिना व्यवहार नहीं चलता, संसार ही रुक जाता है। किन्तु व्यवहार में जो भी हो, वास्तव में तो चैतन्य के भीतर ही सब-कुछ है। इस बात का विस्तार यहाँ नहीं बढ़ायेंगे। अवश्य ही इस चैतन्य को ही श्रुति ने कहा है—ब्रह्म, आत्मा, चिदाकाश। उस दिन छान्दोग्य से जो 'ज्यायान्' और 'परायण' आकाश की बात सुनी थी, वह यही चिद्रूप आकाश है। हम जिसे आकाश समझते हैं, अथवा विज्ञान जिसे ईथर समझता है वह आकाश या ईथर चिदाकाश की ही मूर्तिविशेष है। कोई बिल्कुल अलग वस्तु नहीं है। श्रुति उस प्रकार के द्वैत की विरोधिनी है। व्यवहार की बात छोड़ दें

ने कहा है—संगीत में जैसे सप्तसुर, तीन ग्राम हैं, वैसे ही वेदार्थ की उपलब्धि में भी अनेकों स्तर हैं। पदार्थ-विज्ञान की ओर से दी गई व्याख्या आधिभौतिक है; उस व्याख्या को हटा देने से किसी प्रकार का भी काम नहीं चलेगा, विशेष रूप से इस युग में, जब कि विज्ञान हमारे विश्वास पर इतना अधिक कब्जा कर चुका है। हाँ, उसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक स्तरों की व्याख्या हैं।

साथ ही साथ आप यह भी नहीं भूलियेगा कि मैं जो वैज्ञानिक व्याख्या आपकी पत्तल में परोस रहा हूँ वह साक्षात् अमृत नहीं है, अतः आँख मूँदे गले के नीचे उतार लेने की वस्तु नहीं है। मैं तो ऐसी व्याख्या का एक मोटामोटी प्राथमिक नक्शा ही आपके सामने रख रहा हूँ। आप देख-सुनकर, संशोधन, पूरण, परिवर्जन आदि कर लीजियेगा। एक नई दिशा में आपका चिन्तन चलने लगे तो अच्छा हो—बस, इतना ही आपसे मेरा अनुरोध है।

वेद-विषयक विचार-चर्चा कर रहा हूँ इसलिए मेरा वाक्य वेदवाक्य नहीं हो जायेगा। मैं वैज्ञानिक नहीं। हाँ, विज्ञान की दो-चार बातें सुन पाता हूँ। उन्हें सुनकर मेरे मन में आता है कि इन बातों के द्वारा हमारे वेद का कौनसा अस्पष्ट अंश प्रकाशित हो रहा है? बहुत-सी टेढ़ी बातें वस्तुतः सरल हो जा रही हैं या नहीं?—देखें तो! आवश्यकता पड़े तो परीक्षा के लिये भी उतरना होगा। केवल विज्ञानागार में बात पूरी न बने तो सिद्धाश्रम की यात्रा भी करनी पड़ सकती है। मैं आप लोगों को भी साथ ले जाना चाहता हूँ। इस बीसवीं शताब्दी में वायुयानों के भैरव-गर्जन के नीचे बैठकर फिर उन्हीं पुराने मन्त्रों के अनुध्यान और उद्यापन करने के कार्य को जो लोग बङ्गाली मस्तिष्क का पागलपन या सनक समझ रहे हैं, मेरे उन हितैषी बन्धुओं से कहियेगा मेरे लिये कुछ मध्यमनारायण तेल तैयार करवा रखें। खैर, जो भी हो, हमारी चर्चा आगे बढ़ती रहे। आज के लिये पूर्वाभ्यास इतना ही रहे।

अदिति देवमाता हैं। इसीसे आरम्भ किया था। उन अदिति की मूर्ति ऐसे कुहरे से घिरी है कि जिस कुहरे को हमारी बुद्धि, विवेचना, कल्पना भी काट नहीं पा रही है। वे सृष्टि के मूल में अखण्ड, अपरिच्छिन्न वस्तु हैं। 'अव्यक्तादीनि भूतानि' कहकर जिस वस्तु को भगवान् ने अर्जुन को आभासरूप से ही परिचय दिया था, अदिति वही वस्तु है। विज्ञान का ईथर उसी अव्यक्त, अखण्ड, विभु पदार्थ का मोटे तौर पर प्रतिनिधि या प्रतीकभर, है यह हम पहले ही कह आये हैं। यही वह अव्यक्त पदार्थ है जिसने तैंतीस कोटि देवताओं को गर्भ में धारण किया है एवं अभी भी गोद में धारण किये हुए हैं; उसके सम्बन्ध में वेद ने भी पहेली की भाषा में ही बातें कही हैं। इसके अतिरिक्त अदिति की और कोई विवृति देना सम्भव नहीं।

ऋ० १०।७२।४ में कहा है—"अदिति से दक्ष ने जन्म लिया, फिर दक्ष से अदिति ने जन्म लिया।" मजे की बात है न! अदिति माँ होकर भी कन्या या पुत्री हैं। वहाँ ५वीं ऋक् भी कहती है—"हे दक्ष, जिस अदिति ने जन्म लिया है, वह तुम्हारी कन्या है।" इस रहस्य को कौन खोलेगा? केवल यही नहीं, और भी बहुत जगह श्रुति ने पहेली की भाषा कही है। १०।५४।३ ऋक् कहती है—"हे इन्द्र! हमसे पहले भी किस ऋषि ने तुम्हारी अखिल महिमा का अन्त पाया था? तुमने अपनी देह से अपने माता-पिता को एक साथ उत्पन्न किया था।" पिता-माता हैं द्यावापृथिवी। ऐसी ही मजेदार बातें और भी बहुत हैं। जिस "श्रेणी" (series) की बात हम पहले बहुत बार कह आये हैं, उसे स्मरण न रखने से इन पहेलियों का ओर-छोर कुछ नहीं मिल सकता।

जो अदिति माँ हैं, वे अवश्य चरमा या परमा अदिति हैं—The continuum in the limit—वही निरतिशय अखण्ड विभु पदार्थ है जो कि निखिल द्रव्यों व क्रियाओं का आश्रय है। वह पदार्थ है क्या?—चित् या चैतन्य। एकमात्र चैतन्य में ही निखिल जगत् चल रहा है। चैतन्य पृथक् वस्तु है और देश (space) पृथक् है, काल (time) पृथक् है, क्षिति, अप् इत्यादि भूत भी पृथक्-पृथक् हैं—ऐसा भेद व्यावहारिक ही है अर्थात् काम चलानेवाला भेद ही है। स्वरूपतः चैतन्य के बाहर या पृथक् कुछ भी रह सकने का कोई प्रमाण नहीं है। चैतन्य ने ही आकाशरूप से जड़जगत् को रह सकने का स्थान या अवकाश दिया है। फिर चैतन्य ही कालरूप से जगत् को एक प्रवाहरूप में प्रवाहित कर रहा है। हम न जानें तो यह सब कुछ भी नहीं है।

इस चैतन्य को एक परिच्छिन्न साढ़े तीन हाथ के देह के नाप में काटकर हम सोचते हैं कि चैतन्य के 'इलाके' (क्षेत्र) के बाहर एक प्रकाण्ड अनात्मीय जगत् पड़ा हुआ है। इसी तरह आप सब दस-बीस-पचास लोग मुझसे बाहर पृथक् हैं, मिट्टी, पानी, हवा, आकाश मुझसे बाहर है, किन्तु सचमुच ही यह सब बाहर है यह किसने कहा? हम क्यों सब कुछ बाहर समझते हैं इसकी कैफियत देने की सामर्थ्य हममें नहीं। किन्तु ऐसा समझे बिना व्यवहार नहीं चलता, संसार ही रुक जाता है। किन्तु व्यवहार में जो भी हो, वास्तव में तो चैतन्य के भीतर ही सब-कुछ है। इस बात का विस्तार यहाँ नहीं बढ़ायेंगे। अवश्य ही इस चैतन्य को ही श्रुति ने कहा है—ब्रह्म, आत्मा, चिदाकाश। उस दिन छान्दोग्य से जो 'ज्यायान्' और 'परायण' आकाश की बात सुनी थी, वह यही चिद्रूप आकाश है। हम जिसे आकाश समझते हैं, अथवा विज्ञान जिसे ईथर समझता है वह आकाश या ईथर चिदाकाश को ही मूर्तिविशेष है। कोई बिल्कुल अलग वस्तु नहीं है। श्रुति उस प्रकार के द्वैत की विरोधिनी है। व्यवहार की बात छोड़ दें

तो हमारे अनुभव में भी पृथक्-पृथक् वस्तुयें मानने की आधारभूत कोई भित्ति नहीं मिलती। चरम आधार खोजने पर तो जो चैतन्य है वही अपेक्षाकृत छोटे रूप में आकाश, काल एवं ईथर है।

जिस श्रेणी (series) का सर्वोच्च स्तर (limit) चिदाकाश है, उसीका निचला स्तर आकाश या ईथर है। यदि आधार वस्तु को चरम समझें तो वह होगी अदिति— जिसे वेद माँ कह रहे हैं, यही साक्षात् चिन्मयी या चैतन्यरूपिणी है। विज्ञान अभी भी 'space' और 'ether' को लिये पड़ा हुआ है, किन्तु आकाश और ईथर को भी गोद में लिये हुए हैं जो चिन्मयी अदिति, उसका सन्धान विज्ञान को अभी तक नहीं मिला है। आकाश सीधा है कि टेढ़ा, ईथर है या नहीं, इन सब बातों के विषय में विज्ञान की आँखों पर घूँघट नहीं है, किन्तु जिस अदिति के मुख की ओर देखने पर समस्त 'संशय छिन्न' हो जाते हैं, समस्त 'ग्रन्थियाँ भिन्न' हो जाती हैं, समस्त अध्रुव ध्रुव हो जाते हैं, उसी अदिति के सम्बन्ध में विज्ञान की आँखों पर अभी बड़ा-सा घूंघट बँधा है। आकाश और ईथर अन्त तक चेहरा बदलते हुए कैसे ठहरेंगे ? क्या उनका अन्तिम रूप होगा ? यह अभी कोई नहीं कह पा रहा है।

किन्तु इस जानने में,—चैतन्य के भीतर ही सब-कुछ है,—इसमें भी कोई तर्क या सन्देह है क्या ? आपके तर्क और सन्देह भी तो 'ज्ञान' के भीतर ही हैं। क्या एक रेखा खीचकर बता सकेंगे कि यहाँ तक ही ज्ञान का क्षेत्र है, उसके बाहर जो है वह अज्ञात है ! अपनी ही छाया को स्वयं लांघने के प्रयास के समान ही चैतन्य के बाहर किसी वस्तु को फंकने का प्रयास सर्वथा व्यर्थ होगा। यह बात चर्चा बढ़ाकर समझाने की नहीं है, आप अपने अनुभव के साथ इस बात को मिलाकर देख लीजियेगा।

यह जो छिन्न न होनेवाला चैतन्याकाश है वही परमा अदिति है, एवं यही विश्व-भुवन का आश्रय और गति है। दिति शब्द 'दित्' धातु से बना है यह हम पहले ही कह चुके हैं। व्यवहार चलाने के लिये इस छेदहीन चैतन्य या आत्मा को मानो काट-काटकर टुकड़ों में बाँट लेते हैं। इन टुकड़ों के क्षेत्र परस्पर स्वतन्त्र हैं। मेरे बाहर तुम हो, तुमसे बाहर वह है—इस प्रकार। ऐसा न हो तो परस्पर का व्यवहार नहीं चलता। यह व्यवहार बिल्कुल आरम्भ में चला ही कैसे ? एवं ऐसा व्यवहार चलने का प्रयोजन क्या है यह तो मैं नहीं कह सकूंगा, वह अनिर्वचनीय है।

नाना शङ्काओं में कार्यात्मक रूप से व्यवहार चल ही रहा है—असङ्ख्य जीवों में परस्पर बहुविध संयोग-वियोग हो रहा है, ऐसा होने के लिये अवश्य एक से दूसरी वस्तु को किसी न किसी प्रकार पृथक् होना आवश्यक, अपेक्षित है। मूलाधार वस्तु अर्थात् चेतना यदि छेद-हीन अखण्ड हो तो अदिति है और उसीके मध्य विभिन्न

सीमायें या क्षेत्र आते ही वह बन जाती है दिति। ऋ० १०।५५।१ कह रही है—"तुम्हारा वह शरीर दूर है। मनुष्य पराङ्मुख होकर उसका गोपन कर रहे हैं।" कठश्रुति कहती है—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू" अर्थात् व्यवहार चलाने की हमारी दृष्टि आत्मा के स्वरूप में स्थिर न होकर बाहर ही दौड़ रही है, एवं भीतर तथा बाहर के बीच एक सीमारेखा खड़ी कर रही है। इसीके फलस्वरूप अदिति की विपुल काया हमारी दृष्टि से मानो छिपती जा रही है। हम विपुल को विपुल रूप में नहीं पहचान रहे हैं, नहीं देख रहे हैं।

वह काया किस प्रकार की विपुल है, उसका वैदिक विवरण सुनिये—"तुम्हारे उस गोपनीय शरीर ने जो विस्तीर्ण स्थान व्याप्त किया है, वह अत्यन्त विपुल है। उसके द्वारा तुम भूत-भविष्यत् की सृष्टि करते हो। जो-जो ज्योतिर्मय वस्तु उत्पन्न करने की तुम्हारी इच्छा हुई, वह सब प्राचीन वस्तुयें उसीसे उत्पन्न हुईं।" ऋ० १०।५५।२ में कहा है—"इन्द्र ने अपने शरीर से द्यावापृथिवी एवं मध्यभाग समस्त आकाश पूर्ण किया।" ऋ० १०।५५।३ तथा १०।१२१।७ में कहा है—"भूरि परिमाण जलों ने समस्त भूमि को आच्छन्न किया था। उन जलों ने ही गर्भ धारण करके अग्नि को उत्पन्न किया; उसीसे देवताओं के जो एकमात्र प्राणस्वरूप हैं, वे उत्पन्न हुए। हम किस देव की हवि द्वारा पूजा करें ?" वहीं ९वीं ऋक् कहती है—"जो पृथ्वी के जन्मदाता हैं, जिसकी धारणक्षमता अप्रतिहत है, जिसने आकाश को जन्म दिया, जिसने आनन्द बरसानेवाले भूरि-परिमाण जल को उत्पन्न किया है।" इत्यादि।

इन सब मन्त्रों में देवता के जिस विग्रह की महिमा हमें सुनाई जा रही है, वह काया हमारे प्रति छिपी हुई है। वह मूर्ति साक्षात् स्वप्रकाश चैतन्य है तो क्या हुआ, वह देश विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है तो भी क्या, हम तो संसार में आकर उसकी दिशा ही खो बैठे हैं। उसका वर्णन सुनने से हमें आश्चर्य होता है, आत्मा की खबर सुनकर लगता है कोई अद्भुत बात सुन रहे हैं। आत्मा अपनी ही आँखों पर ऐसी घनी पट्टी न बाँध लेता, विराट् होते हुए भी वामनरूप में न सज जाता, तो यह संसार-व्यवहार नहीं चलता, इसे अभी और खोलकर कहने की आवश्यकता है क्या ? अच्छा, अपने चलते व्यवहार में से दो-एक दृष्टान्त देता हूँ।

रात में आप निर्मेघ आकाश की ओर देख रहे हैं। मैंने पूछा, क्या देखा ? आपने उत्तर दिया—वह बड़ा तारा देखा। किन्तु सचमुच क्या आपने वह एक तारा ही देखा ? आकाश का बहुत सा भाग आपकी आँख के सामने आया, पर तब भी आपने देखा एक बड़ा तारा। अवश्य ही वह एक तारा हीं शायद आपके विशेष अन्वेषण का विषय रहा होगा और उसे ही आपने विशेष रूप से देखा। उसके साथ ही जो और

दस-पाँच वस्तुयें आपने देखीं, उनमें आपका वैसा अटकाव नहीं था, इसीलिये उनका देखना भी 'न देखने' में शामिल हो गया। किसी भी वस्तु को विशेष रूप से देखने जायँ तो यह पक्षपात करना ही पड़ता है। जो कुछ भी देखते हैं, उस समस्त को स्वीकार करने से काम नहीं चलता। उसमें से चुन लेना पड़ता है। इस प्रकार चुन लेने के लिये हमारे भीतर जो व्यवस्था है, उसीका नाम मनःसंयोग है। रास्ता-घाट चलते-फिरते भी देखने-सुनने का विषय चुन लेना पड़ता है। बिना किसी पक्षपात के सब कुछ देखने-सुनने जायँ तो इस कलकत्ता की सड़कों पर क्षणभर में मोटर का धक्का लग जायेगा।

बगीचे में बैठे हैं। आप पूछें, क्या सुन रहे हैं ? मैं उत्तर दूँगा—उस आम्रवृक्ष की मुकुल-मञ्जरियों के बीच काले रंग की जो कोयल नववसन्त का गान सुना रही है, उसीको सुन रहा हूँ। विरही न होने पर भी मेरा मन इस समय उस कोकिल की पुकार की ओर ही गया है और वही ध्वनि मेरे ज्ञान का विशेष विषय बनी। किन्तु इस कोकिल-ध्वनि के प्रति पक्षपात के कारण और चारों ओर के अनेकों शब्द मेरे कान में बिल्कुल भी प्रवेश नहीं कर रहे हैं—ऐसा तो नहीं है। घुग्घू, चील, कौआ, झींगुर के शब्द, छोटे बच्चों के खेलने का शब्द, रास्ते में फेरी लगानेवाले की बोली, और भी कितना-कुछ मिला-जुला मेरे कर्ण-कुहर में प्रविष्ट हो रहा है और चेतना को भी कुछ-कुछ जगा ही रहा है, किन्तु विशेष रूप से नहीं। वह सब मानो सुनकर भी नहीं सुन रहा हूँ। और तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में कहता हूँ कि कोकिल की 'कुहू' ही सुन रहा हूँ।

कुल मिलाकर देखें तो प्रत्येक मुहूर्त में ही हम लोगों का अनुभव (experience) एक विपुल समुद्र-विशेष है। एक-साथ कितनी ही वस्तुओं का देखना-सुनना-सूँघना-स्पर्श-कल्पना आदि कर रहे हैं। किन्तु इन सबकी तो मुझे कोई बहुत अपेक्षा नहीं है, इसीलिये इतने सारे देखे-सुने में से एक छोटा टुकड़ा पृथक् छाँटकर मैं समझता हूँ कि इतना ही मेरा अनुभव या ज्ञान (experience) है। इसी प्रकार, मैं यहाँ खड़ा होकर व्याख्यान दे रहा हूँ, आप दस लोग देख रहे हैं, सुन रहे हैं। वास्तव में तो और भी बहुत कुछ आप देख-सुन रहे हैं—ट्राम की आवाज, घोड़ा-गाड़ी-मोटर आदि की आवाजें इत्यादि भी आपके कान में आ ही रही हैं, किन्तु विशेष रूप से मेरी बातें सुन रहे हैं और समझते हैं कि केवल यही सुन रहे हैं। देखने की स्थिति भी ऐसी ही है। मेरी ओर देखकर केवल मेरे हाथों में पकड़े हुए इन—समाप्त ही न होते हुए—कागजों को देखते हुए आप दीर्घ निश्वास ले रहे हैं ऐसा नहीं, ये सब मेज, बत्तियाँ, चित्र, दीवाल, श्रोतागण इत्यादि कितनी सारी वस्तुयें आँखों में आ रही हैं, किन्तु विशेष रूप से नहीं। आपके देखने का पक्षपात इस समय इन कागजों पर है। इस क्षेत्र में भी पूरे देखने को काट-छाँटकर टुकड़ा किया गया

है। ऐसा न करें तो व्यवहार नहीं चल सकता। ट्राम का शब्द भी उतने ही ध्यान से सुनेंगे जितने ध्यान से मेरा व्याख्यान—ऐसी प्रतिज्ञा कर बैठें अथवा, इस चित्र को और मुझे विना पक्षपात के देखेंगे—ऐसी इच्छा रहे तो मेरे बोलने से कोई लाभ नहीं होगा। आपका सुनना न सुनने में ही शामिल होगा। कुछ भी नहीं सुन पायेंगे। कुछ सुनने के लिए वहुत कुछ को न सुनने में शामिल होना पड़ता है। हम लोगों के ज्ञान में यह पक्षपात आवश्यक है। इसीलिए व्यवहार-क्षेत्र में हमारे अनुभवों का सागर छोटे-छोटे गड्ढों में बँटा हुआ-सा हमारे सामने आता है। इन गड्ढों को ही हम अपना पृथक्-पृथक् एक-एक अनुभव या ज्ञान समझते हैं।

इसी कारण मैं कह रहा था कि हमारे अनुभव का चेहरा विपुल होने पर भी हम अपने प्रयोजन के अनुसार उसे खूब बौना वना लेना सीखे हुए हैं; जैसे कि रहने के लिए घर बनाते समय दीवालें उठाकर, छत डालकर असीम आकाश को हमने परिच्छिन्न कर लिया है, वैसे ही संसार-व्यवहार चलाने के लिए व्यापक अनुभव के छोटे-छोटे टुकड़े कर ले रहे हैं। वस्तुतः अनुभव हमेशा विशाल ही होता है पर जब जितने की खास आवश्यकता हमें प्रतीत होती है, उतना-सा ही अनुभव का टुकड़ा हम स्वीकार करते हैं। बाकी सब हमारे ज्ञान के द्वार पर उपस्थित रहते भी हम उसे ग्रहण नहीं करते।

मेरा अभिप्राय समझ में आ गया न! यह बात यदि हम न समझें तो अदिति या इन्द्र का विपुल शरीर छिपता है—ऐसा वेद का वचन भी नहीं समझ सकेंगे। वेद हेतु भी देता है कि हम पराङ्मुख हैं, इसीलिये वह छिपता है। पराङ्मुख हुए विना गुजारा नहीं, संसार-व्यवहार जो नहीं चलेगा? यहाँ ये बातें संक्षेप में ही कही गयीं। मेरे पूर्व-प्रकाशित ग्रन्थ—Approaches to Truth तथा Patent Wonder में इसकी खूब विस्तृत आलोचना कर चुका हूँ। पूर्वोक्त पहली पुस्तक के १८२ पृष्ठ से कुछ अंश उद्धृत करता हूँ—

"A thought or knowledge may thus properly be regarded as a function of the emotional and conative prepossessions and repressions of the mind. The universe of experience is indeed too large for any of my ordinary interests of life; an infinity of features—emotive, cognitive and conative, are there in solution, as it were in this universe. But I care not for all this infinite richness of my intuitive life. At a given moment a particular interest, say the writing of this essay possesses me. This special interest behaves and operates

in my actual universe of the moment as if it were a thread of special preferences dipped in the universal solution. All sorts of things are there in this solution; but my thread selects only some and rejects others, and accomplishes by such a selective operation, what I look upon as my crystallized fact of the moment. The thread of interest gathers around itself a crystal, a pragmatic fact as I have often called it, and I fancy that this little crystal of my creation is my fact. How easily I seem to forget my universe—the general solution ! Thus the operation of interest in life is analogous to the process of crystallization; it essentially involves the ignorance of the whole and preference of a part."

ऊपर जो बातें कही गई थीं, उन्हीं को इस उद्धृत अंश में सूत के चारों ओर मिश्री के दाने कैसे बँधते हैं इसका दृष्टान्त देकर समझाया है ।

बात संक्षेपतः यही स्थिर हुई कि हम काम चलाने के लिए अपनी मूल-अनुभूतियों को काट-छाँटकर छोटी बना लेते हैं । जिस परदे से घेरकर बड़े को छोटा कर लेते हैं, अखण्ड को खण्डित कर लेते हैं, उस परदे का नाम है—अविद्या (Principle of veiling) । यही है अदिति और दिति का रहस्य । अनुभव को अनन्त रूप से देखें तो पायेंगे अदिति; तब उनका भूलोक-द्युलोक और अन्तरिक्ष में विस्तीर्ण वपु आपके लिए गोपन नहीं रहेगा । और परदा घेरकर अनुभव को खण्डित, परिच्छिन्न कर लें तो पायेंगे दिति । पुराणों में सुनते हैं कि अदिति देवों की माता हैं और दिति दैत्यों की जननी हैं । अब उस बात का अर्थ स्पष्ट हुआ क्या ? अभेद दृष्टि समग्र दृष्टि में देवता हैं और भेददृष्टि या खण्डित बुद्धि में दैत्य हैं । वेद ने अनेकों देवताओं की बात कही है एवं ऊपरी दृष्टि से तो उन्हें पृथक्-पृथक् ही वर्णित भी किया है; किन्तु इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि देवताओं के समस्त भेदों को मन्त्रों ने तोड़ दिया है । बहुत बार जोड़ा-जोड़ा देवता को या अनेक देवताओं को एक ही सूक्त का विषय बनाया गया है, एवं अन्त में विश्वकर्मा, इन्द्र, प्रजापति या हिरण्यगर्भ में जाकर निखिल देवताओं को मिला दिया है । इसीलिये मानना होगा कि वेद में नानात्व के पीछे एकत्व की भावना है । देवता सचमुच पृथक् हैं यह बात वेद को अभिमत नहीं । इसका प्रमाण हम क्रमशः देते रहेंगे ।

सारांश यह हुआ कि इन्द्र, अग्नि, वायु, सोम आदि सभी सर्वव्यापी अखण्ड वस्तु हैं—यही बात हमें वेद में बारम्बार दिखाई देती है । इसीलिये देवगण अदिति

को सन्तान हैं। देवता का चिन्तन करने में हमें कोई विशेष परदा डालकर अनुभव को खण्डित या संकुचित नहीं करना पड़ता। इन्द्र की स्तुति कर रहे हैं तो कोई चहार-दीवारी खींचकर इन्द्र का अपना क्षेत्र अलग करने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने ही सब किया है एवं उनमें सब कुछ वर्तमान है—यह बात वेद ने बार-बार कही है। इसीलिये इन्द्र को गर्भ में धारण करने से अदिति की महिमा खण्डित नहीं होती। जो ज्यायान् और परायण है, वह वैसा ही रहा। इस स्थिति में, जब स्वरूप-विच्युति नहीं होती तो—'अदिति के गर्भ में इन्द्र हैं'—यह कहने का जो अर्थ है, 'इन्द्र के प्रभाव से ही अदिति ने जन्म लिया' यह कहने का भी वही अर्थ है। लक्षित पदार्थ दोनों में एक ही है। इस ऐक्यभाव में ही वेद की सब पहेली सुलझ जाती है। पुत्र ही माँ का पिता है—इसे हमने कुछ समझ लिया। अन्य रहस्य भी हैं। केवल इन्द्र ही नहीं, अग्नि, सूर्य, सोम—इनके सम्बन्ध के भी मन्त्र पढ़कर देखिये—तात्पर्य यह एक ही है कि उन्होंने सब किया है और उनमें सब कुछ स्थित है। •

चौदह

वेद की पहेलियाँ

वेद और विज्ञान के सम्बन्ध में पहले बहुत-सी बातें कह चुके हैं, और भी दो-एक बातें कहेंगे। पहला ही प्रश्न है कि दक्ष प्रजापति कौन है? 'दक्ष' धातु का अर्थ है बढ़ना। बीज बढ़कर वृक्ष बनता है, भ्रूण बढ़कर जीव-देह बनता है—वहाँ इस 'दक्ष' धातु का दृष्टान्त हमें दिखता है। सृष्टि के प्रकरण में कैसे इसे देखें? सृष्टि के मूल में जो अखण्ड वस्तु है, उसे हमने अदिति नाम दिया है, किन्तु वह अव्यक्त है। उसे समझने में ब्रह्मा-विष्णु महेश भी हार मानते हैं। वही अव्यक्त वस्तु क्रमशः व्यक्त हो रही है—सृष्टि के विषय में यही वैदिक रहस्य है। उस अव्यक्त वस्तु को जैसे अदिति नाम दिया गया है, वैसे ही फिर उसे 'असत्', 'रात्रि', 'विश्वव्यापी जलराशि' इस प्रकार के अनेक प्रकार के प्रतीकों की सहायता से हमें उसके स्वरूप का आभास जैसा परिचय दिया गया है। इसीका जो क्रमशः जगत् रूप में विकास या विज्ञान है, वही दक्ष प्रजापति की सृष्टि अथवा सृष्टि-यज्ञ है।

इस मूल अव्यक्त वस्तु को सांख्य के प्रधान या प्रकृति के समान जड़, एवं पुरुष से स्वतन्त्र नहीं समझियेगा। जो देख रहा है और जिसे देख रहा है—द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों को पृथक् करके सांख्य के पुरुष और प्रकृति हैं। इस हिसाब से चेतन और जड़ का लक्षण पहले किसी दिन समझा था, किन्तु अनुभव (Experience) में द्रष्टा और दृश्य पूरी तरह पृथक् नहीं हैं। मौलिक रूप में अनुभव में ही ज्ञाता और ज्ञेय निर्विशेष रूप से जड़ित रहते हैं। बाद में विश्लेषण की छुरी चलाकर उसमें से ज्ञाता और ज्ञेय (subject तथा object) को पृथक् करना पड़ता है। आप लोग अपने-अपने अनुभवों को जाँचकर देखेंगे कि ऐसे विश्लेषण की छुरी चलाकर ज्ञाता और ज्ञेय को पृथक् हम प्रायः नहीं करते। जिस समय हम मेघ को देख रहे होते हैं तब हमारा अन्तःकरण उसी मेघ के आकार में ही आकारित रहता है। कोई क्षण-दो क्षण बाद सोकर जगे हुए की तरह फिर सोचते हैं कि—'मैं मेघ को देख रहा था।' 'क्या देख रहा हूँ?'—ऐसा कोई पूछ दे तो अवश्य ही ज्ञाता और ज्ञेय को पृथक् करके ही उत्तर देना होता है। कहने या समझने के लिये तो यह पार्थक्य करना होता है, किन्तु अनुभव के मूल में यह पार्थक्य रहता नहीं।

मूल में जो एक अव्यक्त, अनिर्वचनीय अनुभव रहता है उसे अंग्रेजी में कहते

हैं—Intuition। मैंने अपने दार्शनिक लेखों में उसको नाम दिया है Fact। वह Fact alogical (अनिर्वचनीय) है। उसे सोचने-समझने-कहने जायें तो काट-छाँटकर विश्लेषण करना पड़ता है। Fact अदिति है, उसे ज्ञाता-ज्ञेय इत्यादि रूपों में काटकर दिति को पाना होना है। केवल Fact से अनुभव तो चलता है, व्यवहार नहीं चलता। बातचीत नहीं हो सकती। Fact को काटकर हम जो टुकड़े करते हैं, उनको मैंने नाम दिया है Fact-section। ज्ञाता और ज्ञेय, पुरुष और प्रकृति—इस प्रकार के Fact-sections तत्त्व के भग्नांश हैं, पूरा तत्त्व नहीं हैं। जो पूरा तत्त्व है, वह अनुभव मात्र है। वह खण्डहीन अवस्था में अदिति है।

इस मूलभूत अनिर्वचनीय अनुभव का विश्लेपण अनेक प्रकार से हुआ करता है। एक प्रकार है द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय (subject and object)। और एक प्रकार है—चित् और शक्ति रूप से। एक शक्ति जगत् रूप से विवर्तित हो रही है और चैतन्य उस शक्ति के खेल को प्रकाशित कर रहा है। एक नृत्य कर रही है, दूसरा उसे अपने वक्ष पर धारण किये हुए प्रकाशित कर रहा है। जो धारण और प्रकाश कर रहे हैं वे चित् हैं—तन्त्र में वे शुभ्र कलेवर धारण करके चित्त सीधे लेटे हुए शक्तिस्वरूपिणी काली को वक्ष पर धारण किये हुए हैं। शिव स्वरूपतः चित्, प्रकाशक हैं इसीलिये कर्पूरकुन्देन्दुधवल हैं; वे निष्क्रिय हैं, इसीलिए शवसदृश हैं। काली शक्तिरूपा हैं इसीलिए चिर-चञ्चला-नृत्योल्लासविह्वला हैं। शक्ति का स्वरूप अनिर्वाच्य है, चैतन्य के समान वह प्रकाशरूप नहीं है, इसीलिए काली महामेघप्रभा घोरा हैं। मूलभूत तत्त्व का यह एक अपरूप विश्लेषण है। वेदान्त इसी मूल तत्त्व का अन्य प्रकार से विश्लेषण करता है। एक परमेश्वर हैं, दूसरी माया है। किन्तु तन्त्र और वेदान्त ने वस्तु को सर्वथा पृथक् नहीं कर दिया है। एक के ही ये दो पक्ष हैं, यह बात उक्त भाव-विश्लेषणों में हम स्पष्ट देख पाते हैं। और अधिक गहरे उतरने की अभी आवश्यकता नहीं।—अब क्या हम पहचान सके कि दक्ष-प्रजापति कौन हैं ?

जिस मूल अनिर्वचनीय तत्त्व को हमने अदिति कहा है उसीके गर्भ में शिव-शक्ति, पुरुष-प्रकृति, ईश्वर-माया—इस प्रकार का समस्त द्वैत निहित है, एवं उसी गर्भ से ही समस्त द्वैत उत्पन्न हो रहा है—इस बात को हमने अपने साधारण अनुभव की सहायता से ही समझने की चेष्टा की। ऐसा लगता है कि वह चेष्टा सर्वथा निष्फल नहीं हुई है। इतने समय बाद एक बार फिर वही पहले उद्धृत ऋक् सुनिये—'भूरि परिमाण जल ने समस्त विश्व-भुवन को आच्छन्न किया था, उसीने गर्भधारण करके अग्नि को उत्पन्न किया, उससे वे उत्पन्न हुए जो देवताओं के एकमात्र प्राणस्वरूप हैं।' वह विश्वभुवनव्यापी भूरि-परिमाण जल ही मूलभूत अव्यक्त अनुभव अर्थात् अदिति है। उस आदिम अनुभव में से 'मैं' को पहले निकाल लिया। मान लीजिये,

'तद्गत चित्त' होकर "निमाई[१८२]-संन्यास" को इस चित्र में देख रहा हूँ। कुछ क्षण उस चित्र में ही अपना-आप खोये हुए डूबा रहता हूँ। यही अव्यक्त मूल अनुभव है। उसके बाद सोचता हूँ—"अरे, मैं देख रहा हूँ।" 'मैं' की बात मन में जाग उठी। यही अदिति के गर्भ से प्रथम प्रसव है। वेद इसीको 'अग्नि' कह रहे हैं। संकेत से कहते हैं जल के गर्भ से अग्नि का जन्म हुआ। उसके बाद ? उसके बाद शायद 'मैं' ने समझा कि इस चित्र के सम्बन्ध में जो ज्ञान हुआ, वह तो मेरा ही ज्ञान है। 'अहं' ने एक वृत्ति या प्रत्यय-विशेष पर अध्यास किया।

इस चित्र के दृष्टान्त से जगत् की क्रिया-प्रणाली भी समझ लीजिये। मूल में एक अनिर्वचनीय अनुभव है। यही अदिति है। उसके पश्चात् उसीमें से एक 'मैं' का ज्ञान स्फुट हुआ। तव उस 'मैं' ने सोचा—यह अनुभव मेरा ही अनुभव है, यह जगत् मेरा ही जगत् है। विश्व के उदय में 'मैं' का जो इस प्रकार का अभिनिवेश या अध्यास है, वही ऐश्वर्य है—ईश्वरपदवी है। यही वेद का प्राजापत्य है। इसीलिये प्रजापति दक्ष ने अदिति के गर्भ से जन्म लेकर पुनः उसे कन्यारूप से प्राप्त किया। कन्यारूप से क्यों ? जगत् के मूल उपादान से ही 'मैं' अर्थात् दक्ष ने जन्म लेकर सोचा, यह उपादान मेरा ही है। मैं इसे तोड़ूँगा-गढ़ूँगा। यही है दक्ष का ईक्षण—'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'।[१८३] उसके बाद दक्ष ने ईक्षणपूर्वक तेजस् की सृष्टि की; फिर अप् इत्यादि की। इस ईक्षण के फलस्वरूप जगत् की मूल वस्तु मानो उसी 'मैं' (दक्ष) के द्वारा गढ़ने-तोड़ने की वस्तु वन गयी। अर्थात् अदिति उसकी कन्या बनी।

मूल में अदिति का जो अर्थ है बाद में भी वही लेने से काम नहीं चलता। मूल में अदिति साक्षात् ब्रह्म है। बाद में वह है माया या प्रकृति। और भी बाद में शायद वह आकाश या ईथर बनी है। इस प्रसङ्ग में वस्तुतः आगे-पीछे सोचने का अधिकार हमारा है कि नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु सृष्टि को मानें तथा उसे समझने का प्रयत्न करें तो हमें 'पहले-पीछे'—के भाव में ही कहना-सुनना होगा।

एक वैदिक पहेली को तो समझने की चेष्टा हमने की। पुराणों में, तन्त्र में इस प्रकार की अनेकों पहेली हैं। पहले तो वे बहुत ही विचित्र लगती हैं। जैसे—शिव लेटे हुए हैं, उनकी नाभि से एक कमल निकला है, उसी कमल में बैठकर श्यामा शिशुरूपी शिव को दुग्धपान करा रही हैं। और भी—आदिम जलराशि में एक अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्ड में से हिरण्यगर्भ ने उत्पन्न होकर उसके दो भाग कर दिये, ऊपर का भाग द्युलोक बना, नीचे का भूलोक बना, बीच में अन्तरिक्ष हुआ। इस डिम्भ (अण्ड) को आपमें से बहुतों ने अश्व-डिम्भ (घोड़े का अण्डा—अर्थात् अवास्तविक तुच्छ) ही समझा होगा। किन्तु इस प्रकार की बातें सांकेतिक (sym-

bolic) हैं । अदिति और दक्ष का जो उपाख्यान मैंने आज आपको सुनाया, उसके बाद आशा है, आप इन सब तान्त्रिक और पौराणिक रहस्यों को हँसकर उड़ा देने का हठ नहीं करेंगे ।

तन्त्र और पुराण की बातें रहने दें । वेद में बहुधा पहेली की भाषा में ही बातें कही गयी हैं । जो समर्थ हो वह रहस्य-अर्थ समझ लें । कहीं-कहीं पहेली का मर्म समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती,—पर कहीं-कहीं पसीना चूने लगता है । १।९५।४ ऋक् कहती है—'अन्तर्निहित अग्नि को तुममें से कौन जानता है ? वह अग्निपुत्र होकर भी हव्य द्वारा अपनी माताओं को जन्म देता है । महान् अग्नि जल का गर्भ-स्वरूप है, एवं समुद्र से निर्गत है ।' "क इमं वो निण्यम् आ चिकेत" इत्यादि । सायण इस पर भाष्य लिखते हैं—"सोऽयमग्निर्वत्सः मेघस्थानामपां वैद्युताग्निरूपेण पुत्रस्थानीयः सन् मातृः तस्य मातृस्थानीयानि वृष्ट्युदकानि स्वधाभिर्हविर्लक्षणैरन्नैर्जनयति उत्पादयति । तथा च स्मर्यते—अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टे-रन्नं ततः प्रजा इति । अपि च बह्वीनां मेघस्थानामपां गर्भः वैद्युतरूपेण गर्भस्थानीयः सोऽग्निः" इत्यादि । अर्थात् मेघ के जल से विद्युत् उत्पन्न होती है, इसलिए वैद्युताग्नि जल का वत्स है । अग्नि में जो आहुति डाली जाती है उसीके सूक्ष्म अंश आदित्य में जाकर वृष्टि कराते हैं । इस प्रकार अग्नि पुनः जल को जन्म भी देता है, स्वयं पुत्र होते हुए भी माता को उत्पन्न करता है—इस पहेली को सायण ने बड़ी सरलता से सुलझा दिया । किन्तु हमारा संशय अभी पूरा मिटा नहीं । मेघ में विद्युत् देखते तो हैं, किन्तु वह कैसे वहाँ उत्पन्न होती है, नहीं जानते । और फिर यहाँ अग्नि में आहुति दी तो वह आदित्य में कैसे पहुँची एवं उसके फलस्वरूप वृष्टि कैसे हुई, यह तो बिल्कुल नहीं समझ सके । यहाँ नव्य-विज्ञान टीका लिखेगा । उसे हम बाद में सुनेंगे । अभी और दो-एक पहेलियों का नमूना सुनिये ।

ऋक् १।९५।१ कहती है—'विभिन्न रूपोंवाली दो गायें विचरण कर रही हैं, वे परस्पर एक-दूसरे के वत्स का पालन करती हैं ।'—"द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे, अन्यान्या-वत्सम् उपधापयेते"—इत्यादि । इस पर सायण भाष्य लिखते हैं—"ते च अहोरात्रे अग्नेः सूर्यस्य च जनन्यौ, तत्र रात्रेः पुत्रः सूर्यः, स हि गर्भवद् रात्रौ अन्तर्हितः सन् तस्या-श्चरमभागादुत्पद्यते । अह्नः पुत्रोऽग्निः, स हि तत्र विद्यमानोऽपि प्रकाशराहित्येन असत्कल्पः सन् तस्मादह्नः सकाशान्निर्मुक्तः प्रकाशमानं स्वात्मानं लभते । अनयोरेतयोः पुत्रत्वं च तैत्तिरीयैराम्नायते तयोरेतौ वत्सौ अग्निरादित्यश्च रात्रेर्वत्सः श्वेत आदित्यः । अह्नोऽग्निस्ताम्रारुण इति ।" रात्रि के गर्भ में अन्तर्हित रहकर उसीके चरम भाग में सूर्य उत्पन्न होता है अतः श्वेत सूर्य रात्रि का वत्स है और अग्नि दिन में निष्प्रभ रहकर

सन्ध्यासमय ताम्रारुण रूप से उज्ज्वल हो उठता है, अतः अग्नि दिवा का वत्स है। काली गाय का बछड़ा सफेद है और सफेद गाय का बछड़ा ताँबे रंग का है—तैत्तिरीय आरण्यक के प्रथम प्रपाठक से प्रमाण लाकर सायण ने पहेली हल कर दी। इस भाष्य पर नव्यविज्ञान जो टीका लिख रहा है, वह क्रमशः हमें सुननी होगी।

अभी तो हमने इतना देखा कि वेद ने पहेली की भाषा में जो बातें कही हैं, वे सब बातें विचित्र या काल्पनिक कहकर सहसा उड़ा देने लायक नहीं हैं। उन पहेलियों को सुलझाने में बहुधा नव्य-विज्ञान के सूत्र बहुत काम आयेंगे; कहीं-कहीं केवल आधिभौतिक व्याख्या से काम पूरा नहीं भी बनेगा, तब आध्यात्मिक व्याख्या पर्यन्त चढ़ना होगा। आज अदिति का रहस्य समझने में हमें वही करना पड़ा। Physics से पूरा नहीं पड़ा तो meta-physics तक चढ़ना पड़ा। बिल्कुल मूल की बात को केवल जड़विद्या के सूत्रनिर्देश से नहीं समझा जा सकता।

वेद ने जगत् के मूल में चैतन्य को ही बैठाया है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। विलायती पण्डित कहते हैं कि पुराने मन्त्रों में सर्वव्यापी एक चित्पदार्थ का बोधक कोई उल्लेख नहीं मिलता; अर्वाचीन मन्त्रों में, विशेष रूप से दशम मण्डल के किसी-किसी सूक्त में वह चित्पदार्थ इन्द्ररूप से, प्रजापति-रूप से, विश्वकर्मा या फिर हिरण्यगर्भ-रूप से क्रमशः प्रतिष्ठित हुआ है। मूल में वैदिक ऋषियों की शिशु जैसी सरल दृष्टि है, क्रमशः प्रवीणता के साथ-साथ दृष्टि की गम्भीरता का भी प्रसार हुआ है। इस विलायती मत का कोई ठोस सुदृढ़ आधार मुझे तो वेद में खोजे नहीं मिलता। प्रत्युत स्थूल और स्पष्ट वस्तुओं को सामने रखकर, उन्हें प्रतीक बनाकर सूक्ष्म एवं निगूढ़ तत्त्व का अनुसन्धान वेद के सभी 'स्तरों' में विद्यमान है यही मेरी प्रतीति है। वेद के मन्त्रों का अर्थ यथा-यथ रूप से जगा पाने पर उनमें ऋषियों के शैशव की कोई कैफियत नहीं खोजी जा सकती यही मेरा विश्वास है। अवश्य ही, और-और मण्डलों की अपेक्षा दशम मण्डल में ठीक, आध्यात्मिक दृष्टि से जगत् को देखने का आयोजन कुछ अधिक है। पहले-पहले आध्यात्मिक भाव का फल्गु-प्रवाह प्रवाहित रहने पर भी आधिभौतिक एवं आधिदैविक भाव की बातें ही स्पष्ट रूप से सामने आई हैं। इसीलिये उन स्थलों पर विज्ञान से समझौता होने का सुअवसर अधिक है। •

पन्द्रह

अग्नि और तेजोविकिरण

वेद के बहुत स्थलों से मन्त्र उद्धृत करके अग्नि के सर्वव्यापित्व के सम्बन्ध में आपका एक प्रत्यय उत्पन्न करने की चेष्टा मैंने की। सभी भूतों में प्रतिनियत यज्ञ या अग्निकाण्ड चल रहा है—इस बात का प्रमाण यथासम्भव नव्य विज्ञान के भाण्डार से प्रस्तुत करने में कोई भूल नहीं की। अग्नि को ताप समझने से काम चल सकता है, सौदामिनी (विद्युत्) समझने पर तो कोई बात ही नहीं। नव्य विज्ञान में एकेश्वरवाद बहुत-कुछ खड़ा हो रहा है, एवं विज्ञान जिस एक देवता की अर्चना में इस समय अपना मन-प्राण सभी कुछ ढाल रहा है वह देवता है सौदामिनी। इस विद्युत् या सौदामिनी के क्षेत्र के बाहर किसी भी जगत् को मानने में विज्ञान जैसे राजी नहीं। अणुओं का उत्पत्ति-स्थान भी यह सौदामिनी ही है। अग्नि को ताड़ित-भाव से समझें तो, अणुओं के अन्तःपुर में भी अग्निकाण्ड नियमित चल रहा है। इस अग्निकाण्ड का नाम radiation या तेजोविकिरण है।

अग्नि के तीन शृङ्गों को समझते समय हमने इस आणविक अग्निकाण्ड का कुछ-कुछ समाचार पाया था। Radio-active वस्तुओं में तेजोविकिरण की मुख्य त्रिधारा हम विशेष रूप से देख पाते हैं। उस दिन उसी मुख्य त्रिधारा का नक्शा आँककर आपको दिखाया था। इसी आणविक अग्निकाण्ड के फलस्वरूप अणु खण्डित, विवर्तित हो रहे हैं। स्वयं रेडियम सम्भवतः इसी विश्वव्यापी पुत्रेष्टि यज्ञ के कल्याण से यूरेनियम नामक पदार्थान्तर से उत्पन्न हुआ है। उसके भीतर भी यज्ञ अविरत चल रहा है। अतः वह भी अन्य किसीसे निकला होगा। यह विराट् यज्ञ न हो तो सृष्टि, स्थिति, लय नहीं होती। क्योंकि रेडियम, थोरियम, पलोनियम आदि दो-चार वस्तुओं में ही यह आणविक अग्निकाण्ड और ढलाई-गढ़ाई का काम सीमित नहीं है। वैज्ञानिक समझ रहे हैं कि अल्पाधिक मात्रा में यह क्रिया-कलाप सम्भवतः निखिल पदार्थों के ही अन्तःपुर में चल रहा है। सभी भूत केवल द्विज ही नहीं, साग्निक भी हैं। (केवल ब्राह्मण नहीं, अग्निहोत्री नैष्ठिक ब्राह्मण हैं।)

अग्नि को केवल ताप (heat) समझकर उसे इतने व्यापक भाव से देखना हमारे लिये सम्भव न होता, उसे 'तड़ित्' समझ लेने पर अब कहीं भी हमारा 'प्रवेश-निषेध' नहीं है। ताप अधिक-से-अधिक मॉलिक्यूल-अणुओं को कँपाकर रह जाता है,

किन्तु तड़ित् केवल पंखा घुमाकर, आलोक फैलाकर, ट्राम-मोटर चलाकर बस नहीं करती —अणुओं के भीतर भी छोटे-छोटे जगत् चला रही है। इसका विवरण हमारे मित्रवृन्द के पास पहले की अपेक्षा अधिक है। अब क्योंकि प्रत्येक भूत में ही तेजोविकिरण हो रहा है, इसलिये प्रत्येक भूत का ही ढलन-गढ़न नया-नया होता जा रहा है, इसके कुछ प्रमाण आप विज्ञान से ले सकते हैं। चाहे जिन भूतों को पकड़कर हिला-डुलाकर देखने का सुयोग हमारे पास नहीं, किन्तु प्रतिष्ठित वैज्ञानिकों की उक्तियाँ सुनने से आपको विश्वास हो जायेगा। Mr. Whetham कह रहे हैं—

"It is impossible to resist wondering whether the process of change, so far observed to an appreciable extent only in a few radio-active bodies, may not in reality be a general property of matter, though in other cases possessed (?) such infinitesimal degree that it almost transcends the delicate means of detection that are now at our disposal As we have seen, experimental evidence is not altogether wanting in favour of such a supposition."

Sir Earnest Rutherford इस शास्त्र में पारदर्शी हैं, उन्होंने तथा और भी बहुतों ने परीक्षा द्वारा प्रतिपन्न किया है कि—"Ordinary matter is radio-active to a slight degree." अर्थात् साधारण समस्त भूतों में ही तेजोविकिरण-कार्य थोड़ा-बहुत चल ही रहा है। अपने प्रसिद्ध प्रामाणिक ग्रन्थ में (पृ० ५३९) वे लिखते हैं—

"A number of experiments have been made by J.J. Thomson N. R. Compell and A. Wood in the Cavendish Laboratory to examine whether radio-activity observed in ordinary matter is a specific property of such matter or is due to the presence of some radio-active impurity. An account of these experiments was given by Professor J. J. Thomson in a discussion on the Radio-Activity of Ordinary Matter at the British Association meeting at Cambridge, 1904. The results as a whole, support the view that each substance gives our a characteristic type or types of radiation and that radiation is a specific property of the substance." पुन: पृ० ५४२ पर।

"While the experiments, already refferred to afford strong evidence that ordinary matter does (?) a feeble degree, it must not

be forgotten that the activity observed is excessively minute, compared even with a weak radio-active substance like uranium or thorium." अर्थात् निखिल वस्तुओं में ही आणविक विप्लव और तेजोविकिरण चलने का परिचय निःसन्देह मिलता ही है, किन्तु साधारणतः बहुत से पदार्थों में वह बहुत मृदु है।

मिट्टी, जल, वायु; सभी जगह यह गुप्त अग्निकाण्ड चल रहा है, पर सर्वत्र भी बलपूर्वक कहा नहीं जा सकता कि आग भीतर से ही जल रही है या कहीं बाहर से आकर लगी है। मान लीजिये, वायु की परीक्षा करके देखा कि वह radio-active है अर्थात् उसमें से प्रधानतः तीन धाराओं में तेजोविकिरण हो रहा है। प्रश्न उठता है कि यह तेज क्या वायु का अपना है या आगन्तुक है ? ऐसा तो नहीं कि वायु में रेडियम आदि मिलावटी वस्तुओं के तैजस कण बिखर रहे हैं, उस विकीर्ण तेज को ही हम वायु का अपना मान ले रहे हैं ? चन्द्रमा की अपनी किरणें नहीं हैं, वह सूर्य से उधार लेकर ही मधुमास में ऐसी बहार दे रहा है। वायु की भी वैसी ही अवस्था तो नहीं है ?

पुष्पों का पराग वहन करके वायु गन्धवह बना है। वायु में सुगन्ध पाकर उसे वायु की ही मानकर उसे 'सुगन्धि' विशेषण दूँ तो वैयाकरण अभी मेरा कान मलने को उद्यत हो जायेंगे। गन्ध के बारे में जैसे चोरी है, रेडियो-एक्टिव के प्रसङ्ग में भी वैसी ही चोरी तो नहीं है ? इस समस्या का समाधान कठिन है, इसे रादरफोर्ड आदि साहबों ने स्वीकार किया है; थोड़ी-बहुत चोरी तो है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु ऊपरी पर्दा हटा देने पर भी पवन महाशय का अपना निजी कोई तेज नहीं है क्या ? शायद कुछ अवश्य है—यही वैज्ञानिकों का अनुमान है। केवल वायु नहीं, जल, पृथ्वी आदि हमारे वैदिक देवता वास्तव में ही स्वतन्त्र रूप से भी बहुत कुछ देवता ('द्युतिमान्') अवश्य हैं, इसे लेकर वैज्ञानिक सविस्तार प्रश्न-उत्तर कर रहे हैं। अवश्य ही उनकी दृष्टि में 'द्युति' या 'तेज' का अर्थ है—विद्युत्-शक्ति-विकिरण का सामर्थ्य।

केवेण्डिश लेबोरेटरी से सरदार चेला (रादरफोर्ड महाशय) की पंक्तियाँ तो हमने उद्धृत कीं, अब स्वयं गुरु महाराज (जे० जे० टॉम्सन साहब) का 'आदेश' सुनिये। उनके Conduction of Electricity through Gases—नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ का एक अध्याय ही है—"The power of the elements in general to emit ionising radiation." उसी अध्याय के प्रायः आरम्भ में ही प्रश्न उठाया गया है—"The question arises—is the property of emitting radiations of this character confined to these elements, is it possessed, though to a very much smaller extent, by the elements in general ? Of late

years a considerable amount of attention has been given to this question resulting in the collection of a large amount of evidence in favour of the view that this property is possessed to some extent by all bodies although there seems to be a great gap between the amount of radiation emitted by the least active of the recognised radio-active elements and the most active of the others."

कहने का तात्पर्य यह कि थोड़ा हो—अधिक हो, सभी भूतों में ही इस प्रकार का अन्तःविप्लव और तेजोविकिरण चल रहा है। हाँ, सर्वत्र समान रूप से नहीं। और अधिक मतों का उद्धरण देने की अब आवश्यकता नहीं, आज के प्रायः सभी विज्ञान-ग्रन्थों में से इस प्रकार की ढेरों उक्तियाँ आपको सुनाई जा सकती हैं।

यह तेजोविकिरण वस्तु के मध्य ही घरेलू विप्लव का फल है, कोई नया आगन्तुक कार्य नहीं, इसका प्रमाण वैज्ञानिक एक प्रकार से देकर निश्चिन्त हो गये हैं। अर्थात् वेद ने जिस अग्नि को जल-स्थल-वायु-अन्तरिक्ष-ओषधिसमूह-द्युलोक—सर्वत्र 'निगूढ़'-रूप से दिखाया है, उस अग्नि का क्रिया-कलाप केवल स्थूल जगत् में नहीं, अणुओं में भी उसका आविष्कार करके विस्मयविमूढ़ हो रहा है। आप लोगों में से जिन्हें जानने का अधिक कौतूहल हो, वे रादरफोर्ड साहब का ग्रन्थ Radio-activity, 'सडि' साहब का ग्रन्थ—Inter-pretation of Radium and the Chemistry of the Radio elements अथवा Makower's Radio-active substances नामक ग्रन्थ पढ़कर देख लें। पदार्थों के भीतर से यह जो तेजोविकिरण हो रहा है, उसे अणु का कार्य मानकर आप तुच्छ न समझियेगा। अणुओं के राज्य में होने से क्या हुआ, इनका तेज महान् है। एक ग्रन्थकार लिखते हैं—"In mechanical units the energy available for radiation in one ounce of radium is sufficient to raise a weight of something like ten tons and tons one mile high." पुनश्च—It is possible to calculate the energy liberated by a given amount of radio-active change. This energy is at least five hundred thousand times and may be ten million times greater than that involved in the most energetic chemical action known." एक Torpedo या सुरंग फटकर मोटे इस्पात से बने किसी प्रकाण्ड युद्धपोत को चिथड़े-चिथड़े करके उड़ा दे सकती है। तोप का एक गोला आकर गाँव का गाँव उजाड़ सकता है। यह है बहुत उग्र प्रकार का chemical action। किन्तु सूक्ष्म से भी सूक्ष्म एटम के मध्य रहती हुई जो शक्ति विप्लव करा रही है एवं तेजोविकिरण कर रही है उस

शक्ति की विपुलता के सामने टोरपीडो, सुरंग या गोले का माहात्म्य नगण्य-सा हो जाता है। एक जरा-सा रत्तीभर रेडियम इतना प्रचुर ताप (heat) जगा रख सकता है, जिसे सुनकर हम विस्मय से अवाक् हो जाते हैं। परिमाण अभी आपको नहीं सुना रहा हूँ।

अतिसूक्ष्म के भीतर अतिविपुल का आविष्कार कर पाकर नव्यविज्ञान सम्भवतः मानव-जाति की साधना का एक नया अध्याय बना रहा है। किसी जरा-से साधारण पदार्थ के मध्य, यहाँ तक कि एक रेणु या अणु के मध्य भी ऐसी विराट् शक्ति है कि पहले स्वप्न में भी कोई इसकी कल्पना का साहस नहीं करता था। एटम इतना छोटा है कि एक ग्राम वजन की किसी भी ठोस वस्तु में $१०^{२०}$ (दस संख्या पर २० शून्य देने से जो संख्या बनेगी उतने) एटम होते हैं। एटम से दो दस हजार गुने छोटे इलैक्ट्रॉन उस एटम के भीतर छन्दोबद्ध रूप से चक्कर काट रहे हैं, बीच-बीच में मिजाज गरम होने पर कोई-कोई छिटक भी जा रहे हैं, इस प्रकार छिटक आने पर एटम में विप्लव होता है, इसीको हम लोग मोटामोटी—radio-activity कह रहे हैं। इन electrons या Helium atoms की गति का वेग भयङ्कर है। प्रायः आलोक के वेग के समीप है। आलोक का वेग एक सेकण्ड में प्रायः दो लाख मील है, आइंस्टाइन आदि के हिसाब से इससे अधिक वेग जड़ पदार्थ में नहीं होता।

जो भी हो, कितनी कार्यकरी शक्ति (kinetic energy) एटम के भीतर खेल रही है, उसका एक आभास आपको मिला न ! जिन वैज्ञानिकों के नाम मैं बीच-बीच में ले रहा हूँ उन सबने तथा और भी बहुतों ने उक्त कार्यकरी शक्ति का हिसाब प्रयोग और गणना द्वारा प्रस्तुत किया है, हम अनाड़ी हैं अतः उनके हिसाब की जाँच (audit) करने का दुःसाहस हममें नहीं। उस हिसाब के अङ्कों की ओर देखकर हमारी आँखें पथरा गई हैं।—एक रेणु के भीतर क्या-क्या चल रहा है ! कितनी विपुल शक्ति का विलास हो रहा है !! इसे अब विज्ञान पकड़ पाया है, इसलिये लगता है कि मनुष्य के चिन्तन और साधना का मोड़ घूमने का उपक्रम हो गया है। और लगता है कि वेद और विज्ञान का—उस काल के ऋषियों और इस काल के प्रगत वैज्ञानिकों का—प्रगाढ़ आलिङ्गन करने का समय अब दूर नहीं।

वर्तमान युग में पत्थर का कोयला मुख्य रूप से हमारे लिए शक्ति ही जुटा रहा है कहने से अत्युक्ति न होगी। उस दिन अग्नितत्त्व की चर्चा के प्रसङ्ग में इसी पत्थर-कोयले की महिमा गाई थी। अब लगता है, इस बीसवीं शताब्दी में मनुष्य की दृष्टि शक्ति-साधना और शक्ति-संचय के लिये किसी दूसरी ओर मुड़ेगी। इलैक्ट्रॉन, रेडियम आदि ने मञ्च पर उतरकर इसकी सम्भावना खड़ी कर दी है। अब मनुष्य

सोचेगा--अणु के भीतर जो विराट् शक्ति का खेल हो रहा है, उसका सन्धान तो पा लिया, अब उस शक्ति को व्यवहार में कैसे लगाया जाय; एक धूलि-कण के भण्डार में इतनी शक्ति वर्तमान है कि उसे अपने अधिकार में ले पाने पर मैं ब्रह्मा-विष्णु-महेश में से कोई न कोई अवश्य बन सकता हूँ। यह वैदिक या पौराणिक अद्भुत कल्पना नहीं है। आधुनिक विज्ञान के ही क्रमबद्ध चिन्तन का विषय है।

अणु के भीतर शक्ति की विपुलता कैसी है, उसका कुछ-कुछ आभास मैं पहले ही आपको दे चुका हूँ। इन बीस वर्षों में इतनी परीक्षायें और गणनायें हुई हैं कि उस ओर अब हमें जरा भी सन्देह नहीं है। किन्तु कठिनाई यह है कि सांख्य के पुरुष की भाँति हम इस अक्षय शक्ति का भाण्डार केवल देख ही पाते हैं, इस भाण्डार को हम अपनी आवश्यकतानुसार नियुक्त कर सकें ऐसा कोई उपाय विज्ञान अभी नहीं निकाल पाया है। इस शक्ति का उपयोग सीख जाने पर फिर विज्ञान पत्थर के कोयले जला-जलाकर इतनी सुन्दर पृथ्वी को विरूप नहीं करेगा। उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। टीन के टीन पेट्रोल जलाकर मोटर, एरोप्लेन आदि चलाने का हंगामा समाप्त हो जायेगा। हमारा जो भी कार्य—जल में, स्थल में या अन्तरिक्ष में—चलेगा सब इसी आणविक शक्ति की सहायता से होगा। इसके अतिरिक्त इसी आणविक शक्ति के आशीर्वाद से विज्ञान और भी बहुत से असाध्य कार्य सिद्ध कर सकेगा।

इसी बीच पश्चिमी देशों के कल्पना-कुशल लेखक—इस शताब्दी के अन्त में पृथ्वी का चेहरा कैसा बदल जायेगा—इसका अन्दाज लगाने लगे हैं। हमारे इसी कलकत्ता शहर में एवं गङ्गा के दोनों तटों पर बहुत दूर तक असंख्य मिलों की चिमनियाँ अनवरत काला धुआँ उगलती हुई हमारे इस 'सोनार बांगला' के प्रसन्न, स्निग्ध आकाश-वायु को कितना मलिन बना रही हैं। कुछ समय पहले जाह्नवी-सलिल में अवगाहन करके आने पर चारों ओर देखकर प्राचीन लोग सचमुच ही ऋग्वेद के उन आकाश-वायु-सरिता आदि का अनुभव कर पाते थे जो मधु-क्षरण करने में कृपणता जानते ही नहीं। देश की मिट्टी-जल-वायु से जो मधु झरता था उससे मनुष्य के देह में स्वास्थ्य और लावण्य, प्राणों में अभय और आशा, मन में सन्तोष और आनन्द तथा बुद्धि में निर्मलता एवं धैर्य सञ्चित हो जाता था। **'ते हि नो दिवसा गताः'**[१४४]—वृथा अफसोस करने से क्या होगा? किन्तु अब विज्ञान ने शक्ति की जो नई हदिश पायी है, उससे पुनः आशा बँधती है कि शायद वह बीता समय नये साज में सजकर लौट आयेगा। पत्थर कोयले की खानें पानी से भर जायेंगी, मिलों, फैक्टरियों की लम्बी-लम्बी चिमनियाँ लज्जा से मिट्टी में लोट जायेंगी।

यह सभी कुछ सम्भव हो सकता है यदि किसी उपाय से हम अणु की भीतरी

शक्ति को अपने अधीन कर सकें। विज्ञान इस शक्ति का पता पाकर भी इसको उपयोग में लाना अभी नहीं सीख सका है। एक टुकड़ा रेडियम में शक्ति की जो क्रीड़ा चल रही है, उसे नियन्त्रित करने का कोई उपाय अभी भी हम नहीं खोज पाये हैं। रादरफोर्ड साहब ने Radio-activity का लक्षण देते समय कहा है कि यह पदार्थ के भीतर रहनेवाला एक प्रकार का स्वाभाविक (spontaneous) विप्लव या तेजोविकिरण है। X-rays, ultra-violet Rays आदि की बहुत कुछ बहादुरी है अवश्य, किन्तु साधारणतः पदार्थ में यह विप्लव या तेजोविकिरण उत्पन्न कराने का हमारा सामर्थ्य नहीं। जहाँ स्वभावतः वह हो रहा है वहाँ भी हम बस हिसाबभर लगा सकते हैं, कोई शासन या हुक्म नहीं चला सकते। वह विप्लव बढ़ा दें या घटा दें या बन्द कर दें ऐसा अधिकार हम नहीं पा सके हैं। साहब ने लिखा है—

"We are led to refer the energy liberated (in radio-active changes) to transformations in the chemical atoms and to recognise clearly, what has long been suspected, that the store of energy in the atoms themselves enormously transcends the energy involved in ordinary physical or chemical changes in which the atoms suffer no alteration. This internal atomic energy must be looked on as the source of the heat detected experimentally by Curie in the neighbourhood of a radium compound."

Atomic energy या आणविक शक्ति का परिमाण भी खूब सुना। किन्तु कठिनाई यही है कि उसे अपने अधिकार में नहीं ला पा रहे हैं। समस्त साधारण संयोग-वियोग एवं ताप आदि सभी जड़ शक्तियों का नियोग कुछ भी इस अणु के भीतरी क्रिया-कलाप में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। रासायनिक क्रिया (chemical action) का प्रभाव अणु के भीतर तक शायद नहीं पहुँचता; रासायनिक क्रिया समूचे अणुओं को ही हिला-डुलाकर, घुमा-चलाकर अपना कार्य करती है, अणु के भीतर का जगत् उसके इलाके के बाहर है। अणु को यहाँ रखो चाहे वहाँ, इसके साथ जोड़ो या उसके साथ, अणु के भीतर का यज्ञ निर्विघ्न चलता ही रहता है। बाहर का जगत् अवश्य उस यज्ञ का फलभागी बन रहा है, किन्तु बाहरवाला कुछ भी मानो उस भीतर के यज्ञ की किसी प्रकार की सहायता नहीं कर पा रहा है; बाहरवाला जगत् भीतर का दान ग्रहण कर रहा है, किन्तु भीतरवाले को किसी प्रकार का प्रतिग्रह नहीं करवा पा रहा है। बात सुनने में पहेली जैसी है, किन्तु सच है। अणु के भीतर के होम के फल से ही बाहर ताप है, और भी कितना-कुछ अजस्र बिखरा पड़ रहा है; किन्तु

वाहर का ताप, आलोक, रासायनिक क्रिया आदि कोई भी भीतर के कार्यकलाप में सात्रक या वाधक नहीं हो पा रहे हैं। यही रहस्य है।

ताप की खबर सुनिये—"An alteration in the physical conditions, such as temperature, which always largely influence the course of ordinary physical and chemical changes, seems throughout an extended range, to be entirely without effect on the processes involved in radio-activity. Heating to redness or exposure to the extreme cold of liquid air, equally leave the activities we are considering, untouched." आपने सुना न! कि अणु के संसार के जो मालिक हैं वे कैसे शीतोष्ण-द्वन्द्व-सहिष्णु हैं? भीषण उत्ताप में या भीषण शीत में अणु के मर्मस्थल में कोई चाञ्चल्य नहीं होता। तरल हवा बेहद ठण्डी होती है, उससे भी अधिक ठण्ड में भी अणु के भीतर कोई कम्पन दिखाई देता है या नहीं इसकी परीक्षा के लिये रेडियम के आविष्कर्ता Curie ने सन् १९०३ में विलायत में Royal Institution में आकर परीक्षण किया था। तरल हाइड्रोजन तरल हवा से भी अधिक ठण्डा होता है। उस तरल हाइड्रोजन में रेडियम के काम का कोई परिवर्तन होता है या नहीं—यही देखना उद्देश्य था। बहुत मामूली परिवर्तन होता है ऐसी राय परीक्षकों ने दी, फलस्वरूप बात यहाँ ठहरी—"Whether or not the increase, they then observed be confirmed by further experiments, it seems certain that, till we thus approach the absolute zero (that is—273°C) all the activities of radium are quite independent of temperature. Such extra-ordinary results as these point to a deep-seated difference in kind between the radio-active processes and all chemical and physical operations hitherto investigated."

रेडियम-जातीय पदार्थ-समूह का जो तेजोविकिरण है (तथा जो तेजोविकिरण थोड़ी-बहुत मात्रा में शायद सभी वस्तुयें कर रही हैं) वह मानो एक सर्वथा नये प्रकार का कार्य है। हम लोग इतने दिन से पदार्थ-विज्ञान में जितने प्रकार की क्रियाओं द्वारा काम चलाते आ रहे हैं, यह उन सबसे विल्कुल ही भिन्न प्रकार का है। यह अणु के भीतर के सृष्टि और संहार की लीला है। उस बात पर बाद में आऊँगा। अभी प्रश्न यह है कि आणविक शक्ति बहुत ही प्रचुर है और बहुत स्वाधीन मिजाज की भी है। विज्ञान-प्रयोगशाला में हम किसी भी तरह उसे मना-बहलाकर वश में नहीं ला पा रहे हैं। जिस दिन उसे वश में कर पायेंगे उस दिन पृथ्वी का चेहरा बदल जायेगा; शायद

अणिमा-लघिमा आदि कोई भी सिद्धि मनुष्य के अधीन हुए बिना न रहेगी। किन्तु क्या उपाय किया जाय ? वैज्ञानिक लोग डरते-डरते आशा तो बहुत लगाये हुए हैं।

"It seems unlikely that radium will ever be cheap enough for us to use its energy to develop mechanical power, but it is just possible that tne phosphorescence of sensitive screens in the neighbourhood of a radio-active body may some day be employed as an effective source of light. In this way luminous effects would be obtained directly from a store of energy self-contained and practically in-exhaustible, whereas, in all our present arrangements, light is derived from a hot body, and large quantities of energy are necessarily wasted in maintaining the incandescence."

थोड़ी-सी रोशनी करने के लिए बहुत-सी शक्ति का अपव्यय करना होता है, किन्तु आणविक शक्ति को अगर प्रकाश के कार्य में लगा सकें तो दोहरा लाभ होगा। एक तो ऐसा भाण्डार मिलेगा जिसमें से जितना चाहो खर्च करो, भाण्डार खाली न होगा। अणु का भाण्डार अक्षय है। दूसरे—कोयले जलाकर या बत्ती जलाकर प्रकाश होता तो अवश्य है पर उसके साथ बहुत ताप भी होता है, एवं वह ताप निष्कर्मा रूप से (बेकार) ही चारों ओर बिखरा करता है। अर्थात् कोयला जलाकर हमने जितनी शक्ति को जगाया उसका बहुत थोड़ा-सा अंश ही हमें प्रकाश देता है, अधिकांश तो व्यर्थ ही खर्च हो जाता है। किन्तु आणविक शक्ति द्वारा रोशनी कर पायें तो इतना व्यर्थ खर्च नहीं होगा। उदाहरण है नन्हा-सा जुगनू। सारी रात घने जङ्गल-झाड़ियों में जुगनू प्रकाश करता रहता है। जहाँ भी जाता है शरीर पर प्रकाश का ही लेप किये हुए जाता है। एक पैसा भी तेल का खर्च नहीं। उस रोशनी में ज्वाला भी नहीं, ताप भी नहीं। हम-आप हर महीने कितने ही रुपये गिनकर देते हैं तो दो-चार घण्टों के लिए रोशनी जला पाते हैं। पर उसमें कितनी ज्वाला और ताप है। जुगनू शायद कोई जादू जानता है। उसने हमेशा ही आणविक शक्ति को उपयोग में लेना सीख लिया है। रेडियम के तेजोविकिरण के पथ पर एक उपयुक्त परदा (sensitive screen) टाँगकर हम भी इस प्रकार के तापहीन आलोक की सृष्टि का जादू दिखा सकते हैं। इसको Phosphorescent effect कहते हैं।

सर ऑलिवर लॉज का नाम सुनते ही भूतों की कहानी न मान बैठियेगा। वे ठाठबाट-दार वैज्ञानिक हैं। कुछ दिन पहले भी British Association के President थे। उन्होंने जुगनू की जादू-विद्या के बारे में क्या लिखा है, सुनिये—(Modern

Views of Electricity, p. 473)—"Can it be that the light emitted by the glowworm—which is true light and not technical radio-activity and yet which accompanied by something which can penetrate black paper and affect, a light-screened photographic plate—is emitted because the insect has learnt how to control the breaking-down of atoms, so as to enable their internal energy in the act of transmutation to take the form of useful light instead of the useless form of an insignificant amount of heat or other kind of radiative effect; the faint residual penetrating emissions being a secondary but elucidatory and instructive appendage to the main luminosity?"

जुगनू के प्रकाश के साथ रेडियम-जातीय पदार्थ के तेजोविकिरण का किसी-किसी अंश में सादृश्य साहब ने दिखाया, फिर प्रश्न उठाया कि जुगनू के शरीर में जो आणविक विप्लव चल रहा है, आणविक शक्ति का जो खेल चल रहा है, उसको वह किसी प्रकार उपयोग में ला पा रहा है इसीलिये क्या जुगनू के अंगों में ऐसी अद्भुत स्निग्ध छटा है? नहीं तो इतनी कोमल ज्योति कैसे प्रकट होती है? यह प्रश्न भले ही जुगनू के बारे में है, किन्तु प्रश्न का गुरुत्व बहुत सामान्य (न्यून) नहीं है। मानव की कर्मधारा अथवा साधना अब किस प्रणाली से चलेगी, यही समस्या है। सोच-विचारकर कोई भी किनारा नहीं पाते हम; पश्चिम की सभ्यता भी अन्धेरे ही पथ पर आगे टटोलती हुई चल रही है। श्रेय का मार्ग बड़ा गहन प्रतीत हो रहा है।

इतने समय तक तो 'केमिकल' और 'मेकेनिकल' शक्ति लेकर उछल-कूद चल रही थी; अब देखा जा रहा है कि वह मनुष्य को बाहर का गुलाम, अतः वस्तुतः देखें तो अशक्त ही बना डाल रही है। वहाँ शान्ति नहीं, कल्याण नहीं। इस समस्या द्वारा ही रेडियम का अवतार हुआ है। रेडियम मानो श्रीभगवान् का कूर्मावतार है। कूर्म हाथ-पाँव समेटकर एक निरीह मिट्टी के ढेले के समान पड़ा हुआ है, किन्तु उस कठोर खोल के भीतर प्राण हैं, वेदना है, शक्ति है, सब है। हम इतने दिन पार्टिकल, एटम सूक्ष्म-भूत आदि को 'छोटे आदमी' (तुच्छ) समझकर अवज्ञा कर रहे थे; एक मॉलिक्यूल धूल का कण भी पूरा 'व्यक्ति' है, उसे पुनः ग्रहण करना ही होगा।

रेडियम-अवतार अवतीर्ण होकर हमारी दोनों आँखों की पट्टियाँ क्रमशः खोल रहा है। एक आँख से हम देख रहे हैं कि धूलिकण या एटम के भीतर शक्ति का इतना बड़ा भाण्डार है, उसकी सहायता से एक सौर जगत् के ग्रह-उपग्रहों को चराते हुए सैर की जा सकती है। इसका नाम atomic energy है, इसकी विशालता की

कोई सीमा नहीं—यही कहना ठीक होगा। दूसरी आँख से हम देख रहे हैं प्रत्येक पदार्थ के कण-कण में जो अग्निकाण्ड, यज्ञ या विप्लव चल रहा है, उसीके फलस्वरूप समय-समय पर एक जाति के पदार्थ टूटकर अन्यजातीय हो जा रहे हैं। अर्थात् अग्निकाण्ड निखिल भूतों के अन्तःपुर में अहर्निश एक सृष्टि और संहार की लीला चला रहा है। स्थूल या सूक्ष्म कोई भी भूत अजर-अमर नहीं है। सभी के भीतर, धीमे-धीमे हो या वेग से, एक टूटने और नये गठन की क्रिया चल रही है, एक टूट रहा है, दूसरा कुछ गढ़ा जा रहा है। इस बनने-बिगड़ने (नित्यसृष्टि और नित्यसंहार) की ही वैज्ञानिक परिभाषा है—Radio-activity।

अच्छा, आँख की पट्टी तो खुल गई, इस ओर मन की साध भी बढ़ चली है कि इस नित्यसृष्टि और नित्यसंहार की क्रिया में हम ब्रह्मा और महेश्वर को पायेंगे। अर्थात् आणविक-शक्ति-भाण्डार में से हम शक्ति-संचय करेंगे—केवल भाण्डार देखने से काम नहीं चलेगा। यह भाण्डार लूट पायें तो हम पत्थर का कोयला, पेट्रोल, और भी कितनी ही राख-धूल से छुटकारा पा जायें। Chemical और Mechanical शक्ति के दस्तावेज भी फाड़कर फेंक दें। सिद्ध पुरुषों की भाँति जरा-सी धूनी की राख या धूल लेकर उसके भीतर से ही शक्ति का उद्बोधन करके सभी काम बना लें। वर्तमान युग में यहा हमारी साध और समस्या है। पत्थर कोयले जैसी वस्तुओं से अरुचि हो गई है, अणु के भाण्डार की ओर लोलुप दृष्टि भी डाल रहे हैं, किन्तु उपाय क्या है? इस अँधेरे गहन वन में किस प्रकाश के सहारे पथ खोजें?

क्या जुगनू के प्रकाश को सहारा बनायें?—यह प्रश्न सुनकर हँसियेगा नहीं। हमारे देश के योगियों ने पशु-पक्षियों से बहुत-से गुह्य योग-रहस्य सीखे थे। मेढक आदि सरीसृप जन्तु सर्दी के दिनों में गड्ढों के भीतर कैसे निराहार जड़ बनकर पड़े रहते हैं, उसे देखकर और अनुशीलन करके योगियों ने कुम्भक, खेचरी मुद्रा, जड़ समाधि आदि कितनी ही अद्भुत बातें सम्भावना के क्षेत्र में ला दी हैं। ऐसे ही जुगनू भी हमारा गुरु हो सकता है।

सर ऑलिवर लॉज ने शायद वर्तमान युग को गुरु का परिचय तो करा दिया है। उसकी आवश्यकता भी आ गई थी—वर्तमान युग की आकांक्षा और समस्या की बात मैं खोलकर कह चुका हूँ। रेडियम के अवतार तथा श्रीमती जुगनू की रूप-छटा की बात मैंने आपको विज्ञानालय से ही सुनाई है। अब चलिये सिद्धाश्रम में। विज्ञानालय में जो सीखा उसे भूलियेगा नहीं।

सोलह

शक्ति-भाण्डार की चाबी योग, तन्त्र के पास

बहुत दिन से, बहुत-से निबन्धों में शुद्ध मूल वेद में से इतने मन्त्र उद्धृत करके आपको सुनाता आ रहा हूँ कि आज अगर तन्त्र और योगशास्त्र की ओर थोड़ा पक्षपात दिखाऊँ तो आशा है कि आप मुझे अवैदिक नहीं घोषित कर देंगे। आपने षट्चक्र-भेद की बात तो अवश्य सुनी ही होगी। छः चक्रों में पहला और प्रधान चक्र है मूलाधार। एक-एक चक्र एक-एक शक्तिकेन्द्र (centre of force) है, उसमें विस्मित होने की कोई बात नहीं। एक atom ही जब शक्ति का भाण्डार (a magazine of relatively equalibrated energy) निश्चित हो चुका है तो एक नाड़ीकेन्द्र (nerve center—यदि चक्र को यही समझा जाय तो) शक्ति का भाण्डार हो इसमें विचित्रता क्या ? सभी चक्र, विशेष रूप से मूलाधार चक्र (जिसका स्थान मेरुदण्ड के निचले हिस्से में है) महाशक्ति का भाण्डार है ऐसा तन्त्र और योगशास्त्रों में वर्णन है। सामान्य रूप से विज्ञान की भी इसमें सम्मति है। रेडियम अथवा अन्य किसी पदार्थ का एक अणु भी महाशक्ति का भाण्डार है। किन्तु विज्ञान ने अब भी मूलाधार आदि के विशेष अधिकार पर विचार करके नहीं देखा है।

कुण्डलिनी-योग के विषय में यत्किञ्चित् वैज्ञानिक चर्चा मैंने पहले बन्धुवर सर जॉन वुडरॅफ साहब के साथ की थी एवं उस सम्बन्ध की मेरी धारणा को उन्होंने अपने 'शक्ति और शाक्त' नामक ग्रन्थ के अन्तिम परिच्छेद में तथा 'Serpent Power' नामक ग्रन्थ की सुदीर्घ भूमिका के उपसंहार में विस्तार से विवृत किया है। यहाँ हम उस चर्चा में प्रवृत्त नहीं होंगे। अभी तो हमारे सामने प्रश्न यह है कि—मूलाधार यदि शरीर का ही कोई स्नायु-केन्द्र हो तो उसे महाशक्ति का भाण्डार मानने में विज्ञान को कोई आपत्ति नहीं। रेडियम आदि के आविष्कार से पहले ये बातें सुनने पर बहुत से लोग हँसते, किन्तु अब हँसने से अनाड़ी समझे जायेंगे। इस महाशक्ति के भाण्डार का ताला कैसे खोला जाय ? हम पहले ही कह चुके हैं कि वैज्ञानिकों ने अणु के भाण्डार की छटा किसी कोने से झाँककर देख ली है, किन्तु भाण्डार खोलने की चाबी अभी तक उनके हाथ में नहीं आई है।

सर ऑलिवर लॉज ने कहा कि जुगनू यह कौशल थोड़ा-बहुत जानता है, किन्तु योगी लोग क्या सचमुच ही यह भाण्डार खोलने और लूटने का कोई फन्दा निकाल गये हैं ? यदि ऐसा ही हो तो मानव की अभिनव साधना को पुनः योगियों के उपदेश

के समान ही चलना होगा; क्योंकि मनुष्य भी अब सूक्ष्म में विपुल शक्ति का ठिकाना पाकर उसे अपने अधीन करने के लिये बड़ा ही व्याकुल हो रहा है। इसी व्याकुलता के सुर में पश्चिमी देशों के वर्तमान ऋषियों की चिन्ता जो भरी हुई है—"इतनी सारी शक्ति इतने छोटे-से पदार्थ के भीतर है ? उसे कैसे वश में लायें, इस शक्ति के आहरण के लिये बाहर दौड़-भाग करके प्राण-पण से परिश्रम किया गया, तिल-तिल करके सर्दी में ठिठुरकर मरते और भी कितने ही शिशिर बीतेंगे नहीं जानते ! कागज पर पड़ी इस धूल के भीतर ही शक्ति का सागर बँधा हुआ है, वह बन्धन हमारे लिये कौन खोल देगा ?"—यही है पश्चिमदेशों के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों की चिन्ता का ध्रुव (टेक)। तन्त्र और योग कहते हैं—"मा भैः—डरो नहीं, आश्वस्त होओ, मैं उपाय बता देता हूँ, उस उपाय से अपने देह के एक केन्द्र से तुम इतनी शक्ति लूट ले सकते हो कि अणिमा-लघिमा आदि अष्टसिद्धि, अर्जुन के पास उर्वशी के समान, स्वयं ही अभिसारिका बनकर तुम्हारे पास चली आयेंगी, अधीन हो जायेंगी। तुम्हारी इच्छा हो तो उनका वरण कर लेना, न भी वरण करो तो किसीके शाप से नपुंसक होकर तुम्हें अज्ञातवास नहीं करना पड़ेगा।"

इसीलिये ऐसा लग रहा है कि आणविक शक्ति को वश में लाने का कौशल योगियों के पास से सीखा जा सकता है। विज्ञानागार में वह कौशल अभी भी आविष्कृत नहीं हुआ है—वहाँ जो भी मामूली उपाय (Ordinary chemical and physical means) थे वे इस प्रसंग में हार मान चुके हैं। सिद्धाश्रम दावा कर रहा है कि मेरे पास इसका उपाय है। शिवसंहिता, षट्चक्रनिरूपण आदि तान्त्रिक ग्रन्थों में हम देखते हैं कि चक्र ठीक स्थूल वस्तु नहीं हैं, उन्हें सूक्ष्मातिसूक्ष्म ही कहा गया है। उन्हें केवल nerve centre या ग्रन्थियाँ समझना शायद उचित नहीं। प्रसिद्ध दयानन्द सरस्वती ने शव चीरकर प्रत्येक स्थान देखा और चक्रसमूह का कोई ठिकाना न पाकर उनके अस्तित्व में ही सन्देह किया था ऐसा सुनते हैं। रेडियम में से तेजो-विकिरण भी आँख से तो दिखता नहीं, बहुत से यन्त्रों (जैसे spectroscope) से भी नहीं पकड़ में आता, इसीलिये क्या उसका अपलाप ही हो जायेगा ? या उसके सन्धान को भँगेड़ी की गप कह दिया जायेगा ?

अच्छा, मान लीजिये, चक्र अतिसूक्ष्म वस्तु हैं। खूब छोटी वस्तु को अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा बड़े रूप में देखने की व्यवस्था है, वैसे ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म चक्रों को भी चिन्तन के समय बड़े रूप में जानने की व्यवस्था है। एक-एक चक्र में कितने सारे क्रिया-कलाप समझने होंगे ? अब ये सूक्ष्म चक्र एटम, इलॅक्ट्रोन आदि के समान सूक्ष्म हैं या नहीं इसकी चर्चा से यहाँ कोई लाभ नहीं। प्रसङ्ग आने पर एटम और चक्र या system की बात आप स्मरण रखियेगा। इन चक्रों में प्रचुर शक्ति न्यस्त है।

सिद्धाश्रम कहता है—मैं उपाय बता देता हूँ, उस उपाय से इस शक्ति को तुम काम में लगा पाओगे। वह उपाय है कुम्भक, मन्त्रयोग आदि। विज्ञानागार यह उपाय अभी नहीं जानता; इसीलिये आणविक शक्ति को कैसे काम में लगायें इसका कोई ओर-छोर उसे नहीं मिल रहा है। आकाश में उड़ने की इच्छा है? आणविक शक्ति द्वारा यह पूरी कर पाते तो कितना अच्छा होता, किन्तु क्या करें वह शक्ति तो हमारे लिए अदृश्या, अभोग्या है, भले ही अब सर्वथा अस्पृश्य नहीं रही है। इसीलिये पेट्रोल जलाकर वायुयान चलाना पड़ रहा है। उसमें झंझट और विपद् बहुत है। किन्तु करें क्या? सिद्धाश्रम कहता है, मूलाधार चक्र में कुल कुण्डलिनी शक्ति को प्राणायाम और ध्यान द्वारा उद्बुद्ध कर लो, फिर वायुयान की आवश्यकता नहीं रहेगी। अपने-आप शरीर आकाश में उठ जायेगा। शिवसंहिता कहती है—

> **"यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।**
> **तस्य स्याद् दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागः क्रमेण वै॥"**

अर्थात् मूलाधार चक्र में संयम करने से दार्दुरी गति एवं क्रमशः भूमित्याग होता है।

पहले के एक निबन्ध में प्राणायाम की विस्तृत चर्चा के प्रसङ्ग में हमने दिखाया था कि भूमि-त्याग करके शून्य में उठना हो तो पृथ्वी के आकर्षण के विरुद्ध हमें कैसी चेष्टा करनी होती है। इतना तो अनायास ही समझ सकते हैं कि पृथ्वी की विपरीत दिशा में गति के लिये पृथ्वी की अपेक्षा अधिक बलशाली आकर्षण अपेक्षित है। किन्तु प्रश्न यह है कि वह अधिक बलवान् आकर्षण उत्पन्न कैसे किया जाय? मन्त्र द्वारा, कुम्भक द्वारा अथवा अन्य किसी उपयुक्त उपाय द्वारा मूलाधार चक्र की आणविक शक्ति को अपने वश में लाकर बहुत सम्भव है कि हम यह विभूति प्राप्त कर लें। विज्ञान ढेरों यन्त्र बनाकर, पेट्रोल जलाकर बहुत कठिनाई से जो सिद्धि प्राप्त कर रहा है, योगी मूलाधार चक्र के शक्ति-व्यूह को अपनी आवश्यकतानुसार नियुक्त करके यही सिद्धि प्राप्त करते हैं—यही सिद्धाश्रम का दावा है।

इस दावे को अस्वीकार करने से पहले परीक्षा करके देखनी होगी, चाहे स्वयं करें या किसी दूसरे द्वारा करवायें। असली बात यह है कि इन बीस-पचीस वर्षों से विज्ञान जिस आणविक शक्ति को काम में लगाने के लिये उतावला हो उठा है, किन्तु कोई कूल-किनारा नहीं पा रहा है, सिद्धाश्रम कहता है कि एक प्रक्रिया द्वारा उसी शक्ति को व्यवहार में लाने का उपाय दिखा देगा।

मूल चक्र में जो शक्तिराशि स्थित है, उसको कुण्डलिनी क्यों कहा जा रहा है—इस पर विचार आवश्यक होने पर भी हम यहाँ नहीं करेंगे। मुझे तो लगता है कि अणु के भीतर की शक्ति का जो नक्शा है, वह संभवतः कुण्डलाकृति है। जे० जे०

टॉम्सन, रादरफोर्ड, निकल्सन, रैमजे आदि वैज्ञानिक अणु के भीतरी भाग का नक्शा आँकने के लिए बहुत समय से सचेष्ट हैं। अन्त तक वह नक्शा कैसा उतरेगा यह अभी कहना कठिन है। तब भी अणुओं के भीतर शक्ति का विन्यास मोटे तौर पर कुण्डलाकृति (rotatory) है इतना तो निःसंशय कहा जा सकता है।

टॉम्सन साहब के मत से एक—'uniform sphere of positive electrification' के बीच दाने-दाने negative charges विविध प्रकार से नाना संख्याओं में चक्कर काट रहे हैं। निकल्सन साहब के मत से Positive charges भी अविभक्त (continuous) अवस्था में नहीं हैं वह भी अणु के भीतर टुकड़े-टुकड़े रूप से हैं। किन्तु इस मत में भी चक्कर है। इस प्रकार शक्ति के आवर्त या चक्कर काटने की बात पर सभी सहमत हैं। यह चक्कर काटनेवाली शक्ति ही कुण्डलिनी शक्ति है।

यह चित्र आँकने में वैज्ञानिकों को परीक्षा की सुविधा भी मिली है, किन्तु अधिकांश अनुमान एवं गणना आदि पर ही वे निर्भर हैं। किन्तु सिद्धाश्रम कहता है—योगी ध्यान में साक्षात् देख पाते हैं कि किस प्रकार शिव-बिन्दु के चारों ओर शक्ति-बिन्दु चक्कर काट रहे हैं। आइन्स्टाइन आदि के समान देश और काल को एक करके देखने पर ये चक्कर काटते हुए बिन्दु एक स्थिर वक्र रेखा (fixed curve) में परिणत होते हैं। यह जो स्थिर रेखा है यही तन्त्र की 'सार्धत्रिवलयाकारा, प्रसुप्तभुजगाकारा' कुण्डलिनी शक्ति है। यह बात समझना कुछ कठिन है। पहले एक दिन इसी शक्ति-बिन्दु का प्रसङ्ग उठाकर मैंने आपमें से बहुतों को अधीर कर दिया था। आज फिर देश और काल के समन्वय की व्याख्या यहाँ जोड़ दूँ तो आप शायद इसी क्षण मेरे प्रति 'हड़ताल' कर बैठेंगे।

जो भी हो, आणविक शक्ति को, शक्ति के सूक्ष्म अव्यक्त भाव को, व्यवहार में लाने का एक उपाय सिद्धाश्रम ने निकाला है—यही महत्त्वपूर्ण है, एवं इसी दिशा में विज्ञान की दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट होनी चाहिये। हमने पहले कहा है, मानवात्मा एक समस्यापूर्ण सन्धिस्थल पर आ खड़ा हुआ है, जहाँ प्राचीन सामग्री पर ही सन्तुष्ट होकर निश्चिन्त पड़े रहने से निर्वाह नहीं, और नवीन की ओर साहस करके आगे बढ़ने का सुव्यवस्थित पथ भी खोजे नहीं मिल रहा है। रेडियम आदि ने अवतीर्ण होकर हमारे लक्ष्य को एक प्रकार से स्थिर कर दिया है—वह लक्ष्य है आणविक शक्ति के भाण्डार पर अधिकार पाना। किन्तु किस पथ से उस लक्ष्य पर पहुँचा जाय ? प्राचीन विद्या कहती है—वह पथ है योग; उस पथ का पता विज्ञानागार में अब तक नहीं मिल पाया है, सिद्धाश्रम में मिलेगा। बात को परखकर देखने की आवश्यकता है।

वस्तुत: मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञान की कार्यप्रणाली का मोड़ घूम जाने का शुभ मुहूर्त आ गया है। उन वेकन आदि के बाद से विज्ञान की दृष्टि, आस्था और ममता बाहर के जगत् पर थी। कोयला जलाना होगा तब इञ्जन चलेगा, ट्राम चलेगी, तेल जलाना होगा तब मोटर चलेगी, वायुयान उड़ेगा—यह धारणा विज्ञान में बद्धमूल हो गई थी। एटम, मॉलिक्यूल आदि मानो 'बिलियर्ड' खेल की गेंद हैं, जो बाहर से टक्कर खाकर हिलते-डुलते हैं। उनका भी क्या कोई अन्तःपुर है ? कोई महाशक्ति का भाण्डार है ? पहले के वैज्ञानिक आणविक शक्ति की वात मुँह पर भी नहीं लाते थे। किन्तु रेडियम आदि के मञ्च पर उतरने के बाद से लगता है कि विज्ञान की दृष्टि फिर भीतर की ओर मुड़नी शुरू हो गई है। अव विज्ञान सोच रहा है—अरे ! जिसे बहुत छोटा मानकर तुच्छ समझ रखा था उसके भीतर तो इतनी शक्ति वर्तमान है कि उसे वश में ला पाने पर मैं ब्रह्मा, विष्णु या महेश हो सकता हूँ। बाहर दौड़-भाग करने की क्या आवश्यकता ? कोयला, पेट्रोल जलाकर 'आनन्दमय' की इस सुनहली सृष्टि को श्मशान जैसा विकृत-कुत्सित बना देने की क्या जरूरत ? कोई एक एटम ले बैठने से ही काम हो जायेगा। बाहर का एटम लेने की भी क्या आवश्यकता ? अपने शरीर के ही किसी सूक्ष्म केन्द्र में साधना करने से ही काम हो जायेगा। वहाँ इतनी शक्ति है, एवं इतनी शक्ति प्रकट की जा सकती हैं कि हमारे लिये कोई भी सिद्धि दुर्लभ नहीं रहेगी, और वह साधना भी घर बैठे ही होगी—साधना है उस शक्ति का उद्बोधन।

अच्छा, साधना तो कर लेंगे, लेकिन उपाय (तरीका) कौन वतायेगा ? मांस, अण्डे आदि खाये विना, विशेष प्रकार के 'सैण्डो'—व्यायाम किये बिना भी देह में अमानुषिक शक्ति जगा लेना विचित्र नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि शरीर के एक रेणु में भी प्रायः ब्रह्माण्ड चलाने के लायक शक्ति वर्तमान है।—किन्तु गुरु कहाँ हैं जो हमें चलने का मार्ग दिखायें, हमें शक्ति-मन्त्र से दीक्षित करें, जिनके प्रसाद से हम सिद्धि, और सिद्धि से भी बड़ी शान्ति प्राप्त कर सकें।—विज्ञान के मर्मस्थल में यही चिन्ता और प्रार्थना जाग उठी है। अब श्रीगुरु का आसन डोलेगा क्या ?

जिस विशेष उपाय द्वारा शक्ति के भाण्डार को अपनी आवश्यकता की पूर्ति में लगाया जा सकता है उसका पारिभाषिक नाम योगशास्त्र में है—संयम। पातञ्जल-दर्शन का पूरा विभूतिपाद पढ़कर देखिये, इस संयम या मानसिक अभिनिवेश का प्रयोग बाहर की वस्तुओं पर उतना नहीं, अपने भीतर ही इस संयम का प्रयोग करके विविध प्रकार की सिद्धि या विभूति प्राप्त की जा सकती हैं। मान लीजिये, भूत-जय करना है। Radio-activity की चर्चा में हम कह चुके हैं कि सभी भूतों के अणुओं के भीतर टूटना-गढ़ना नित्य ही चल रहा है। यही भूत पदार्थों का विवर्तन—Evolution of

matter है। एक भूत विवर्तित होकर कुछ और बन रहा है, वह भी फिर कुछ और बन जायेगा। रेडियम अन्य किसी पदार्थ से उत्पन्न हुआ है और अन्य ही किसी पदार्थ को उत्पन्न कर रहा है।

वस्तुतः विभिन्न भूतों के सम्बन्धि-बन्धुओं या जातभाइयों का आभास हमें स्पष्ट ही मिलता है। Strutt साहब ने देखा था कि किसी भी जड़ द्रव्य में अन्य सब जड़ द्रव्यों का धर्म थोड़ा-बहुत विद्यमान रहता है, कोई भी जड़-धर्म दूसरों से सर्वथा अछूता नहीं है। उनसे पहले मेण्डिलिफ आदि ने दिखाया था कि संगीत में जैसे सुरों का सप्तक या ग्राम है, उसी प्रकार Chemical elements की धर्मावली (धर्मसमूह) के भी ग्राम हैं। एक ग्राम के elements में जो धर्म दिखते हैं, दूसरे ग्राम के elements में उन सब धर्मों की पुनरावृत्ति देखी जाती है।

इसीलिये बहुत समय से मन में प्रश्न उठता था कि सभी elements मूलतः क्या एक ही नहीं हैं? एक भूत अन्य भूत के रूप में विवर्तित हो सकता है कि नहीं? बहुत लोग इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देते थे; किसी-किसीने मूलवस्तु का नामकरण किया था—Protile, किन्तु Radio-activity ने प्रकट होकर उस अनुमान को प्रायः सत्य ही प्रमाणित कर दिया है। हिकेल आदि जैसे जीव-जन्तुओं की वंशावली तैयार कर रहे थे, वैसे ही रादरफोर्ड आदि धीरे-धीरे जड़ पदार्थों की वंशावली (Geneaological tree) बना रहे हैं। अतएव सभी भूतों का एक मूलभूत होना, एवं भूतों में परस्पर रक्त-सम्बन्ध होना, तथा एक भूत की अन्य में परिणति—ये बातें अब अविश्वसनीय नहीं रही हैं। किन्तु पहले की तरह ही यहाँ भी कठिनाई यह है कि इन भूतों का विवर्तन हम अपनी इच्छा के अनुसार नहीं कर पा रहे हैं। प्रकृति चुपचाप यह तोड़ना-बनाना, विवर्तन करती रहती है। हम उसे देखते हैं किन्तु मिट्टी को सोना बना लें, पत्थर के कोयले को सच्चा हीरा बना लें (यहाँ तो पदार्थ भी नहीं बदलता, allotropic modification होता है)—ऐसा पारस पत्थर हम आज तक नहीं जुटा पाये हैं। इसीलिये 'भूत-जय' की बात सुनकर आज विज्ञानागार में कोई भले ही हँसे नहीं, किन्तु वैसी सिद्धि का उपाय वहाँ अभी कोई दिखा नहीं पा रहा है। इस समस्या में हमें पुनः सिद्धाश्रम की ओर ही यात्रा करनी होगी।

पातञ्जल-दर्शन के तृतीय पाद के ४४वें सूत्र का तात्पर्य यह है कि संयम द्वारा किसी भूत की पाँचों अवस्थाओं पर विजय प्राप्त होने पर उस भूतसम्बन्धी भूत-जय हो जाती है। अर्थात् भूत की स्थूल, सूक्ष्म आदि पाँच अवस्थाओं पर 'संयम' करना होगा। वह होने पर, व्यासभाष्य की भाषा में—"तत्र पञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूत-जयी भवति, तज्जयाद् वत्सानुसारिण्य इव गावो अस्य संकल्पविधायिन्यो भूतप्रकृतयो

भवन्ति ।"—वछड़े के पीछे-पीछे जैसे गाय दौड़कर आती है वैसे ही योगी के संकल्प के अनुसार ही निखिल भूत-प्रकृति विवर्तित होती है। योगी जहाँ जैसा संकल्प कर ले वह भूत वैसा ही हो जायेगा। वे सचमुच ही मिट्टी को सोना वना दे सकते हैं। इसके भीतर का रहस्य फिर कभी और भी स्पष्ट करके कहेंगे। आज के लिये इतना ही कहना है कि वैज्ञानिक बीस-पचीस वर्षों से भूतजय का एक फन्दा खोज रहे हैं, एक वस्तु का वदलकर (chemically different) दूसरी वस्तु वन जाना आँखों के सामने देख रहे हैं। विज्ञान की वड़ी साध है इस नित्य संहार और सृष्टि का भार वह कुछ अपने हाथ में भी ले पाये। विज्ञानागार में तो पूँजी प्रायः समाप्त हो चली है, अव सिद्धाश्रम की शरण गहे विना और कोई गति है क्या ?

ऋ० ११।१।३ ऋचा में अग्नि को विष्णु और विद्वान् कहा गया है। विष्णु का अर्थ है सर्वव्यापी। इस सर्वव्यापी अग्नि को पहचानते समय ही हम अणु के अन्तःपुर में घुस पड़े थे। तभी हमने देखा कि केवल स्थूल में नहीं, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वस्तुओं के भीतर भी अग्निकाण्ड चल रहा है, जिसके फलस्वरूप पदार्थों में नियत संहार और नियत सृष्टि चल रही है। Radio-activity लेकर इस बात को समझने का हमें खूब सुयोग मिला है। साथ ही साथ और भी एक वड़ी बात हम बहुत कुछ समझ सके कि क्षुद्र के भीतर विराट् शक्ति क्रीड़ा कर रही है; एवं नवीन विज्ञान की समझ में न आनेवाले किसी उपाय से उस शक्ति को व्यवहार में लगा पाने पर मनुष्य असाध्य-सात्रन कर सकेगा, शायद ईश्वरत्व ही प्राप्त कर लेगा।

इस प्रसङ्ग में नवीन विज्ञान के सामने जो समस्या आई है, वह आप लोगों को सुनाई, एवं उस समस्या की पूर्ति के लिये विज्ञान को किस प्रकार अपना चिर-परिचित परीक्षागार छोड़कर सिद्धाश्रम की ओर तीर्थयात्रा करनी होगी, वह भी आपको सुनाना बाकी नहीं रखा। वैज्ञानिक अनुसन्धान की पूर्णता अब योग के 'संयम' में जाकर होगी। वहाँ तक गये बिना विज्ञान की 'न ययौ न तस्थौ' अवस्था समाप्त नहीं होगी। उसकी दृष्टि के सामने अभीष्ट तीर्थयात्रा का पथ ठीक, सरल और सुस्थिर रूप से प्रसारित नहीं होगा। तथा इसी प्रकार नवीन विज्ञान को शिष्य के रूप में वरण किये बिना प्राचीन वेदविद्या की भी पूरी सार्थकता नहीं; मनोनुकूल शिष्य मिलने पर ही गुरु उसमें अपने-आपकी पुनः परख-जाँच कर पायेंगे।

आज के उपसंहार में यही कहना है कि वेद में अग्नि को बहुधा स्थूल रूप में देखा जाने पर भी, अन्त तक उसे विष्णु ही समझा गया है। Radio-activity पर्यन्त अग्नि की दौड़ है कि नहीं, यह संशय मन में मत उठाइयेगा। ऋषियों ने अग्नि को किसी भी सीमा में बाँधा नहीं है। १०।३।६ ऋक् कह रही है—'अग्नि का स्वभाव

है अग्रसर होना और सभी दिशाओं में विस्तीर्ण होना।' यह लक्षण केवल स्थूल अग्नि का नहीं है। १०।५।७ ऋक् कहती है—'अग्नि सत् एवं असत् दोनों ही हैं, वह परम-धाम में है, वह आकाश के ऊपर सूर्यरूप से उत्पन्न हुआ है, वह यज्ञ के पूर्ववर्ती काल में भी अवस्थित था। वह वृषभ भी है, गाय भी, अर्थात् स्त्री और पुरुष दोनों ही उसके रूप हैं।' इस अग्नि को सीमा में बाँधकर रखा जा सकता है क्या? १०।५६।१ ऋक् कहती है—'तुम्हारे तीन अंश हैं। स्थूल अग्नि तुम्हारा एक अंश है, वायु तुम्हारा दूसरा अंश है, और ज्योतिर्मय आत्मा तुम्हारा तीसरा अंश है।' इन तीन अंशों (अग्नि, वायु, सूर्य) द्वारा तुम प्रवेश करते हो। सभी भूतों में निगूढ़ अग्नि का यह कैसा कीर्तन है? १०।८८।१८ ऋक् कहती है—'हे पितृगण! तुमसे पूछता हूँ कि अग्नि कितने हैं, सूर्य कितने हैं, उषायें कितनी हैं, जल कितने हैं?'—प्रश्नों की इस शैली से समझ में आता ही है कि अग्नि को कोई भी एक विशिष्ट रूप देकर पकड़ रखने की व्यवस्था करने को ऋषिगण राजी नहीं थे। इसीलिये कहने का साहस होता है कि अणु के भीतर विप्लव और तेजोविकिरण चल रहा है,—यह जो हम जान पाये हैं, वह सचमुच ही अग्निकाण्ड है। ●

सत्रह

अदिति, अग्नि और मेघ

आज से हमें अग्नि-परीक्षा में प्रवृत्त होना होगा। आशा करता हूँ, आप अदिति की बात भूले नहीं होंगे। अदिति देवों की माता हैं। जगत् के मूल में एवं जगत् में ओतप्रोत रूप से जो अपरिच्छिन्न, अखण्डित वस्तु वर्तमान है, वही अदिति है। ऋग्वेद का वही—"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्"—इत्यादि स्मरणीय है। चरम रूप से देखने पर यह वस्तु चैतन्य है—यह हम मोटामोटी उस दिन समझ गये थे। देश, काल, ईथर आदि के साथ इस चिद्वस्तु का सम्पर्क भी उस दिन कुछ-कुछ देख पाये थे। संक्षेप में कहें तो चरम दृष्टि से जो वस्तु चैतन्य या आत्मा है, थोड़ा-सा बाहरी दृष्टि से देखने पर वही वस्तु देश, काल, ईथर आदि हैं।

अखण्डित वस्तुओं (Continua) को एक प्रकार से श्रेणी-विभाग से सजाया जा सकता है, उनमें जो सर्वोच्च स्तर की अखण्डित सामग्री है अथवा जो निरतिशय अखण्डित सामग्री (Continuum in the limit) है, वही चैतन्य है, एवं वही परमा-अदिति है, जिसके गर्भ से दक्ष प्रजापति एवं निखिल देवता जन्म ग्रहण करते हैं (ऋ० १०।७२ सूक्त)। इसके आध्यात्मिक रहस्य का विस्तार पिछली बार किया गया है, आपको स्मरण होगा।

अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि अदिति की सन्तान हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।९ अनुवाक्) 'अदितिः पुत्रकामा' इत्यादि में अदिति को पुत्रकामना-युक्त देखते हैं। इसका मर्म यही है कि मूल में अखण्ड वस्तु को विभिन्न दिशाओं से देखें तो विभिन्न देवता हैं, वस्तुतः तत्त्व एक ही है, दूसरा नहीं है। एक ही वस्तु को नाना रूप से देखना ही वस्तु का अनेक होना है। इस प्रकार सभी श्रुतिवाक्यों का पर्यवसान चैतन्य या आत्मा में है। छान्दोग्य में इसी चैतन्य को क्रमशः 'परोवरीयान्'-रूप से अन्वेषण करते-करते अन्त में ज्यायान् और परायण आकाशरूप से पाया गया है (१।९।१)। यह समाचार पहले भी एक-दो बार दे चुका हूँ।

निरुक्तकार के मत से वेद के बहु देवता तीन देवताओं के ही रूपान्तर-मात्र हैं— पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में इन्द्र, वायु एवं द्युलोक में सूर्य। किन्तु यह भी चरम दृष्टि से देखना नहीं है। यह भी एक मोटामोटी हिसाब है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।४।४) अग्नि को अग्रज, जातवेदाः, छन्दोवपुः हव्यवाड् इत्यादि कहता है। पुनः १।२।१ अनु-

वाक् में अग्नि को 'भुवनस्य रेतः' कहा है, और कहा है—'दिवस्त्वावीर्येन । पृथिव्यै महिम्ना । अन्तरिक्षस्य पोषेण ।' स्वयं वेद ने अग्नि को पृथ्वी पर, इन्द्र या वायु को अन्तरिक्ष में और सूर्य को आकाश (द्युलोक) में बाँधकर नहीं रखा है। ऋग्वेद दशम मण्डल के ७५ आदि सूक्त देखने चाहिये। इनमें से प्रत्येक का सर्वव्यापी और सर्वाश्रय वस्तुरूप से यशोगान किया गया है। हम वैसे मन्त्र पहले कुछ-कुछ सुन चुके हैं, भविष्य में और भी विस्तार से सुनेंगे।

कहना यही है कि वेद देवताओं की सीमा बाँधने एवं उनके स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् क्षेत्र निश्चित कर देने को राजी नहीं। यह बात प्राचीन लोग नहीं जानते थे ऐसा नहीं, किन्तु विभिन्न अधिकार और प्रयोजन समझकर एक ही बात को विभिन्न प्रकार से कहते थे। स्वयं वेद ने ही तो सब कुछ एकाकार करके छोड़ दिया है, इसीलिये अन्त तक पूरी बात समझे बिना कौन पार पा सकता है ? संहिताओं में से जिस महावाक्य को खोजकर, संग्रह करके निकालना होता है, उपनिषदों में उसी महावाक्य की शङ्खध्वनि हमारे श्रुतिकुहर एवं बुद्धिगुह्य को सब ओर से आपूरित करती हुई दिखाई देती है।

आज अब अग्नि का परिचय लेंगे। अदिति के गर्भ से ही इसका जन्म है, अतः यह भी उसी अखण्ड वस्तु का ही और एक नाम है। अर्थात् चरम दृष्टि से अग्नि आत्मा अथवा चैतन्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है। सन्ध्या करते समय हम रटते हैं—'प्रणव मन्त्र के ऋषि प्रजापति हैं, गायत्री छन्द है, अग्नि देवता है।' 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म'—छान्दोग्य, गीता आदि अध्यात्मशास्त्रों में हम सुन चुके हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रणव का वाच्य ब्रह्म या आत्मा या वही निरतिशय अखण्डित वस्तु है, जिसकी चर्चा कुछ दिन से हम करते आ रहे हैं। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन लोग अग्नि को ब्रह्म या आत्मा रूप से देखते थे एवं अब भी सन्ध्या में प्राणायाम करते समय केवल अपनी नाक मलकर ही काम पूरा करना न चाहें तो हमें भी अग्नि को ब्रह्म या आत्मा ही समझना होता है।

'यह बात मूल संहिताओं में नहीं थी, बाद में ही इस प्रकार के सब आध्यात्मिक भावों की बातें सोचना आरम्भ हुआ है'—ऐसी-ऐसी साहब पण्डितों या उनके देशी पण्डों तथा छड़ीदारों (सेवकों) की बातों पर आप लोग कान नहीं दीजियेगा। १।१८।१—ऋक् कहती है—"यस्माद् ऋते न सिध्यति...." इत्यादि। यह ऋक् सदसस्पति या अग्नि के प्रति है। जिनके बिना विपश्चितों—ज्ञान-सम्पन्नों का यज्ञ भी सिद्ध नहीं होता, वही अग्नि "धीनां योगमिन्वति"—हमारे मानसिक वृत्ति-समूह के योग को व्याप्त किये हुए हैं। इस पर सायण लिखते हैं—"सोऽयं सदसस्पतिर्देवः धीनां

मनोनुष्ठानविषयाणाम् अस्मद्बुद्धीनामनुष्ठेयकर्म्मणां वा योगं सम्बन्धमिन्वति व्याप्नोति।"
—हमारी मनोवृत्तियों में योग स्थापित करते हुए जो पदार्थ व्याप्त है वह पदार्थ आत्मा या चैतन्य ही है इसमें कोई सन्देहलेश है क्या ?

यहाँ मनोविज्ञान के तर्क नहीं उठाऊँगा, किन्तु हमारा मन एक अनवरत-प्रवाह या धारा (continuum stream) है ऐसा—Ward साहब, William James आदि अनेकों अध्यात्म-व्यवहारवेत्ताओं की वकालत सुनकर सत्य व मान्य तथ्य ही प्रतीत हो रहा है। सागर के जल पर निरन्तर तरंगें उठ रही हैं। धूप अथवा चाँदनी के प्रकाश में हम उस लहरीमाला के शुभ्र-उज्ज्वल मुकुट (crests) ही देख पाते हैं। उन तरंगों में उतराई-चढ़ाई (slopes) हैं, बीच में उपत्यका (hollows, Troughs) भी हैं, इस ओर मानो ख्याल ही नहीं जाता। हमारी धीवृत्तियों (मनोवृत्तियों) के क्षेत्र में भी ऐसा ही हो रहा है। जो मुख्य-मुख्य वृत्तियाँ हैं जिन्हें हमें काम में लगाना होता है, उन्हींमें हमारा विशेष रूप से अभिनिवेश होता है। किन्तु उन मुख्य प्रधान वृत्तियों के बीच-बीच में, उन्हें घेरे हुए बहुत-सी सूक्ष्म और अस्पष्ट वृत्तियाँ भी रहती हैं।

मान लीजिये, भाषण सुनने के लिये आकर हम इस कक्ष की दीवारों पर लगे हुए चित्रों को देखते हुए घूम रहे हैं। एक तरफ से आरम्भ किया। एक चित्र देखा, फिर दूसरा चित्र देखा, फिर तीसरा। इसी प्रकार क्रमशः सब चित्र देख लिये। इस हंस का चित्र देखकर फिर आगे बढ़कर इन गोस्वामी महाशय का चित्र देखा। किन्तु यदि हम पूछें कि एक चित्र के बाद दूसरा चित्र देखने से पहले तक बीच के समय में क्या हमारा मन खाली था ? बीच में क्या हमने और कुछ भी नहीं देखा, नहीं सुना या स्पर्श किया ? उस बीच मन में कोई कल्पना, विचार, चिन्तन नहीं उठा ? एक चित्र के बाद दूसरे चित्र तक पहुँचने के लिये हमें कितनी बार पैर उठाकर आगे बढ़ाने पड़े, उसके लिये मांसपेशियों के सञ्चालन का अनुभव भी करना पड़ा है, वहाँ से यहाँ चलकर आते समय हमारे आँख-कान-नाक बन्द तो थे नहीं और यह स्थान भी रूप-शब्द-गन्ध आदि से सर्वथा रहित नहीं, अतः इस-बीच कुछ-न-कुछ देखा-सुना भी अवश्य है। किन्तु यह सब होने पर भी चित्र देखना ही हमारा प्रयोजन था, इसीलिये इन मध्यवर्ती वृत्तियों पर हमारा ध्यान नहीं गया। हम सोचकर भी यही कहते हैं कि इस बीच के समय में हमारे मन में कुछ भी नहीं हुआ। 'कुछ चित्र देखे' बस इतना कहने में ही उतने समय का सारा अनुभव कह दिया गया, ऐसा हम समझते हैं। पूरे कमरे में घूम-कर हम कुछ चित्र देखने का ही हिसाब देते हैं। किन्तु थोड़ा विशेष ध्यान देते ही हम समझ सकते हैं कि वह हिसाब मोटामोटी ही था, बहुत कुछ उसमें से छूट गया है।

उस दिन कहा था कि देखना-सुनना आदि अनुभवों में हमें बहुत-कुछ छाँट लेना

पड़ता है, विना किसी पक्षपात के पूरी तरह सब कुछ देखने-सुनने जायें तो हमारा काम नहीं चलता। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने मुख्य वृत्तियों को "Substantive states" तथा उनके मध्य के भावों को "states of transition" कहा है। इन स्थूल-सूक्ष्म, स्पष्ट-अस्पष्ट, काम की, वेकार की, सभी प्रकार की धी-वृत्तियों में ओतप्रोत होकर जो वर्तमान है—वही चैतन्य या आत्मा है। प्रत्येक मानस वृत्ति, छोटी हो या वड़ी, अनुभव या ज्ञान की अवस्था-विशेष है। हम ख्याल करें या न भी करें, प्रत्येक वृत्ति एक-एक 'ज्ञान' या 'संवित्' है। स्पष्ट हो या अस्पष्ट—'जानना' तैलधारा के समान अविच्छिन्न रूप से चल रहा है। इस अविच्छिन्न धारा को आत्मा या चैतन्य कहते हैं। आपाततः समय के हिसाव से वता रहा हूँ, इसीलिये उसे धारा कहा। वस्तुतः चैतन्य को धारा कहने-समझने का अभिप्राय मेरा है या नहीं यह विचार अभी नहीं करना है।

अब, वेदमन्त्र 'धीनां योगमिन्वति' कहकर जिस पदार्थ का सन्धान हमें दे रहे हैं, वह चैतन्य या आत्मा है यह हम नहीं समझ सकते हैं क्या? मन्त्र में ही कहा जा रहा है कि यहाँ धीवृत्तियाँ पृथक् नहीं हैं, अर्थात् परस्पर सम्वन्ध-रहित नहीं हैं। एक तरङ्ग के मस्तक और दूसरी तरङ्ग के मस्तक के मध्य जैसे चढ़ाई-उतराई-उपत्यका रहती हैं एवं उनके द्वारा ही दोनों तरङ्गों में संयोग स्थापित होता है, उसी प्रकार स्पष्ट मनोवृत्तियों के वीच-वीच में अस्पष्ट मनोवृत्तियाँ वदन छिपाये रहती हैं, उन सबका हिसाब मिल जाये तो हम देखेंगे कि धीवृत्तियाँ विखरी हुई (discrete) नहीं हैं, उनमें योग या मिलन की व्यवस्था है। इन सब वृत्तियों एवं उनके सन्धि-बन्धन में अन्वित अथवा माला के फूलों में सूत के समान अनुस्यूत जो चैतन्य है, वह चैतन्य ही अग्नि है।

ऊपर उद्धृत ऋक् में आप दो बातों पर ध्यान दीजियेगा। पहली यह कि हमारी मनोवृत्तियाँ कार्यवशतः पृथक्-पृथक् होने पर भी उनमें परस्पर योग है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस पर 'तथास्तु' कहता है। दूसरी यह कि जिस अन्त तक छिद्ररहित अटूट अखण्ड (seamless) 'अदिति'-पट के ऊपर ये सभी प्रकार की स्पष्ट-अस्पष्ट स्थूल-सूक्ष्म चित्तवृत्तियाँ बायस्कोप-फिल्म की तरह अङ्कित होती चलती हैं—वह पट है सदसस्पति अग्नि। बायस्कोप के छायाचित्र अपने आधार-पट से भिन्न ही होते हैं यह अनायास समझा जा सकता है, किन्तु चित्तवृत्ति के आधार रूप से एक आत्मा या चैतन्य वर्तमान है, तथा वह आधार या आलम्बन-वस्तु चित्तवृत्ति की वस्तुओं से अभिन्न नहीं—यह बात हमारे उच्च प्रस्थान के दर्शनों में रहने पर भी पश्चिम के पण्डित इस विषय में एकमत से कुछ कह नहीं पाये हैं।

इस सम्बन्ध में अधिक विचार यहाँ प्रासङ्गिक न होगा, किन्तु जिस वस्तु ने

सभी धीवृत्तियों को संयुक्त करके गाँठ-जोड़कर रखा हुआ है, उसे अग्नि नाम दिया गया; वह कौन सी अग्नि है यह समझने में प्राचीन, अर्वाचीन, प्राच्य, प्रतीच्य कोई भी पक्ष खटका या बाधक नहीं खड़ा कर सकता। इसीलिए मैं कह रहा था कि संहिता अग्नि में आत्मज्ञान या ब्रह्मदृष्टि नहीं करती थीं—ऐसा नहीं है, ठीक 'आत्मा', 'ब्रह्म' या 'चैतन्य' ऐसे शब्दों का प्रयोग इस भाव में वे करें या न भी करें (ऋ० १०।८१ सूक्त में ब्रह्मा का अर्थ परब्रह्म ही है)। संहिता ने उस तत्त्व का उल्लेख आत्मा नाम से न करके अग्नि नाम से किया है, इससे कोई तत्त्व नहीं बदल गया। 'धीनां योगमिन्वति' इस वाक्य का तात्पर्य कहाँ है यह हमें सुस्थिर होकर देखना होगा।

वेद में अग्नि का ऐकान्तिक तात्पर्य यही है। अब दो-चार मन्त्र उद्‌धृत करके दिखाता हूँ कि ऋषि अग्नि को किस आँख से देखते थे। ऋ० १।६९।१ कहती है—'परिप्रजातः·····' इत्यादि। 'हे अग्नि! तुम देवताओं के पुत्र होते हुए भी उनके पिता हो।' मन्त्र कहता है कि अग्नि समस्त जगत् को व्याप्त किये हुए हैं, किन्तु मन्त्र का अन्तिम भाग पहेली-जैसा है। अग्नि देवताओं के पुत्र होते हुए भी पिता कैसे हैं इस पर सायण दो प्रकार से भाष्य करते हैं—''दीव्यन्तीति देवा ऋत्विजः''—देव शब्द का अर्थ ऋत्विक् भी है। अग्नि ऋत्विजों का पुम्-नामक नरक से त्राण करते हैं, अतः उनके पुत्र हैं और उनके पालक होने के नाते पिता भी हैं। तथा —''यद् वा देवानामिन्द्रादीनामेव पुत्रः सन् पुत्र इव दूतो भूत्वा पिता हविर्भिः पालयिता भवसि।''—'यज्ञ में अग्नि ही इन्द्रादि देवताओं का दूत है, इसी कारण मानो पुत्र है, फिर अग्नि ही हवि द्वारा देवताओं का पालन करता है इसलिये उनका पिता भी है।' —ऐसा अर्थ भी बुरा नहीं। किन्तु इसका गूढ़ अर्थ भी है। देवता महाशक्ति की एक-एक मूर्ति हैं। जिस शक्ति के द्वारा जगत् का उदय, स्थिति एवं लय हो रहा है, उस शक्ति को विभिन्न प्रकार से देखने पर विभिन्न देवता मिलते हैं। कहना न होगा कि शक्ति मूलतः चित्शक्ति ही है।

जड़ वस्तुओं में गति (motion) देखकर हम उसके हेतु-स्वरूप शक्ति (force) की कल्पना करते हैं। शरीफा पेड़ से टूटकर पृथ्वी पर गिरा देखकर सोचा कि कोई शक्ति उसे खींचकर फेंक रही है। उसी शक्ति का नामकरण हुआ पृथ्वी का माध्याकर्षण। उस शक्ति की हम कल्पनाभर करते हैं। हम शक्ति का अनुभव करते हैं जब स्वयं चलते-फिरते हैं, अपना शरीर हिलाते-डुलाते हैं या बाहर की वस्तुओं को खींचते या ठेलते हैं, मन ही मन भी जब किसी भी विषय में अभिनिवेश करते हैं, ध्यान-धारणा करते हैं, तब भी शक्ति का अनुभव करते हैं। यह जो अनुभूत और परिचित शक्ति है, यह चित्शक्ति है। बाहर शक्ति का अनुभव नहीं, कल्पना करते हैं—बाहर भी चलना-

फिरना देख पाते हैं इसीलिये कल्पना करते हैं, किन्तु बाहर देखकर की हुई इस कल्पना में शक्ति को चित्शक्ति न समझकर केवल शक्ति ही समझते हैं—जैसे ट्रामगाड़ी के चलने या फल नीचे गिरने के समय।

चित् को छोड़कर शक्ति को लेने का अधिकार हमें वास्तव में कितना है, उसका विचार दार्शनिक करते हैं और करेंगे। मानव की जो दृष्टि शक्ति-मात्र को ही चित्शक्ति या आत्मा की शक्ति के रूप में देखती है, उसको शैशव की दृष्टि—animism, spiritism कहकर हेय मानने का कोई भी उपयुक्त कारण हमें तो दिखाई नहीं देता। बल्कि जड़विद्या (Physical science) जिस matter तथा force द्वारा इस जगत् का विवरण देती है, वह matter and force ही बहुत कुछ मनगढ़न्त कल्पित प्रतीत होते हैं। विज्ञान सारा काम चलाता है एक Euclid की ज्यामिति लेकर—बिन्दु, रेखा, तल, वृत्त आदि लेकर; वे तो अधिकांश मनगढ़न्त धारणायें (concepts) ही हैं; उनके सहारे विज्ञान जिसे matter और force मानकर चलता है वे भी तो सचमुच की वस्तु नहीं, कटी-छँटी फरमाइशी वस्तु हैं।

हम बाहर जैसी वस्तु देखते हैं, विज्ञान उसे अपने लक्षण के साँचे में ढालकर, हाथ-पैर तोड़कर बस अपने अनुकूल बनाकर व्यवहार चलाता है। अपने वनमानुष की हड्डी छुआकर (जादू-टोना करके) विज्ञान उस वस्तु के रूप-रस-गन्ध आदि के बहुत से सचमुच के छिलके उतार फेंकता है, अन्त तक जिस वस्तु को बचाये रखता है वह बस एक मनगढ़न्त भूत है, जो स्थान लेता है, हिलता-डुलता है, किन्तु इससे बढ़कर भी वह कुछ है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

शक्ति के विषय में विचार उठने पर भी विज्ञान वास्तविक शक्ति को 'फार्मूलों' के 'रोलर' के नीचे चित लेटाकर बिल्कुल पीस डालता है। वैज्ञानिक को पूछें कि force क्या है ? Energy क्या है ? momentum क्या है ? Work क्या है ?—वह अवश्य ही प्रत्येक का एक-एक फार्मूला दिखा देगा। ये फार्मूले भी तो पहेली के साँपों की तरह एक-दूसरे की पूँछ निगलते रहते हैं। यह अनुयोग अभी नहीं करेंगे, किन्तु कठिनाई यह है कि इन फार्मूलों की दुष्टता से सत्य का चेहरा इतना बदल गया है कि सत्य को भी अब सत्य न कहकर भ्रम ही कहने की प्रवृत्ति होती है। भारत के तीक्ष्ण-दृष्टि आचार्य रामेन्द्रसुन्दर वैज्ञानिक होते हुए भी वास्तविक तथ्य का नस-नस में अनुभव करते थे और विज्ञान के आयतन (विस्तार) की पहचान हमें मायापुरी के रूप में ही करवाते थे। इसीलिये मैं कह रहा था कि ऋषियों ने देवताओं को चेतन शक्ति के रूप में कल्पना करके बल-बुद्धि का परिचय दिया है—ऐसी बातें सहसा मानने को हम राजी नहीं। हम कहते हैं कि शक्ति आत्मा की ही शक्ति है; चैतन्य की शक्ति है, भीतर हो चाहे बाहर हो। उसी शक्ति के विभिन्न रूप हैं विभिन्न देवता।

अब अग्नि की बात सुनिये। शक्ति को एक नाम दिया जाय 'बल'। वेद में बहुधा अग्नि को बल का पुत्र ("सहसः सूनुः") कहा गया है। दो अरणि-काष्ठ बलपूर्वक रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होता हैं, इसीलिये अग्नि बल का पुत्र है—ऐसी व्याख्या सायण ने दी है। ऋ० १।४५।९, १।२६।१०, १।२७।२ इत्यादि अनेक स्थलों पर अग्नि को बल का पुत्र कहा गया है। इसमें ठीक-ठीक अभिप्रेत क्या है यह हम बाद में समझने की चेष्टा करेंगे। अभी सायण ने जो कहा है वही मान लें। बल-प्रयोग करने पर अरणि-द्वय से अग्नि उत्पन्न होता है इसीलिए अग्नि बल का पुत्र है। बल की उत्पत्ति कहाँ से है ? अरणियों का घर्षण कौन कर रहा है ? आत्मा। वह आत्मा ही अग्नि का चरम अर्थ है यह हम पहले ही कह चुके हैं। इसलिये बात यही स्थिर हुई कि आत्मारूप अग्नि बल-प्रयोग द्वारा अरणि से मूर्त (visible) अग्नि को उत्पन्न करता है। इस प्रकार अग्नि पिता होते हुए भी पुत्र है। किसका पिता और किसका पुत्र है ? --बल या शक्तिरूप देवता का। १।११।२ ऋक् में इन्द्र को 'शवसः पते' अर्थात् बल का अधिपति कहा गया है। १।५७।६ ऋक् में इन्द्र को कहा गया है--'तुम विश्वव्यापी बल धारण करते हो।' इन्द्र या अग्नि या आत्मा अभिन्न हैं। ऋग्वेद दशम मण्डल तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादि वाक्य स्मरणीय हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।१।६) में प्रजापति से पहले अग्नि को उत्पन्न किया गया है। मूर्त परिच्छिन्न अग्नि अमूर्त अपरिच्छिन्न अग्नि का पुत्र है। अग्नि-सम्बन्धी पहेली का ऐसा ही तात्पर्य सङ्गत प्रतीत होता है। एक दिन पहले भी हमने ऐसी ही चर्चा की थी कि अदिति कैसे दक्ष की माता होते हुए भी पुत्री हैं।

अग्नि के अमूर्त-अपरिच्छिन्न रूप का सन्धान हमें अनेकों वेदमन्त्रों में ही मिल जाता है। ऋक् १।६८।१ कहती है—'स्थावर-जङ्गमों के मध्य वर्तमान अग्नि महत्त्व में सभी देवों से अधिक है।' इसी सूक्त की ५वीं ऋक् कहती है—'अग्नि ने आकाश को नक्षत्रों से भूषित किया है। अग्निसमूह तुम्हारी शाखामात्र हैं, हे वैश्वानर! तुम मनुष्यों के नाभिस्वरूप हो, तुम स्तम्भ की भांति लोकों को धारण करते हो। अग्नि स्वर्ग का मस्तक है, पृथ्वी की नाभि है, द्युलोक और पृथ्वी का अधिपति है। तुम्हारा माहात्म्य आकाश से भी अधिक है।' ऋक् १।७७।३ कहती है—'अग्नि विश्व का उपसंहर्ता और उत्पादयिता है।' १।७३।२ कहती हैं—'पृथिवी आदि प्राकृतिक वस्तुओं के मूल तत्त्व या स्वरूप के समान अग्नि परिवर्तनरहित है।' आत्मा की भाँति सुखकर है—"आत्मेव शेवः।" १।२६।९ ऋक् अग्नि को अमर कहती है। १।२७।३ उसे सर्वत्रगामी कहती है। १।२७।११ उसे महत् और परिमाण-रहित कहती है। १।७५।३६ ऋक् प्रश्न करती है—'हे अग्नि, कौन तुम्हारा यज्ञ करने में समर्थ है ? तुम कौन हो ? किस स्थान पर रहते हो ?' १।७३।८ ऋक् कहती है--'तुमने आकाश, पृथिवी

और अन्तरिक्ष को परिपूरित किया है एवं समस्त जगत् की छाया की भाँति रक्षा कर रहे हो।' १।७८।१२ ऋक् अग्नि को सहस्राक्ष, सर्वदर्शी कह रही है। १।७२।१ ऋक् अग्नि को—'वेधसः शश्वतः'—अर्थात् ज्ञानी एवं नित्य कहती है। वहीं दूसरी ऋक् कहती है—'सब अमर देवगण मोहरहित हैं, मरुद्‌गण बहुत कामना करते हुए भी हमारे प्रिय एवं सर्वस्थानव्यापी अग्नि को प्राप्त नहीं हुए।' चौथी ऋक् कहती है—'मरुद्‌गणों ने इन्द्र के साथ उत्तम स्थान में निहित अग्नि को जानकर प्राप्त किया था।' छठी ऋक् में अग्नि को निगूढ़ पद 'गुह्यानि पदा' का उल्लेख है। १।६५।१, १।६७।२-३-४ ऋचायें अग्नि को गुहास्थित कहती हैं। १।६६।४ कहती है—'जो उत्पन्न हुआ है और जो कुछ उत्पन्न होगा, वह सब अग्नि ही है।' १।६७।५ में कहा है—जिस अग्नि ने ओषधियों में अपने-अपने गुण निहित किये हैं तथा मातृस्थानीय ओषधियों में उत्पन्न फल-फूल आदि स्थापित किये हैं, धीरजन उसी ज्ञानदाता, जलों के मध्य रहनेवाले, विश्वायु अग्नि की पूजा करके सब कर्म करते हैं।

ऐसी असंख्य ऋचायें हैं, कहाँ तक उद्धृत करें; केवल प्रथम मण्डल से कुछ थोड़ी-सी यहाँ सुनाईं, क्योंकि साहब-पण्डित लोग समझते हैं कि आरम्भ के मण्डल ऋषियों के आध्यात्मिक उन्मेष से अपेक्षाकृत नीचे के स्तर के हैं। वह भी मान लीजिये, किन्तु उस निचली सीढ़ी पर खड़े होकर भी हमने अग्नि का जो रूप देखा वह भी तो मानो श्रीभगवान् का वही विश्वरूप है जिसे अर्जुन दिव्यचक्षु द्वारा देखकर स्तब्ध-विमूढ़ हो गया था। तात्पर्य यही कि ऋषि वास्तव में ही अग्नि को छोटा, अल्प सामान्य अग्नि नहीं देखते थे, उसका महान् भूमारूप देखते थे। अरणि-घर्षण से उत्पन्न अग्नि, वैद्युताग्नि, सूर्य—ये सभी एक सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वभूतान्तरात्मा अग्नि के ही प्रतीक या संकेत हैं, ऐसा वे देखते थे। १।९५।२ ऋक् कहती है—'दस अङ्गुलियाँ एकत्र होकर अविरत काष्ठ-घर्षण करके वायु के गर्भस्वरूप एवं सभी भूतों में वर्तमान अग्नि को उत्पन्न करती हैं।' दूसरी ऋक् कहती है—'अग्नि के तीन जन्म-स्थान हैं—समुद्र, आकाश और अन्तरिक्ष।' वह नित्य सर्वव्यापी वस्तु है, तब भी उसका विकास समुद्र में वड़वानलरूप से, आकाश में सूर्यरूप से एवं अन्तरिक्ष में विद्युत्‌रूप से है। और अधिक प्रमाण उद्धृत नहीं करूँगा, आप स्वयं ही विचार कर देख लीजिये। वेद में अग्नि केवल सामान्य अग्नि नहीं है इस सम्बन्ध में अब सम्भवतः आपको सन्देह नहीं रहा होगा। साधारण अग्नि वास्तविक अग्नि की एक शाखा-मात्र है, एक अभि-व्यक्तिभर है। मूल वस्तु मानो भारी वृक्ष की तरह बढ़ी हुई सारी सृष्टि में विस्तीर्ण है, हम जिसे अग्नि कहते हैं वह उस विश्व-महावृक्ष की एक शाखा से अधिक कुछ नहीं।

ऋषि-गण भी कभी-कभी सृष्टि के उन्मेष को वृक्ष के विकासरूप से देखते और कहते थे। १०।७२।३-४ ऋचायें सुनिये—

"देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त। तदुत्तानपदस्परि। ३।
भूर्जज्ञ उत्तानपदो। भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत। दक्षाद्वदितिः परि। ४।"

अर्थात् "देवताओं की उत्पत्ति के पहले युग में अविद्यमान से विद्यमान वस्तु उत्पन्न हुई। उसके बाद उत्तानपद से दिशायें उत्पन्न हुई।"........इत्यादि। उत्तानपद का अर्थ सम्भवतः वृक्ष है। यह वृक्ष का दृष्टान्त देने में भी गूढ़ रहस्य है। सृष्टि का कोई न कोई आरम्भ यदि मानना ही हो तो कहना होगा कि वह शक्ति-समूह या प्रकृति की साम्यावस्था है (static, equilibrated condition); तव अर्थात् सृष्टि की सूचना के पूर्व शक्तिसमूह की किसी भी दिशा में अभिमुखीनता नहीं है। थोड़ी-सी शक्ति तो अवश्य वर्तमान है, किन्तु वह इधर-उधर या किसी भी तरफ कार्य नहीं कर रही है।

हम अनुभव में जो दृष्टान्त पाते हैं, केवल उन्हींसे ठीक-ठीक मूल की बात पूरी समझी नहीं जा सकती। वृक्ष के बीज का दृष्टान्त अवश्य कुछ समझा जा सकता है। बीज जब तक बीज-अवस्था में ही पड़ा हुआ है तब तक वह सुस्थिर जान पड़ता है। उसके भीतर जो शक्ति स्थित है, वह मानो किसी भी दिशा में कार्य करके अपने-आपको प्रकट नहीं कर रही है। किन्तु ज्योंही बीज ने अंकुर बनना आरम्भ किया, धीरे-धीरे लता या वृक्ष बनने लगा, तब वस्तुतः उस बीज की भीतरी शक्ति या शक्ति-व्यूह ही निर्दिष्ट दिशा और निर्दिष्ट प्रणाली में काम करने लगते हैं। वट के बीज से जो अंकुर निकला वह क्रमशः पत्ते, डाली, तना, वृक्ष आदि में विकसित होता हुआ वट ही बना, आम या कटहल की तरह नहीं विकसित हुआ। लौकी या काशीफल का बीज ठीक उन्हींके समान ही आकृति-प्रकृति में विकसित हुआ; किसी भी अंग-प्रत्यंग में तिलभर भी अन्तर नहीं आया। इसीलिये मानना होगा कि इस अभिव्यक्ति में बहुत व्यवस्था एवं लक्ष्य के प्रति अभिमुखीनता है।

मूल में जब केवल बीज है, तब उसकी भीतरी प्रकृति में मानो दिग्-विभाग नहीं हुआ है। एक वट का बीज और एक सरसों का बीज हाथ में लेकर देखने पर उनकी आकृति तो भिन्न दिखाई देती है, किन्तु उन नन्हे बीजों के भीतर जो सर्वथा भिन्न दो प्रकृतियाँ स्थित हैं उनका कोई 'विशेष' (मौलिक अन्तर) हम नहीं पकड़ पाते। उनकी प्रकृतियों के अन्तर (विशेषत्व) का पता हमें तभी लगता है जब उन बीजों को मिट्टी में बोकर अंकुर बनाकर देखते हैं कि एक का विकास एक दिशा में हुआ, दूसरे का दूसरी दिशा में। दोनों बीजों में से सर्वथा भिन्न ही प्रकार के अंकुर-पत्ते-शाखा आदि निकले।

ऋषिगण हमें इसी वृक्ष के दृष्टान्त से सृष्टि का उन्मेष समझने का उपदेश

देते हैं। छान्दोग्य में श्वेतकेतु-आरुणि-संवाद (षष्ठ प्रपाठक, द्वादश खण्ड) में न्यग्रोध-फल के दृष्टान्त द्वारा विश्व का कार्यकारण सम्बन्ध समझाया गया है। मूल में शक्ति या प्रकृति की जो अवस्था है उसमें कोई दिशा नहीं है। ज्योंही सृष्टि चलने लगी त्यों ही प्रकृति विभिन्न दिशाओं में परिणत होने लगी। शक्तियों ने मानो directed-ness प्राप्त की। अब हम जिसे शक्ति कहते हैं वे किसी न किसी दिशा में directed हैं। बीज में भी वही है, किन्तु वह अभिमुखीनता इतनी सूक्ष्म है कि हम सामान्य बुद्धि से उसे पकड़ नहीं पाते; इस पकड़ न पाने के कारण ही बीज का उदाहरण देकर प्रकृति का उन्मेष समझने का प्रस्ताव किया गया। अणुवीक्षण यन्त्र में सम्भवतः बीज के भीतरी भाग को पूरी तरह सुप्त नहीं देखा जाता। हमारी साधारण दृष्टि में परदे का व्यवधान है। जो भी हो, अब हम कुछ-कुछ समझ गये हैं कि वेद ने मूल में विद्यमान वस्तु को उत्तानपद या वृक्ष क्यों कहा और उस वृक्ष से ही क्यों सब दिशाओं को उत्पन्न कराया। आरम्भ में एक undirected scalar condition है, उसके बाद directed vector condition होती है। पहले मानो शक्ति (force) की एक अव्यक्त अनिर्वच-नीय अवस्था है, उसके पश्चात् उससे 'lines of force' प्रकट होती हैं। इसी मूल तत्त्व को उत्तानपद एवं दिक्-समूह के जन्म-विवरण द्वारा समझाया गया है।

यह मूलतत्त्व का विचार अभी स्थगित रहे। कहना यही है कि हम जिसे साधारण आग समझते हैं वह वेदोक्त उत्तानपद की ही एक शाखा है। शाखा द्वारा वृक्ष को समझने की चेष्टा की जा रही है। अभी और भिन्न-भिन्न शाखाओं में घूमेंगे नहीं, किन्तु इतना न भूलियेगा कि अग्नि की परीक्षा में हमने आज जो नीति अपनाई, जो सूत्र-प्रयोग किया, इन्द्र आदि अन्य देवताओं के विचार में भी इसी नीति, इसी सूत्र का अनुसरण हमें करना ही होगा। सूत्र खो जाने पर वेद के घोर अरण्य में प्रवेश करके हम दिग्भ्रान्त हो जायेंगे, पथ भूल जायेंगे।

साहब पण्डितों के उच्चारण में जाकर हमारे वेद Veda ('वेदा', बंगला उच्चा-रण से 'भेद') बन गये और शतपथ ब्राह्मण—'छटपटा ब्राहमना' बन गया। यदि हम बहुतों मेंएक को अन्वित देखने की गीतोक्त सात्त्विक दृष्टि या ज्ञान (१८।२०) खो बैठें तो हममें से भी पूर्वजों की पुण्यार्जित धर्मप्रवणता और आस्तिक्य 'भेद' होकर (टूटकर) गिर जाएगा और इस भेद के फलस्वरूप यह 'अतिप्राचीन' collapse का रोगी अवश्य ही 'छटपटाकर' शीघ्र ही मृत्यु पा जाएगा। यह प्राचीन हिन्दू समाज collapse के रोगी के समान पड़ा हुआ है। किन्तु अभी भी उसने तन छोड़ा नहीं है। लक्षण देखकर कभी-कभी मन में आशा भी जागती है कि शायद वह पुनः नवीन बल पाकर उठ खड़ा होगा और 'नाबालिग' विश्वमानव को अपने मङ्गलमय क्रोड में उठाकर शान्त करेगा, धरित्री की धीवृत्तियों को पुनः सनातन कल्याण-मार्ग पर प्रवाहित कर देगा। किन्तु

आजकल collapse भी बहुत सामान्य नहीं रहा है, इसके ऊपर फिर यदि विलायती जुलाब ले लिया जाय तो जैसा कहा था—'भेद', 'छटापट' और 'छुट्टी'.....। इसलिए हमें बहुत सावधान होकर वेद के रहस्यों का अन्वेषण करना होगा।

अभी अग्नि की बात चल रही थी। चरम दृष्टि से वह चैतन्य या आत्मा ही है। अब उन्हें कुछ सीमित करके देखा जाय। आध्यात्मिक रहस्य सुनाने योग्य स्थान पर मैं नहीं खड़ा हूँ। वह भार महाजनों पर है। यहाँ तो मैं उसे छोटा करके देखने और दिखाने के लिए आया हूँ, क्योंकि मेरा लक्ष्य विज्ञान के साथ थोड़ा-सा समझौता करने की ओर है। किन्तु सीमित या छोटा देखने जाकर कहीं सचमुच ही वेद को छोटा ही न कर डालूँ, इसीलिए अदिति और अग्नि के मूल का समाचार जान लिया, घर की खबर भी पहले ले ली। नहीं तो शायद आप लोग सोचते कि मैं ऋषियों के अभिप्राय की छाया का भी स्पर्श न पाकर अदिति को ईथर, अग्नि को विद्युत् या electricity बना दे रहा हूँ। और जो भी कहें, उस दुष्कर्म का अपवाद मुझे नहीं दीजिएगा। मैंने ईथर को अदिति का स्थूल प्रतीक ही कहा है और विद्युत् electricity को भी अग्नि का वैसा ही मोटामोटी प्रतीक कह रहा हूँ। 'प्रतीक' शब्द से भी भ्रम में न पड़िएगा। दो पृथक् वस्तुओं में सादृश्य हो, तो एक को दूसरे का प्रतीक माना जाता है यह ठीक है, जैसे कि जल की तरंगों को वायु या ईथर की तरङ्गों का कुछ-कुछ प्रतीक हम मानते हैं; किन्तु मैं अदिति और ईथर को पृथक् नहीं कर रहा हूँ। अग्नि और electricity को भी अलग नहीं कर रहा हूँ। अदिति निरतिशय रूप से अखण्डित एवं व्यापक वस्तु है। इसीलिए वह ईथर-श्रेणी (series) की पराकाष्ठा है; शुद्ध रूप से खोलकर देखें तो जो वस्तु अदिति है स्थूल रूप से वही ईथर है; अदिति Fact है तो ईथर Fact section। अग्नि और Electricity के प्रसङ्ग में भी यही हिसाब है। ये बातें स्मरण रखते हुए ही वैज्ञानिक की बात सुनियेगा।

अभी प्रश्न यह है कि वेद ने जिस अग्नि को हमें सर्वभूतों में दिखाया—मेघ की विद्युत् और महानस की वह्नि उस विश्वायु अग्नि की ही शाखामात्र है। उसके चैतन्यमान् होने की बात को अभी चाहे छोड़ भी दें, अर्थात् चाहे न भी मानें कि वह वस्तु चैतन्य या आत्मा है, किन्तु चैतन्य को निकाल देने पर बात कैसी बनती है? कहाँ ठहरती है? यह प्रश्न सुनते ही आपने देखा होगा कि किस प्रकार हम अग्नि के बृहत् स्वरूप को छोटा बनाकर, कुछ मनगढ़न्त भी बनाकर, उसे वैज्ञानिक के परीक्षागार में ले जा रहे हैं। मनगढ़न्त इसलिए कहा कि चैतन्य या अनुभव (Experience) के अतिरिक्त और सभी कुछ किसी न किसी रूप में मनगढ़न्त ही है। जिसका वस्तुतः अनुभव हो रहा है उसे उड़ा देने का तो दम नहीं, किन्तु किसी भी वस्तु को अनुभव के

वाहर बैठाना चाहें तो हमें कुछ कल्पना करनी पड़ती है, कुछ छोड़ना भी पड़ता है। आशा है, इस सरल-सी वात के लिए आप दृष्टान्त और प्रमाण का आग्रह नहीं करेंगे।

अच्छा, अग्नि को विज्ञान की बहिर्मुखी दृष्टि से अथवा आधिभौतिक दृष्टि से देखने पर क्या प्रतीत होता है कहिये तो ! क्या केवल Heat या ताप कहने से काम चलेगा ? या विद्युत् electricity कहना होगा ? वेद में भी आध्यात्मिक और आधिदैविक भावों के अतिरिक्त अधिभौतिक भाव की जितनी वातें मिलती हैं, उनका तात्पर्य किस ओर है ?—Heat की ओर या electricity की ओर ? या अन्य किसी ओर ? प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं। दो-चार अग्निमाहात्म्य सुनकर इस प्रश्न के समाधान के लिए कोई कसौटी (test) मिलने की आशा कर सकते हैं। किन्तु इतना कह रखूं कि ऋषियों ने अग्नि को सूक्ष्म, मध्यम, स्थूल—अनेकों प्रकार से देखा है, इसलिये वेदोक्त अग्नि का कोई-कोई परिचय सुनकर यदि हमें प्रतीत हो कि अग्नि electricity जैसी वस्तु है, फिर और कोई परिचय सुनकर लगे कि वह ताप जैसी कोई क्रिया है—तो पहले के विपरीत दूसरा परिचय देखकर यह न मान बैठें कि पहली समझ व्यर्थ या भ्रान्त थी। विज्ञान की शक्तियाँ और विविध क्रिया-कलाप पृथक्-पृथक् बंटवारा करके नहीं बसे हैं। विज्ञान का परिवार 'एकान्नवर्ती' परिवार है। असख्यों संयुक्त परिवार के सदस्य कार्य कहीं भी किया करें, रसोई सबकी एकत्र है।

अब १।९५।४ ऋक् पुनः सुनिये—'अन्तर्हित अग्नि को तुम लोगों में से कौन जानता है ? वह अग्नि पुत्र होते हुए भी माताओं को जन्म देता है।' पहले ऐसी एक ऋक् से आपको वैदिक नमूना दिखाया था—'वत्सः मातॄः जनयत' ऐसा वाक्य है। सायण ने अर्थ किया है—वैद्युताग्नि मेघरूप पुत्र होते हुए पुनः वर्षा-जल का कारण बनता है क्योंकि पार्थिव अग्नि में जो हव्य अर्पित होता है वही सूक्ष्मरूप से आदित्य-मण्डल में जाकर वृष्टि उत्पन्न करता है—बात विचित्र जान पड़ती है। गहराई से देखने योग्य है। अग्नि जल का गर्भ—यानी पुत्र-स्थानीय है—यह वात बहुत मन्त्रों में है; फिर अग्नि जल की गर्भरचना करते हैं—अग्नि के साथ मिलकर, अग्नि को धारण करके ही मेघ और वर्षा होती है—इस बात के भी बहुतेरे प्रमाण हैं। ऊपर उद्धृत मन्त्र के भाष्य में सायण ने 'अन्तर्हित' विशेषण कहा है, ध्यान दीजियेगा। १।७०।२ ऋक् कहती है—'गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्च रथाम्' इत्यादि। अर्थात् अन्तर्हित रूप से अग्नि सभी भूतों में वर्तमान है। अग्नि जल के गर्भ में वास करता है, फिर जल को उत्पन्न भी करता है ऐसा श्रुति क्यों कहती है ?

और भी एक ऋक् सुनिये (१।९५।८)—"जब अग्नि अन्तरिक्ष में गमनशील जल से संयुक्त होकर दीप्त और उत्कृष्ट रूप धारण करते हैं, तब वही सभी लोकों के धारक अग्नि सभी जलों के मूलभूत अन्तरिक्ष को तेजस् द्वारा आच्छादित करते हैं।

अग्नि द्वारा विस्तारित यह तेज संहत होता है।" सायण का वाक्य है—"तेजसां संहतिर्भवति"। इस मन्त्र का सही तात्पर्य क्या है ? १।६५।२ ऋक् कहती है—"अग्नि उदक के गर्भ में प्रादुर्भूत है, उदक-समूह उस अग्नि का गोपन करने के लिये बढ़े।" यहाँ ५वीं ऋक् कहती है—'जल के मध्य बैठे हंस की भाँति अग्नि जल में प्राणधारण करता है। वह गर्भस्थ पशु की भाँति जल के मध्य था, बाद में प्रवर्धित होने पर उसकी प्रभा सुदूरपर्यन्त विस्तीर्ण हुई।' अग्नि की गुहालीनता की बात भी हम पहले सुन चुके हैं। विज्ञान को इन सब मन्त्रों पर भाष्य लिखने की आवश्यकता होगी क्या ? जल और अग्नि के सम्पर्क की बात बाद में कभी और भी विस्तार से कहेंगे। आज जो दो-एक मन्त्र उद्धृत किये उन पर विज्ञान क्या भाष्य लिखता है उसे ही देखकर अभी छोड़ देंगे।

'Ion' शब्द का लक्षण शायद आप भूले न होंगे। किसी भी द्रव्य का दाना (particle) यदि थोड़ी-सी ताड़ितशक्ति (Positive या negative electricity) वहन करते हुए घूमे तो वह charged particle ही ion होता है। किसी भी तरल या वायवीय पदार्थ के दाने यदि इसी प्रकार electric charge के वाहन बन जायें तो उस तरल या वायवीय पदार्थ को 'ionised' कहा जाता है। मान लीजिये, कोई गैस है। उसके ionised होने से क्या होगा ? वह गैस तड़ित् परिचालक वस्तु (conductor of electricity) हो जायेगी। इस गैस में कोई भी तड़ित्-वाहक द्रव्य रहे तो तड़ित् इतस्ततः फैल जायेगी। जो द्रव्य उसे वहन कर रहा था वह क्रमशः खाली हो जायेगा। इसको विज्ञान में 'Leak' होना कहते हैं। गैस को ionised करने के बहुत से उपाय हैं। x-rays अथवा ultra-violet किरणों का सम्पात, रेडियम-जातीय पदार्थों का सान्निध्य इत्यादि अनेक कारणों से गैस के सूक्ष्म कण तड़ित्-वाहक हो सकते हैं। जो भी हो, हमने संक्षेप में समझ लिया कि 'ionisation of gas' क्या है।

अब एक और बात पर ध्यान दीजिये। वैज्ञानिकों को बहुत समय से ज्ञात था कि 'Gases from flames are conductors of electricity. Sir J. J. Thomson के ग्रन्थ में से एक अंश पढ़कर सुनाता हूँ—"The gases which come from the flame, even when they have got some distance away from it and have been cooled by the surrounding air, possess for some time considerable conductivity and will discharge an isolate conductor placed within their reach. The conductivity can be taken out of the gas by making it pass through a strong electric field. This field abstracts the ions from the gas, driving them against the electrodes so that when the gas emerges from the field, although

its chemical composition is unaltered, its conducting power is gone........If not driven out of the gas by an electric field, the ions are fairly long-lived. Giese noticed that the gas regained appreciable conductivity 6 or 7 minutes after it has left the flame. The ions stick to any dust there may be in the air and then move very slowly so that their rate of recombination becomes exceedingly slow........To produce the ionised gas, high temperature as well as chemical action is required. That chemical action is in-sufficient to produce ionisation is shown by the case of hydrogen and chlorine which do not conduct (electricity) even when combining under ultra-violet light."

इस सम्बन्ध में बहुत-बहुत परीक्षण वैज्ञानिकों ने किये हैं और कर रहे हैं; हमें इतनी बात मिली कि अग्निशिखाओं में जलकर द्रव्य गैस वनकर ऊपर उठने लगे तो उसके सूक्ष्म कण (ions) तड़ित्शक्तियुक्त (charged) हो जाते हैं। आकाश में धूल के कण मिलें तो ये ions उन पर सवार हो जाते हैं। अब मान लीजिये, मैंने यज्ञाग्नि में आहुति दी। हवन किया हुआ द्रव्य (वस्तु) अवश्य कुछ-कुछ अंश में धुआँ वनकर ऊपर उठ रहा है। इस ऊपर उठने से भी लाभ है। फिर उस हुत (हवन किये हुए) द्रव्य के कुछ अंश गैस बनकर अग्निशिखा से निकल रहे हैं—तीव्र ताप और रासायनिक संयोग—इन दो अनुष्ठानों में से किसीकी भी वहाँ कमी नहीं है। फल क्या होगा ? उस हुतद्रव्य का गैस ताड़ितशक्तिविशिष्ट--ionised हो उठेगा। अग्निशिखा छोड़कर बहुत दूर जाने पर भी एवं ठण्डा हो जाने पर भी गैस-रेणु अपने 'charge' को सहज में त्यागपत्र नहीं देंगे। खास Cavandislh Laboratory से इस्तीफा देने को राजी नहीं, क्या किया जाय ? वे Ions धूमकणों या धूलिकणों के साथ जुटकर ऊपर जा सकते हैं।

मान लीजिये, ताड़ितशक्तिविशिष्ट ये कण नभोमण्डल में उड़ चले। फिर क्या होगा ? आप वेदवाक्य में विश्वास करें या न करें—विज्ञान कहता है कि वे सब charged particles ऊपर उठकर वायु के जलीय बाष्प को जमा कर मेघ बना देना चाहेंगे। किन-किन कारणों से जलीय बाष्प घनीभूत होता है इस पर वैज्ञानिक बहुत दिन से परीक्षण, प्रयोग कर रहे हैं। मान लीजिये, एक boilor में से steam बाहर आ रही है। ultra-violet light, x-rays आदि के संस्पर्श से उसको घनीभूत होते वैज्ञानिकों ने देखा है। धूलिकण आदि भी बाष्प को घनीभूत होने में सहायता कर देते हैं, यह भी वैज्ञानिक जान चुके हैं। Thomson साहब लिखते हैं—"The discovery

of the effect of the dust on the condensation of water vapour (by providing the drops to start with a finite radius) produced a tendency to ascribe the formation of clouds in all cases to dust and to dust alone."

Helmholtz एवं Richard कुछ और समझते थे कि केवल धूलिकण नहीं, Ion भी जलीय वाष्प का घनीभाव-केन्द्र बनता है। अर्थात् ताड़ितशक्तिविशिष्ट कणों (charged particles) को केन्द्र बनाकर वाष्प जमकर मेघ बनता हैं। १८९७ में परीक्षणों द्वारा इस बात को प्रमाणित किया गया है।

मेघ बनाने के लिये दो व्यवस्थायें करनी होती हैं। गैस के आयतन को कुछ बड़ा करके उसे ठण्डा होने दिया जाता है, और एक भावकेन्द्र (धूलिकण हो या ion हो) जुटा देना होता है। धूलिकण ही आवश्यक हो ऐसा नहीं है। परीक्षण का फल सुनिये—"Using an arrangement of this nature, Wilson found that where dusty air filled the expansion chamber, a very slight expansion was sufficient to produce a dense fog, if this (fog) was allowed to settle and the process repeated, the air by degrees got deprived of the dust which was carried down by the fog; when the air became dust-free no fog was produced by small expansions."

धूलिकणों की सहायता से जितना घनीभाव किया जा सकता है वह समाप्त हो गया; धूल भी बार-बार कुहासों में धुलकर नीचे गिर गई, अब धूल नहीं है। अब भी यदि वहाँ मेघ बनाना चाहें तो क्या करेंगे ? गैस का आयतन और भी बढ़ा देंगे। "On increasing the expansion beyond 1.38 a much denser cloud was produced in the dust-free gas, and the density of the cloud now increased very rapidly with the expansion. Thus we see that even when there is no dust, cloudy condensation can be produced by sudden expansions if these exceed a certain limit."—इसलिये मेघ बनने के लिये धूलिकण अवश्य ही चाहिये ऐसा नहीं है।

इसके पश्चात् उस गैस में से अनेक प्रकार के ions उत्पन्न करके Wilson साहब ने दिखाया कि गैस यदि कुछ हाथ-पाँव फैला सके (expand हो सके) तो उसके भीतर ions बिखरे रहने पर मेघ बनने की बहुत सुविधा है। रञ्जन-किरणें लेकर परीक्षण किया गया। देखा गया कि गैस कुछ अधिक फैली अवस्था में रहे तो उक्त किरणें उसमें शीघ्र ही घन तथा अस्वच्छ मेघ की रचना कर देती हैं।

गैस फैली हुई है किन्तु अभी उसमें रञ्जन-किरणें नहीं छोड़ी गई हैं। कोई दो-चार जलविन्दु दिखाई पड़ रहे हैं। ज्यों ही किरण डाली गई तत्क्षण अक्षौहिणी सेना की तरह जल-कणिकायें दिखने लगीं। यूरेनियम आदि Radio-active वस्तुओं से जो ions विकीर्ण होते हैं वे भी यह जादू दिखाने में समर्थ हैं। Ultra-violet किरणों में भी यह खेल दिखाने की शक्ति है। "Wilson has also shown that when electricity is discharged from the pointed electrode in the expansion chamber, cloudy condensation is, as in the case of exposure to Rontgen rays, much increased for expansions between 1.25 and 1.38."

और अधिक वैज्ञानिक परीक्षणों के फल-अफल उद्धृत करके पोथी नहीं बढ़ाऊँगा, किन्तु इन सबके साथ पुराने वेद-मन्त्रों के सम्पर्क को आप लोग ध्यान में रखियेगा। यज्ञाग्नि में दी हुई आहुति वायु होकर किस प्रकार वैद्युतिक शक्ति से सम्पन्न हो सकती है, उसका प्रमाण मैंने शिष्ट वैज्ञानिकों के लेखों में से दिया। हाँ, यज्ञ में घी क्यों ढालते हैं, मन्त्रपाठ क्यों करते हैं—इस सबकी कैफियत आज देना सम्भव नहीं। सुतरां विशेष रूप से यज्ञ से ही क्यों पर्जन्य उत्पन्न होंगे यह हम नहीं समझ पा रहे हैं, किन्तु एक बड़ी बात समझ रहे हैं कि अग्नि का जो विद्युत् रूप (ions) है वह किस प्रकार जल के गर्भ की रचना करता है। जिन वैज्ञानिक परीक्षणों की बातें मैंने आपको सुनाईं उनमें भी ions को जल के कण बाँधने के काम में प्रवृत्त देखा ही है।

वेद कहते हैं—"अग्नि जल के भीतर छिपे हुए वर्तमान हैं", "अग्नि गर्भस्थित पशु की भाँति जल के मध्य स्थित था", "अग्नि उदक-गर्भ से प्रादुर्भूत है। उदकसमूह अग्नि को छिपाने के लिये बढ़ा", "अग्नि अन्तरिक्ष में गमनशील जल के साथ संयुक्त हुआ"—इत्यादि भूरि-भूरि वेदवाक्य पहेली की भाषा में अग्नि और जल के सम्पर्क की बात हमें सुनाते हैं। विल्सन साहब के होटल में नहीं, परीक्षागार में इन सब पहेलियों पर ही विशद टीकायें नहीं लिखी जा रही हैं क्या? विद्युत्-कणिका को केन्द्र बनाकर जल के कण बँधते हैं—यह सिद्धान्त पश्चिम देश से आकर 'गुहास्थित' अग्नि के 'निगूढ़ पद' का रहस्य हमारे लिये नहीं खोल रहा है क्या?

यह समझौता करने में अग्नि को विद्युत् समझने का हमारा क्या अधिकार है इस पर जिरह उठाकर व्यर्थ झमेला खड़ा करने से काम नहीं चलेगा। अग्नि का जन्म-स्थान द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्ष हैं—ये सब बातें वेदमुख से सुनकर अग्निदेव को केवल आग मानकर वामन बनाकर कैसे रख सकेंगे? यदि अग्नि को आगभर ही समझें तब भी हम गैस और अग्निशिखा के सम्पर्क के विषय में चर्चा करके देख चुके हैं कि भूतल पर

कोई भी अग्निकाण्ड होने पर उसके फलस्वरूप ions की प्रचुर फसल होती है एवं उन ions का ढेर स्वतन्त्र रूप से हो या धूल-धुएँ के कन्धे पर चढ़कर हो—ऊपर उठकर मेघ जमा दे सकता है।

किसी भी अग्निकाण्ड से ऐसा हो सकता है, यज्ञ का इस कार्य में विशेष कृतित्व कितना-सा है, वह विचार अभी नहीं भी करें, तो भी की हुई चर्चा के फलस्वरूप पाया कि वेद ने विविध संकेतों से अग्नि का जो 'निगूढ़ पद' हमें दिखाया है, विज्ञानागार में अन्वेषण करते-करते जलविन्दुओं के भीतर गर्भस्थ शिशु की भाँति सोये हुए अग्नि का वह पद--आज की अपरा विद्या धाय की तरह सन्तर्पण द्वारा बाहर खींचकर निकाल रही है। हम वेद के संकेत-वाक्यों का मर्म भूल गये हैं; यास्क, सायण आदि ने भी, किसी भी कारण से संकेतों को सर्वत्र खोला नहीं है। जल के गर्भ में शिशु भूमि पर आने के लिये बहुत समय से छट-पट कर रहा था—इतने दिन तक उस चाञ्चल्य का भान हम नहीं पा सके। पश्चिम की धायें बहुत सतर्क हैं। इसीलिये अग्नि ने विद्युत्कुमार के रूप में जन्म लिया तो हमारी काशी या नैमिषारण्य में नहीं, पश्चिम की Cavendish Laboratory में। इसमें अफसोस करने की कोई बात नहीं। किन्तु हाँ, अपने घर के बालक को दूसरे का समझकर उसकी उपेक्षा न करें, इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए। अग्निकुमार के इक्कीस निगूढ़ पदों की बात वेद ने कही है; आज हम केवल एक पद को पहचान पाये हैं। हाँ, पुनः कह रहा हूँ कि यह परिचय आध्यात्मिक नहीं, आधिभौतिक स्तर पर ही है। आध्यात्मिक रूप से शायद जल और अग्नि—प्रकृति और आत्मा हैं। संगीत में गुणी तानसेन ने कहा है—'सप्त सुर तीन ग्राम इक्कीस मूर्च्छना'—वेद की व्याख्या में भी वैसे ही अनेक स्तर हैं।

और एक बात आज प्रसङ्गक्रम से आ गई थी। अग्नि में डाली हुई आहुति आदित्यमण्डल में कैसे जाती है? अग्निशिखा में डाला हुआ द्रव्य ionised होता है। उसके कणों में से कुछ 'धन' तड़ित्, कुछ 'ऋण' तड़ित् को वहन करके बाहर निकलते हैं। सूर्य का charge positive है, उस charge की मात्रा (voltage) भी भयानक है। उसके फलस्वरूप सूर्य negative तड़ित् कणों (electrons) को अपनी ओर खींचना चाहता है। Arrheneus आदि आधुनिक बहुत से वैज्ञानिक इसे स्वीकार करते हैं। इसलिये आहुत पदार्थों की negative तड़ित् कणावली आदित्य की ओर अभिसारिका बने इसकी बहुत सम्भावना है। अभी इतना ही कहकर विराम करते हैं।

॥ श्री हरिः ॥

परिशिष्ट–प्रथम

टिप्पणियाँ एवं सन्दर्भ

ये टिप्पणियाँ और सन्दर्भ मूल ग्रन्थ में लगी संख्याओं के अनुसार हैं। वैज्ञानिकों और चिन्तकों के जो नाम मूल ग्रन्थ में आये हैं, उनके लिये स्वतन्त्र परिशिष्ट (द्वितीय) बनाया गया है। कुछ दूर (पृ० ४१) तक इन नामों पर भी संख्या लगी हैं, पाठक कृपया नामों के लियें इन संख्याओं का अनुसन्धान न करें।

१. गीता २।२७।
२. प्रसिद्ध चार्वाक मत।
३. कालाग्निरुद्रोपनिषद् २; आत्मप्रबोध—१।
४. सांख्यकारिका—५९।

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥

५. एक ऋषि; महाभा० अनु० ४९।३७।
६. देखें परिशिष्ट २।
७. कठोपनिषद् १.१.९ से अन्त तक।
८. छा० उप० ५।४।१ से ५।१०।१० तक।
९. गीता ८।२३-२७।
१०. कठोप० १।२।९।
११. ब्र० सू० २।१।११।
१२. वामनावतार–त्रिविक्रम।
१३. कठोप० १।२।२०।
१४. ऋ० १०।९०।१।
१५. मुंण्डक १।१।३।
१६. अज्ञात सुभाषित।
१७. सुप्रसिद्ध विधिपरक वेदवचन, शतपथब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण में अनेक बार उल्लिखित। मूल में 'यजेत' पढ़ें, 'जयते' नहीं।
१८. देखें परिशिष्ट २।

१९. जैमिनीयसूत्रभाष्य, प्रत्यक्षप्रमाणपरीक्षा का सन्दर्भ ।

२०. ऋ० १।२२।२० ।

२१. दुर्गासप्त १।६८ ।

२२. वही १।६६-६७ ।

२३. यो० सू० १।२५ ।

२४–२७. देखें परिशिष्ट २ ।

२८. संस्कृत का एक वर्णवृत्त, जिसके प्रत्येक चरण में १९ अक्षर हैं ।

२९. शेक्सपियर के नाटक Hamlet के प्रथम अङ्क, दृश्य ५ में 'हैमलेट' की 'होरेश्यो' के प्रति उक्ति ।

३०. किसी आलम्बन के सहारे सत्य की ओर चलने के लिए जो उपदेश गुरुमुख से प्राप्त होता है वह प्रतीकोपदेश कहा जाता है । फिर उस उपदेश से शिष्य जब साधन-मार्ग में परिपक्व हो जाता है तब आधार के अधिकार को समझते हुए जो अन्तिम उपदेश गुरु द्वारा दिया जाता है वह चरम कहलाता है ।

३१. लक्ष्य वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत रहते हुए अन्यों से व्यावर्तक (पृथक् करनेवाला) लक्षण स्वरूपलक्षण कहलाता है । जहाँ तक लक्ष्य की व्याप्ति है उतने पूरे में अवस्थित न रहते हुए जो अन्यों से पृथक्ता दिखाता है वह तटस्थ लक्षण है ।

३२. वेदा विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

—प्रसिद्ध सुभाषित ।

३३. सांख्यशास्त्र के प्रवक्ता, अवतार, कपिलमुनि, श्रीमद्भागवत ३।२४ से ३३ अ० ।

३४. शिवमहिम्न स्तोत्र (पुष्पदन्तरचित) ७ ।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

३५. श्वे० उप० ३।८, ६।१५ ।
"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।"

३६. उपनिषद्, सन्दर्भ अज्ञात ।

३७–३८. गीता १५।१ ।

३९. यो० सू० (समाधिपाद) १।२६ ।

४०. गीता १५।१ ।

४१. वामदेव गौतम, एक आचार्य एवं वैदिक सूक्तद्रष्टा ऋषि, जिन्हें अपनी माता के गर्भ में ही आत्मानुभूति प्राप्त हुई थी।

शुकदेव, कृष्णद्वैपायन व्यास के पुत्र-शिष्य, परमहंस, श्रीमद्भागवत के प्रमुख वक्ता।

४२. रघु० १।३।

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥

४३. देखें परिशिष्ट २।

४४. मुण्डक ३।१।१।

४५. देखें परि० २।

४६. बंगला भाषा में तितली को प्रजापति कहते हैं, वहाँ विवाह की निमन्त्रण-पत्रिका पर इसे अवश्य अङ्कित किया जाता है।

४७. यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ गीता २।४६।

४८. मुण्डक उप० १।१।५।

४९. देखें परिशिष्ट २।

५०. हण्टर कमीशन अथवा Indian Education Commission—१८८२ में लॉर्ड रिपन द्वारा विलियम हण्टर की अध्यक्षता में नियुक्त प्रथम भारतीय शिक्षा-आयोग। इसे १८५४ के Despatch (लन्दन से भेजे गये नीति-निर्देश) के पालन की जाँच करने और उस नीति के कार्यान्वयन के लिये सुझाव देने का काम सौंपा गया था। इसकी मुख्य सिफारिशें थीं—१. प्रारम्भिक शिक्षण के क्षेत्र में विशेष यत्न की आवश्यकता। २. प्राथमिक शिक्षण का दायित्व जिला और म्युनिसिपल बोर्ड को सौंपा जाय; ३. देशी विद्यालयों को प्रोत्साहन दिया जाय; ४. स्थानीय धन-राशियों का प्राथमिक शिक्षण में मुख्यतः उपयोग हो। ५. ऐसे जिलों में, जहाँ जनता स्वयं उच्च-विद्यालय स्थापित न कर सके, वहाँ कम-से-कम एक आदर्श उच्चविद्यालय की स्थापना की जाय। ६. मिशनरी (ईसाई) उद्यम को भारतीय शिक्षण में केवल द्वितीय स्थान मिले।

५१. न्यायालय की अवहेलना का अपराध।

५२. इक्ष्वाकुवंशीय राजा सगर के ६० हजार पुत्र प्रसिद्ध हैं।

५३. मधुवाता ऋतायते। मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। ""ऋ० १।९०।६।

५४. अभिज्ञान-शाकुन्तलम् ४।२१ के बाद कण्व की शकुन्तला के प्रति उक्ति—
"शिवास्ते पन्थानः सन्तु।"

५५. देखें परिशिष्ट २।

५६. कठ० १.३.३।

५७. घोड़े के अण्डे जैसी अवास्तव, काल्पनिक बात।

५८ से ६७. देखें परि० २।

६८. रॉयल सोसायटी (लन्दन)

ग्रेट ब्रिटेन में सबसे पुरानी वैज्ञानिक समिति; योरोप में भी प्राचीन समितियों में से एक। इसकी नींव विद्वानों के एक ऐसे Club में पड़ी, जो १६४५ से साप्ताहिक बैठकें करता आ रहा था। इसका स्थापना-वर्ष १६६० माना जाता है। अनेकों पुरस्कारों का वितरण इसके द्वारा प्रतिवर्ष होता है, इसकी सदस्यता बहुत बड़ा सम्मान मानी जाती है। न्यूटन, लॉर्ड केल्विन, सर हम्फ्री डेवी, प्रो० हक्सले जैसे महान् वैज्ञानिक अपने-अपने समय में इसके अध्यक्ष रहे हैं।

६९. देखें परि० २।

७०. अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण की उक्ति—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ गीता ११।४९

७१. Bath इंग्लैण्ड का एक शहर, जो पहाड़ियों के मध्य में स्थित है, इसमें चार बड़े चश्मे हैं, जिनका जल औषधगुणों से युक्त है। इन चश्मों के जल का तापमान 109 F–117 F के बीच है। वहाँ अत्यन्त व्यवस्थित स्नानघर बने हुए हैं। इस स्थान को सबसे पहले रोमन लोगों ने प्रतिष्ठित किया था और इन चश्मों को सूर्य का जल कहा था। Boxton भी ऐसा ही कोई स्थान होगा।

७२. रेडियम-जातीय दुर्लभ धातु, जिसमें विकिरण-शीलता है।

७३. कलकत्ता की एक पुरानी झील।

७४. स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। गीता २।६३

७५ से ७७. देखें परि० २।

७८. रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में वानर-राज्य का उल्लेख है। यहाँ डार्विन के विकासवाद के अनुसार मनुष्य-जाति के पूर्वज वानरों को माना जाने का संकेत है।

७९. यहाँ कुछ वैज्ञानिक प्रयोगों के नाम दिये गये हैं, जो कि उनके प्रवर्त्तक वैज्ञानिकों के नाम से जुड़े हुए हैं। इनमें से प्रथम दो का सही नाम है—Morley-Michelson; Lorenz Fitz Gerald; विवरण के लिए देखें परिशिष्ट २। तीसरे का शुद्ध नाम और विवरण नहीं मिल सका है।

८०. १९वीं शताब्दी के एक सिद्ध योगी जो अनेक विभूतियों से सम्पन्न थे।

८१. देखें परि० २।

८२, ८३. श्वे० उप० ३।२०।

८४. Berzelius पढ़ें, और देखें परि० २।

८५. Davy पढ़ें और देखें परिशिष्ट २।

८६. अप्रासङ्गिक बात कहने में लोकोक्ति है। महीपाल बंगाल के बौद्ध राजा रामपाल के वंशज थे एवं नाथ-सम्प्रदाय के विशिष्ट अनुयायी साधक थे, "मैनामतीर गान" नाम से उनके साहित्यिक व साधना-सम्बन्धी गीत प्रसिद्ध हैं।

८७. मूल में—'पुले'र—ऐसा छपा है, जिसका विग्रह 'पुल का' या 'पुले का' दोनों हो सकता है। पुल (bridge) का तो कोई सन्दर्भ यहाँ है नहीं, पृ० ४० और ८६ पर प्रो० पुले का उल्लेख है। हो सकता है कि यहाँ उन्हींके बनाये यन्त्र की बात हो। इसे घिरनी कहते हैं।

८८. छा० उप० ६।५–७ खण्ड।

८९. ऋ० १०।१३।१।

९०. छा० उप०, छठा अध्याय।

९१. Cavendish Laboratory कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अन्तर्गत वैज्ञानिक प्रयोगशाला, जो कि वहाँ कार्यरत शोधछात्रों के विश्वविश्रुत आविष्कारों के कारण संसारभर के वैज्ञानिक केन्द्रों में अग्रणी मानी गई है। Henry Cavendish (१७३१–१८१०) नामक वैज्ञानिक की मृत्यु के बाद उनके विशाल पैतृक धन से इस प्रयोगशाला की स्थापना हुई।

९२. कलकत्ता का एक Restaurant (रेस्तराँ)।

९३. कलकत्ता का पुराना प्रसिद्ध वस्त्रालय।

९४. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति—ऋ० १.१६४.४६।

९५. मुण्डक उप० १।१।३ के आधार पर।

९६. सर्वं खल्विदं ब्रह्म—प्रसिद्ध महावाक्य।

९७. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। ऋ० १०।१९०।३।

९८. बङ्किमचन्द्र की रचना 'कमलाकान्तेर दफ्तर' प्रसिद्ध है। उसके नायक का सन्दर्भ यहाँ है।

९९. कठोप० २।३।१७।
१००. वही, २।३।१८।
१०१. ऋ० १०।१९०।२।
१०२. कारणसलिल—वैष्णव तत्त्वदर्शन में सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था। विष्णु का एक रूप 'कारणोदशायी' कहा गया है।
१०३. छा० उ० १।२।१ आकाशो ह्येवेभ्यो ज्यायान्।
१०४. बृह० उ० ४।४।१९।
१०५. शिवमहिम्नस्तोत्र ७।
१०६. मुण्डक उप० ३।१।१।
१०७. 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यर्थपञ्चकम्'—वेदान्तसिद्धान्त।
१०८. कठोप० १।२।२२।
१०९. गीता ३।१४।
११०. छा० उप० १।८।५।
१११. कठोप० २।३।१, गीता १५।१।
११२. गीता २।२८।
११३. छा० उप० १।८।५।
११४. वही, १।११।४।
११५. कठोप० २।२।२।
११६, ११७. वही, २।३।१७।
११८. वही, २।२।३।
११९. छा० उप० १।६।६।
१२०. कुमारसं० ५।८५।
१२१. छा० उप० ७।२२।१।
१२२. गीता ३।११।
१२३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कहानी, जिसमें सूने महलों में प्रेतात्माओं का वर्णन है।
१२४. प्रसिद्ध लघुकथा, जिसके अनुसार पानी में बहते भालू को कम्बल समझकर कोई आदमी पानी में कूदा और भालू ने उसे जकड़ लिया। तट पर खड़े साथी ने कहा—"अरे, कम्बली छोड़कर वापस आ जाओ।" जल में से उसने उत्तर दिया—"मैं तो छोड़ दूं, पर यह कम्बली मुझे नहीं छोड़ रही है।"
१२५. छा० उप० १।२।७।
१२६. वही, १।८।७।
१२७. वही, १।९।२।

१२८. वही, १।९।१ ।

१२९. सन्दर्भ अज्ञात ।

१३०. श्रीजगन्नाथपुरी में श्रीजगन्नाथजी का महाप्रसाद—भात सभी श्रद्धापूर्ण भाव से पाते हैं; वहाँ कोई जात-पाँत का या छूत का विचार नहीं किया जाता ।

१३१. आयोडीन जैसा एक पदार्थ ।

१३२. एक रासायनिक पदार्थ ।

१३३. पञ्चतन्त्र की एक कहानी में पहेली के ढंग से एक प्रश्न पूछा गया है, जिसका उत्तर क्रमशः 'स', 'से', 'मि', 'रा'—ऐसे अक्षरों से प्रारम्भ होनेवाले श्लोकों से बनता है; इन प्रारम्भिक अक्षरों को एक साथ रखकर 'ससेमिरा' शब्द पहेली के वाचक शब्द की तरह बंगाल की बोल-चाल की भाषा में प्रचलित हुआ । अतः 'ससेमिरा जाति का' अर्थात् उस पहेली जैसा ।

१३४. गीता २।२५ ।

१३५. वही, ४।१३ ।

गौडीय वैष्णव 'कीर्त्तन' की भूमिका-रूप लम्बे नमस्कार आदि, किसी विशेष कार्यारम्भ में 'नान्दी' जैसा प्राक्कथन (गौरचन्द्रिका, पृ० १३६) ।

१३६. श्रीमद्भागवत तथा अनेकों महापुराणों में उल्लिखित कथा है कि ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत अपने तीसरे जन्म में 'जड़' जैसे रहनेवाले किन्तु जन्मजात ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण 'जड़भरत' कहलाये, उन्हें हृष्टपुष्ट युवा देखकर सौवीर देश के राजा रहूगण की पालकी ढोनेवालों में लगा दिया गया; पालकी की गति में अन्तर आने से राजा रहूगण ने व्यंग्य किया, उस पर जड़भरत का तत्त्वज्ञानपूर्ण उत्तर सुनकर राजा ने पालकी से उतरकर प्रणाम किया एवं प्रार्थनापूर्वक उपदेश सुना । (श्रीमद्भागवत ५।११–१४ अध्याय)

१३७. Prometheus—ग्रीक Mythology के एक प्रसिद्ध पात्र । इस नाम का शब्दार्थ है पूर्व-विचार (forethought) । इनके भाई का नाम Epimetheus जिसका अर्थ है पश्चात्-विचार (afterthought), स्वर्ग से मनुष्यों के लिये अग्नि ले आने के अपराध के कारण Zeus से शत्रुत्व हुआ । दण्डस्वरूप जीउस ने एक चट्टान पर प्रोमेथिअस को जंजीरों से बँधवा दिया, जहाँ एक गिद्ध या चील प्रतिदिन उसका जिगर खा जाता था, और रात में वह नया हो जाता था । अन्त में Heracles द्वारा उद्धार ।

१३८. "तो अश्विनीद्वय कौन है ? कोई कहते हैं, आकाश एवं पृथिवी, कोई कहते हैं दिन-रात; और कोई कहते हैं ये सूर्य-चन्द्र हैं, कोई ऐतिहासिक कहते हैं कि ये दो पुण्यवान् राजा हैं ।"

१३९. शिवमहिम्नस्तोत्र ३२ की अन्तिम पंक्ति के 'ईश' के स्थान पर यहाँ 'देवि' शब्द रखा गया है।

१४०. सन्दर्भ अज्ञात।

१४१. मौखिक परम्परा से प्राप्त घरेलू औषध या उपचार।

१४२. श्रीचैतन्य महाप्रभु का लाड़ला नाम निमाई था।

१४३. छा० उप० ६।२।३।

१४४. उत्तररामचरित—प्रथम अङ्क में राम की उक्ति—

जीवत्सु तातपादेषु नूतने दारसंग्रहे।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥ ११ ॥

श्रीराम कह रहे हैं कि जब पिता (दशरथ) जीवित थे, हमारा नया-नया विवाह हुआ था, मातायें हमारी देखभाल करती थीं, हमारे वे आनन्द के दिन तो बीत चुके (अब न लौटेंगे)।

परिशिष्ट–द्वितीय

मूल ग्रन्थ में उल्लिखित वैज्ञानिकों / चिन्तकों के जीवन और कार्य- विषयक टिप्पणियाँ

भारतीय वैज्ञानिकों/चिन्तकों/मनीषियों के नाम देवनागरी के अकारादि-क्रम के अनुसार आरम्भ में दिये गये हैं, और विदेशी नाम 'रोमन' वर्णमाला के अकारादि-क्रम से 'रोमन' लिपि में ही दिये गये हैं। सभी नामों में कुलनाम अथवा उपनाम पहले रखा गया है, मुख्यनाम बाद में। जैसे—बसु, जगदीशचन्द्र या Spencer, Herbert। जहाँ कुलनाम या उपनाम नहीं है, वहाँ मुख्य नाम ही वर्णानुक्रम में यथास्थान रखा गया है। जैसे, Euclid. मूल ग्रन्थ में कभी केवल मुख्य नाम, तो कभी केवल उपनाम आया है। इस कारण पाठकों को असुविधा न हो, इसलिए पहले 'रोमन' अक्षरों में वर्णानुक्रम से केवल नामों की तालिका दे दी गई है और उसके बाद उसी क्रम में नामसहित टिप्पणियाँ दी गई हैं। कुछ नामों का विवरण खोजना सम्भव नहीं हो पाया है। ऐसे नामों की सूची उक्त तालिका के अन्त में दे दी गई है।

त्रिवेदी रामेन्द्रसुन्दर (१८६४–१९१९)

मुर्शिदाबाद जिले में जेमोकांदि ग्राम में जन्म। पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय की अन्तिम परीक्षा तक बराबर उत्तम स्थान प्राप्त। रसायनशास्त्र और भौतिकी में स्नातकोत्तर परीक्षा १८८७ में उत्तीर्ण। १८९२ में रिपन कॉलिज में अध्यापक नियुक्त, १९०३ से स्थायी विभागाध्यक्ष।

प्रथम प्रकाशित ग्रन्थ 'प्रकृति' (१८९६), परवर्ती ग्रन्थ 'जिज्ञासा' (१९०४), वेदाध्ययन के फलस्वरूप ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद (१९११), 'यज्ञकथा' (१९२०), 'चरितकथा' (१९१३) में हेल्महॉल्ट्स्, मैक्समूलर एवं बङ्गाल के कई स्मरणीय व्यक्तियों के चिन्तन और कीर्ति की बात है, और वेद की व्याख्या भी है। 'कर्मकथा' (१९१३) में आपका निजी दार्शनिक चिन्तन निबद्ध। 'नानाकथा' (१९२४) में युग और जीवन, व्यक्ति और समाज, शिक्षानीति और समाजधर्म की कुछ–एक सामयिक समस्याओं की चर्चा। 'शब्दकथा' (१९१७) में बंगलाभाषा के ध्वनितत्त्व, व्याकरण और परिभाषा-विषयक चर्चा। अन्य प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तकों के नाम पुण्डरीक-कुलकीर्ति-पञ्जिका (१९००), बंगलक्ष्मी की व्रतकथा (१९०६), मायापुरी (१९११), विचित्र जगत् (१९२०), जगत्कथा (१९२६) इत्यादि।

बंगलाभाषा में विज्ञान और दर्शन के विषय में प्रथम निबन्धकार।

दत्त रमेशचन्द्र (१८४८–१९०९)

साहित्यिक, अर्थनीतिविशेषज्ञ, ऐतिहासिक और सिविल सर्विस के सदस्य। रामबागान (कलकत्ता) के दत्त-परिवार में ईशानचन्द्र दत्त के द्वितीय पुत्र। १८६६ में बी० ए० में पढ़ते समय विलायत-यात्रा। १८७९ में सिविल सर्विस की अन्तिम परीक्षा में द्वितीय स्थान प्राप्त। देश में लौटकर बंगाल के विभिन्न स्थलों में प्रशासनिक पदों पर सफल कार्य (१८७९–९७)। १८९७ में स्वेच्छा से अवकाशग्रहण और विलायत-यात्रा। तभी लन्दन विश्वविद्यालय में भारतीय इतिहास के अवैतनिक अध्यापक के पद पर आमन्त्रित। १८९९ में स्वदेश वापस। १९०४ में बड़ौदा में राजस्व-सचिव का पद-ग्रहण।

राजकार्य में विशेष योग्यता का परिचय देने पर भी आपके अन्तर में गहन राष्ट्रीयता-बोध चिरजागरूक था।

आपकी विपुल रचनावली को दो भागों में रख सकते हैं, एक–भारतवर्ष-विषयक, दूसरा–साहित्य-विषयक। प्रथम भाग में भारतवर्ष का अर्थनैतिक इतिहास, प्राचीन भारतीय सभ्यता का इतिहास इत्यादि–विषयक लेखन हैं। दूसरे भाग में—रामायण और महाभारत का अंग्रेजी में पद्यानुवाद, टीकासह ऋग्वेदसंहिता—१८८५ से ८७, हिन्दू शास्त्रों का बङ्गला अनुवाद। बङ्गला में छह उपन्यास।

दत्त, हीरेन्द्रनाथ (१८६८–१९४२)

कलकत्ता में जन्म, प्रेसीडेन्सी कॉलिज से अंग्रेजी, संस्कृत और दर्शन विषय लेकर प्रथम श्रेणी में आनर्स-सहित बी० ए० उत्तीर्ण (१८८८)। अंग्रेजी में एम० ए० में प्रथम स्थान (१८८९), कानून की परीक्षा में भी प्रथम स्थान।

१८९४ में कलकत्ता हाइकोर्ट में एटॅर्नी-तालिका में स्थान प्राप्त एवं प्रचुर ख्याति का अर्जन।

बङ्गाल के साहित्य, समाज और धर्म-सम्बन्धी नाना प्रतिष्ठानों में योगदान। काशी के केन्द्रीय हिन्दू कॉलेज की स्थापना में डॉ० एनी बेसेन्ट के सहयोगी, फिर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अङ्गीभूत।

वंगला में १५ से भी अधिक पुस्तकें, अंग्रेजी में दो पुस्तकें तथा अनेकानेक निबन्ध प्रकाशित।

बसु (बोस) सर जगदीशचन्द्र (१८५८–१९३७)

पूर्वबङ्गाल (अब बंगलादेश) के मैमनसिंह जिले में ररिखाल गाँव में जन्म।

पिता भगवान्‌चन्द्र बोस डिप्टी मजिस्ट्रेट थे। स्कूली शिक्षा गाँव में। १८७१ में कलकत्ता के St. Xavier's School में प्रवेश। प्राणि-विज्ञान में विशेष रुचि रहते हुए भी कलकत्ता विश्वविद्यालय में उस विषय के अध्यापन की व्यवस्था न होने के कारण भौतिकी का अध्ययन किया। १८७७ में बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण। १८८१ में उन्नतर अध्ययन के लिए इंग्लैंड गए। वहाँ केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से बी०एससी० डिग्री लेकर १८८५ में भारत लौटे और कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी कॉलेज में भौतिकी के प्राध्यापक नियुक्त। १९१५ तक़ वहाँ कार्यरत रहे।

भौतिकी में विद्युत्-तरङ्गों पर प्रयोगों के लिए और वनस्पति-विज्ञान में पौधों की सजीवता या प्राणवत्ता पर प्रयोगों के लिए विख्यात। 'सजीव' और 'निर्जीव' के बीच सम्बन्ध-स्थापन के लिए विश्रुत।

विद्युत्-तरङ्गों पर प्रयोगों से आपने यह देख लिया था कि बेतार के दूरसंचार में इन तरङ्गों का उपयोग हो सकता था। मार्कोनी और ऑलिवर लॉज से पहले आपने यह आविष्कार कर लिया था, किन्तु कभी कोई 'पेटेन्ट' लेने में आपकी प्रवृत्ति नहीं हुई और अपने आविष्कारों को आपने ससार के सामने खुला छोड़ दिया।

१८९५ में आपने 'लिवरपूल' में अपने प्रयोगों का जो प्रदर्शन किया उससे लॉर्ड केल्विन ने अत्यन्त अभिभूत होकर भावविह्वल प्रशंसा की। १८९६ में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से D.Sc. डिग्री प्राप्त। प्राणिविज्ञान में अभूतपूर्व कार्य के लिए १९२० में Fellow of the Royal Society निर्वाचित।

आपके अद्‌भुत, विलक्षण अनुसन्धान-कार्य से विश्वभर में न केवल आपकी, अपितु भारत की ख्याति हुई। इस बात को स्वामी विवेकानन्द एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने पत्रों में स्वीकार किया है।

१९१७ में चन्दा जुटाकर वसु-विज्ञान-मन्दिर की स्थापना। आपका कार्य अपने समय से इतना आगे था कि उसका सही मूल्याङ्कन भी नहीं हो पाया।

रामप्रसाद (आनुमानिक १७२०–८१)

बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि और शाक्त साधक। पिता का नाम रामराम, निवास चौबीस परगना के हाली शहर में। पहले कलकत्ता के किसी धनी व्यक्ति के घर पर मुहर्रिर का काम किया। बाद में कई एक जमींदारों का पोषकत्व मिला। तान्त्रिक शक्तिसाधक के रूप में अपने काल में श्रद्धापात्र रहे।

कवि, साधक एवं गायक इन तीनों रूपों में स्वतन्त्र रूप से परिचित। 'रामप्रसादी' सुर उनके गायक-रूप का परिचायक है। उनके नाम से प्रचारित प्रायः तीन सौ पद हैं,

जो सभी शायद उनकी रचना न भी हों। अधिकांश पदों में काली के प्रति भक्ति की व्याकुलता भरी है।

रामप्रसाद ही बंगला-साहित्य में शावत गीति की नूतन धारा के प्रवर्तक हैं।

बसु प्रमथनाथ (१८५५–१९३५)

भारतीय भूतत्त्वविदों के पुरोधा। कलकत्ता के सेण्ट जेवियर्स कॉलेज में पढ़ते समय विशेष छात्रवृत्ति प्राप्त (१८७४)। बाद में लन्दन विश्वविद्यालय से B.Sc. (१८७८)। इसके अगले वर्ष Royal School of Mines की परीक्षा उत्तीर्ण। स्वदेश लौटकर Geological Survey of India के उच्च पद पर नियुक्त (१८८०)। कार्यकाल में अधिकांश समय मध्यप्रदेश के विभिन्न अञ्चलों में खनिज-समीक्षा। सरकारी नौकरी के बाद (१९०३) मयूरभंज राज्य में खनिज अधिकर्ता। वहाँ रहते गुरुमाहिषाणी इलाके में लोहे की खान का आविष्कार और टाटा को लोहा-फौलाद के कारखाने की स्थापना के लिये राजी किया।

स्वदेशप्रेमी प्रमथनाथ विज्ञान और शिल्पशिक्षा के प्रसार के उद्देश्य से विलायत में India Society के कर्मसचिव और स्वदेश में जातीय शिक्षा परिषद् (अधुना यादवपुर विश्वविद्यालय) के प्रथम अवैतनिक अध्यक्ष (१९०६–२०) रहे। शिक्षा, संस्कृति और हिन्दू-सभ्यता के सम्बन्ध में विपुल साहित्य-सर्जन।

प्रमुख ग्रन्थ

1. A History of Hindu Civilisation under British Rule, (Three Volumes) (1894-96) 2. Epochs of Civilisation (1916) 3. Swaraja—Cultural and Political (1929)

ऐसे वैज्ञानिकों/मनीषियों के नामों की तालिका जिन पर टिप्पणियाँ दी गई हैं—

1. Arrhenius, Svante August
2. Arthur, J.C.
3. Arthur Avalon (see Woodroffe, Sir John)
4. Bacon, Francis
5. Bacon, Roger
6. Bergson, Henri
7. Berzelius, J.J. Baron
8. Burnuiff, E.L.
9. Clauzius, R.J. Emmanuel
10. Compbel (see Fraser)

11. Copernicus, Nicholaus
12. Crookes, William O.M.
13. (Madame) Curie, Marie
14. Darwin, Charles
15. Davy, Sir Humphry
16. Descarte, Rene
17. Dewar, Sir James
18. Einstein, Albert
19. Euclid
20. Farade, Micheal
21. Fitz Gerald, George Francis
22. Fraser Alexander, Compbel
23. Fresnel, Augustine Jean
24. Galileo, Galilei
25. Gauss, Karl Friedrich
26. Gieke, Sir Achibald
27. Goldstein, Eugen
28. Goethe, Johann Wolfgang von
29. Hegel, Georg Wilhelm Friedrich
30. Helmholtz, Herman L.F.
31. Homer
32. Huxley, Sir Julian (Sorall)
33. Huxley, Thomas Henry
34. James William
35 Kant, Imanual
36. Kepler, Johannes
37. Lagrange, Joseph Louis
38. Laplace, Marquis Pierre Simon de
39. Larmor, Sir Joseph
40. Lawrence, Ernest Orlando
41. Leibnitz, Gottfried Wilhelm Baron von
42. Le Sage, Alain Rene

43. Lodge, Sir Oliver
44. Lord Kelvin (see Thomson, William)
45. Lorentz, H.A.
46. Mandeleev Dmitri Ivanovitch
47. Maxwell, James Clark
48. Mayer, Julius Robert
49. Mayer, Johann Tobias
50. Michelson, Albert
51. Mill, John Stuart
52. Minkowshi, Oskar
53. Morley, Edward Williams
54. Muller, Max
55. Newton. Isaac
56. Nicholson, William
57. Ostwald, Wilhelm
58. Pearson, Karl
59. Pierre Simon de (See Laplace)
60. Poincare, Jules Henri
61. Ramsay, Sir Andrew Crombie
62. Rosen, Kranz Johann Karl Friedrich
63. Roth, Justus Ludwig Adolf
64. Russel, Bertrand
65. Rutherford, Lord Ernest
66. Soddy, Friederick
67. Spencer, Herbert
68. Spinoza, Baruch Benedict
69. Stokes, Sir Gabriel Bart
70. Stoney, George Johnson
71. Strutt, Jedediah
72. Sutherland, Earl Wilber (Junior)
73. Thomson, Sir Joseph John
74. Thomson, William (Lord Kelvin)

75. Tyndall, John
76. Ward, James
77. Weber, Albriecht Friedrick von
78. Weismann, August
79. Wells, H.G.
80. Woodroffe, Sir John (Arthur Avalon)

ऐसे नाम, जिनके विषय में जानकारी नहीं मिल पायी है—

1. Abraham
2. Adam
3. Arthur Conant Will
4. Austen, William Robert
5. Brace Bali Experiment
6. Cunningham
7. Elastia
8. Gallivere
9. Geital
10. Hibbiside, Thomson
11. Mac or Mc
12. Makower
13. Rosen (Indologist)
14. Smith, Poulet Ross
15. Tail, P.G.
16. Wiettham
17. Wilson, C.T.R.
18. Wood, Alexander

Arrhenius, Svante August (1859–1927)

स्वीडन के प्रख्यात भौतिकशास्त्रविद् एवं रसायनशास्त्री। Stockholm विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्रोफेसर। विपुल मौलिक अनुसन्धान के धनी।

प्रमुख ग्रन्थ:—Sur La Conductibilite Galvanique des electrolytes (1884), Worlds in the Making (अंग्रेजी अनुवाद) (१९०८)।

Arthur, Joseph Charles (1850–1942)

संयुक्तराज्य अमेरिका के वनस्पति-वैज्ञानिक, जिन्होंने परोपजीवी फुंगी (fungi)

के इतिहास का आविष्कार किया। १८८६ में Ithaca, New York के Cornell विश्वविद्यालय से Doctorate, Indiana स्थित Purdue विश्वविद्यालय में १८८७ में वनस्पति-विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त।

प्रमुख ग्रन्थ—Handbook of Plant Dissection (1886), Living Plants and Their Properties (1898), Manual of the Rusts in United States, Canada (1934)

Bacon Francis (1561–1636)

लन्दन में महारानी एलिजावेथ के अहलकार के यहाँ जन्म। Trinity College. कैम्ब्रिज में शिक्षण। कुछ दिन पेरिस में बिताने के बाद पुनः इंग्लैण्ड में लौटकर कानून का अध्ययन; १५८२ में बैरिस्टर बने। १५८४ में पार्लमेण्ट के सदस्य बने। महारानी के कोपभाजन बनने के कारण पदोन्नति नहीं हुई।

जेम्स्–प्रथम के राज्य में अधिक अनुकूलता मिली। अपने लेखन के कारण साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठा मिल ही रही थी, क्रमशः पदोन्नति भी मिली। किन्तु कुछ समय बाद ही प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। उन पर घूसखोरी और भ्रष्टाचार का आरोप लगाया गया। वे अपने को निरपराध सिद्ध नहीं कर सके, अतः अपराध स्वीकार (Confession) किया। दण्डस्वरूप भारी जुर्माना, किसी सरकारी ओहदे पर न रखे जाने का दण्ड और दरबार से निष्कासन। किन्तु जुर्माना शीघ्र ही माफ कर दिया गया, कारावास भी कुछ दिन का ही भोगना पड़ा। इस अधःपतन के बाद भी कुछ वर्ष जिये और साहित्यिक और वैज्ञानिक ग्रन्थों के लेखन में रत रहे।

सुप्रसिद्ध 'Essays' 1597 में प्रकाशित, जिनका अनुवाद लैटिन, फ्रेंच और इतालवी में हुआ।

अन्य ग्रन्थ—Advancement of Learning (1605) The Wisdom of the Ancients (1609), महान् दार्शनिक (लैटिन-) ग्रन्थ Novum Organum (1620) इत्यादि।

विज्ञान में Inductive method के प्रवर्तक। मुख्य प्रतिपादन यह कि तथ्यों का पहले निरीक्षण तथा संकलन होना चाहिये, तब फिर सिद्धान्त-निर्माण किया जाना चाहिये।

Bacon Roger (1214–1294)

पहले Oxford विश्वविद्यालय में अध्ययन, बाद में पेरिस में, जहाँ से Doctor of Theology की उपाधि प्राप्त। १२५० के आसपास England लौटे, जहाँ पादरी बनकर Oxford में निवास आरम्भ, किन्तु पादरी-संस्थान के वरिष्ठों का सन्देहभाजन

बन जाने के कारण पेरिस भेज दिये गये, वहाँ दस वर्ष कारावास में रखे गये। कोई लेखन-सामग्री, पुस्तक या उपकरण उपलब्ध नहीं। अपराध यही था कि वे रसायनशास्त्र, भौतिकी और गणित के गम्भीर अध्येता थे और ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचे थे, जो कि अज्ञ लोगों को असाधारण और विलक्षण जान पड़ते थे। इसलिये उन्हें जादूगर माना जाने लगा था। इस मन्तव्य में सहकर्मी पादरियों की ईर्ष्या और घृणा का भी पुट चढ़ा। बाद में उन्हें शैतानी शक्ति से जुड़ा हुआ माना जाने लगा। कारावास से मुक्त होने के बाद कुछ दिन शान्ति से बीते, किन्तु पुनः दस वर्ष कारागार में रहना पड़ा। अन्तिम काल विशेष ज्ञात नहीं।

सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ–Opus Majus (लैटिन) जिसमें दर्शन और धर्म का सम्बन्ध, भाषा, तत्त्वविज्ञान, प्रकाशविज्ञान (Optics) और प्रायोगिक विज्ञान (Experimental science) आदि विषय प्रतिपादित हैं। वे ब्रिटेन के सर्वप्रथम दार्शनिक प्रयोगविद् थे; प्रकाश-विज्ञान में विशेष प्रगति, उत्कृष्ट रसायन-विशेषज्ञ इत्यादि रहे। कैलेण्डर की भूलों को पकड़ने और सुधारने में विशेष योगदान।

Bergson, Henri (1859–1941)

फ्रान्स के नागरिक। १९०७ में Creative Evolution नामक ग्रन्थ प्रकाशित। १९२७ में साहित्य के लिये नोबल पुरस्कार प्राप्त। १९३५ में अंग्रेजी में–Two Sources of Morality and Religion–प्रकाशित। इसीसे College de France का यह दर्शन का प्रोफेसर विश्वविश्रुत हो गया। आपकी सभी रचनाओं में अभिवृद्धि (growth) की प्रक्रिया में परिवर्तन के सातत्य पर बल दिया गया है। अभिवृद्धि अपने आपमें अनन्त सृष्टि है, जिसका चरम उद्देश्य स्वातन्त्र्य है। The Evolution of Life नामक परवर्ती रचना में Creative Evolution के प्रतिपाद्य का विस्तार।

Berzelius, Johan Jacob, Baron (1779–1848)

स्वीडन के रसायनशास्त्री। चिकित्सा-विज्ञान के अध्ययन के बाद तत्सम्बन्धी एक-दो पदों पर रहे। फिर १८०६ में रसायनशास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उसके अगले ही वर्ष 'औषध-निर्माण' और चिकित्सा-विज्ञान के प्रोफेसर बने। अनेक सम्मान प्राप्त।

आपने Thorium selenium आदि कई रसायनों की खोज की। रसायनशास्त्र की प्रत्येक शाखा में मौलिक कार्य।

प्रमुख ग्रन्थों के नाम—Textbook of Chemistry; View of the Composition of Animal Fluids; New System of Mineralogy; Essay on the Theory of Chemical Proportion इत्यादि।

Burnouif, Emele Louis (उन्नीसवीं)

प्रसिद्ध प्राच्यभाषाविद् फ्रांसीसी विद्वान्। आपने 'ल्यूपल' नामक विद्वान् के साथ मिलकर १८६५ में संस्कृत से फ्रांसीसी भाषा में एक कोष का प्रणयन किया।

Clausius, Rudolf, Julius Emmanuel (1822–1888)

जर्मन भौतिकीविद्। Thermo-dynamics के आधुनिक विज्ञान के स्थापक। ताप, molecular Physics और विद्युत् में अमूल्य अनुसन्धान।

प्रमुख ग्रन्थ—Die mechenische Warme Theorie, Die Potentialfunktion und das Potential.

Copernicus Nicholaus (1473–1543)

पोलेण्ड के Thorn नामक छोटे नगर में एक व्यापारी के यहाँ जन्म। १४९२ में Poland के Cracow विश्वविद्यालय में प्रवेश। यहाँ गणित और ज्योतिर्विज्ञान में अभिरुचि बढ़ी, किन्तु चिकित्सा-विज्ञान में डिग्री ली। उच्चतर अध्ययन के लिये इटली में Bologna विश्व विद्यालय में प्रवेश और कानून के साथ-साथ गणित तथा ज्योतिर्विज्ञान में विशेषज्ञता अर्जित की। चित्रकार और कवि का कौशल भी विकसित। रोम विश्वविद्यालय में ज्योतिर्विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त। प्राचीन विज्ञान के अध्ययन के लिये ग्रीक भाषा सीखी।

भूकेन्द्रित विश्वदर्शन, जो १५०० वर्षों से स्वीकृत था, के प्रति सन्देह और सूर्य-केन्द्रित विश्वदर्शन के प्रति झुकाव। इसी कारण रोम विश्वविद्यालय से त्यागपत्र देकर पोलेण्ड लौट आये। वहाँ अपने पादरी चाचा के सहायक बने और अपने कानून तथा चिकित्सा-विज्ञान से सामान्य जनता के सहायक तथा प्रीतिभाजन हुए।

कैलेण्डर को त्रुटिहीन बनाने में योगदान। अन्त में सूर्यकेन्द्रित विश्वदृष्टि की स्थापना।

जीवन के शेषकाल में अपने निष्कर्ष—De Revolutionivus orbium Coelestium (Concerning the revolutions of the heavonly spheres)—नामक पुस्तक में प्रस्तुत किये, जिसका प्रकाशन ठीक मृत्यु के समय हुआ। रूढ़िग्रस्त मानस को मुक्त करने का पहला साहसपूर्ण प्रयास।

Crookes, Sir William, O. M. (1832–1919)

इंग्लैण्ड के रसायनशास्त्री और भौतिकीविद्। लन्दन के Royal College of Chemistry में अध्ययन, कुछ समय के लिये Oxford की Radcliff वेधशाला से

संबद्ध रहे, Chester Training College में रसायन-विद्या के प्राध्यापक रहे। Oxford of Dublin से D.Sc. हुए।

Molecular Physics, Radiant Matter इत्यादि पर अनुसन्धान। स्वास्थ्य-विज्ञान के विशेषज्ञ।

प्रमुख ग्रन्थों के नाम :—Select Methods in Chemical Analysis; Handbook of Dyeing and Calico-printing; Dyeing and Tissue-Printing, Researches in Modern Spiritualism, Psychic Force and Modern Spiritualism. The Wheat Problem; Diamonds.

Curie, Marie (1867–1934)

पोलेण्ड के Warsaw नगर में शिक्षक माता-पिता के यहाँ जन्म। उस समय पोलेण्ड रूस के आधिपत्य में था, और शिक्षण रूसी भाषा में होता था। बाल्यकाल में विलक्षण प्रतिभा। स्कूली शिक्षा पूर्ण होने के पाँच वर्ष बाद पेरिस विश्वविद्यालय में प्रवेश। अत्यन्त निर्धनता में विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम पूरा किया, १८९३ में भौतिकी में प्रथम स्थान पाया। १८९४ में गणित में स्नातकोत्तर उपाधि ली। १८९५ में Pierre Curie नाम के भौतिकीविद् स्कूल-शिक्षक से विवाह। यूरेनियम खनिजों में प्रकाश को सोखने और पुनः बाहर फेंकने की क्षमता है या नहीं? उनमें से किरणें क्यों बाहर निकलती हैं—इन प्रश्नों को लेकर पति की सहायता से शोधकार्य प्रारम्भ। यह आविष्कार किया कि किरणें यूरेनियम में से ही निकलती हैं, अन्य किसी पदार्थ के साथ उसके संयोग से नहीं। यूरेनियम के इस आणविक गुण को radio-activity नाम दिया।

एक खण्डहरनुमा झोंपड़ी में प्रयोगशाला बनी। क्यूरी दम्पति ने अतीव निर्धनता में जीवन-यापन करते हुए इसी स्थान में अपने प्रयोगों से Radio-activity के नवीन विज्ञान का आविष्कार किया। Radio-activity का सच्चा स्वरूप अब भी अज्ञात था, जिसे रादरफोर्ड ने १९०२ में अनावृत किया और यह बताया कि Radio-activity अणुओं के सहज विघटन के कारण होती है।

१९०६ में Pierre Curie की सड़क-दुर्घटना में मृत्यु। भग्नहृदया मैडम क्यूरी कुछ वर्ष केवल अध्यापन और दो पुत्रियों के पालन में लगी रहीं। वे Sorbonne विश्वविद्यालय में प्रथम महिला-अध्यापिका नियुक्त हुई थीं। १९११ में द्वितीय बार नोबल पुरस्कार रसायन-विज्ञान में मिला। इससे पूर्व १९०३ में क्यूरी दम्पती और Henri-Becquerel को सम्मिलित रूप से भौतिकी का नोबल पुरस्कार मिला था। किसी भी अन्य व्यक्ति को यह पुरस्कार जीवन में दो बार नहीं मिला।

१९१२ में फ्रेन्च सरकार ने Curie Institute of Radium स्थापित किया और मदाम क्यूरी को उसका अध्यक्ष बनाया। प्रथम विश्वयुद्ध में शोधकार्य स्थगित रहा, और युद्ध के बाद उक्त केन्द्र का कार्य पुनः चालू हुआ।

१९३४ में रक्तकोषाणुओं के एक असाध्य रोग से मृत्यु, जिसका कारण था रेडियम से सीधा सम्बन्ध।

प्रथम पुत्री आइरिन को भी आगे चलकर नोबल पुरस्कार मिला।

Darwin, Charles (1809–1882)

इंग्लैण्ड के विशिष्ट सम्भ्रान्त परिवार में जन्म। पितामह विशिष्ट चिकित्सक थे, पिता की इच्छा थी कि ये पैतृक पेशे में ही विशिष्टता पायें। एडिनबरा विश्वविद्यालय के मेडिकल स्कूल में प्रवेश, किन्तु विफलता, प्राणि-विज्ञान में स्वतन्त्र कार्य में विशेष रुचि। तदुपरान्त परिवार ने उन्हें पादरी बनाने का सोचा और Christ's College में भेज दिया, वहाँ भी विफलता।

२२ वर्ष की अवस्था में Beagle नाम के राजकीय जलपोत में प्रकृति-वैज्ञानिक (Naturalist) की हैसियत से दीर्घ यात्रा के लिये नाम लिखाया। पाँच वर्ष की निरन्तर यात्रा में सम्पूर्ण पृथ्वी-परिक्रमा। इसी दौरान विलक्षण आविष्कार। वनस्पति-जगत् और प्राणि-जगत् का प्रत्यक्ष अध्ययन। १८३६ में इंग्लैण्ड लौटकर "A Naturalist's Voyage around the World" नाम से यात्रावृत्त प्रकाशित किया, जिसकी भूरिशः प्रशंसा हुई। १८३८ में Geological Society के सचिव निर्वाचित। १८३९ में Kent के Down House में विशाल उद्यान के बीच अपना आवास स्थापित, जहाँ वनस्पतियों और प्राणियों पर गहन अध्ययन प्रारम्भ, जिसके परिणाम २० वर्ष बाद "Origin of Species" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित। इसीमें 'विकास'-सिद्धान्त का प्रतिपादन। इस प्रतिपादन से रूढ़िवादी समाज में भयङ्कर विरोध, क्योंकि वह बाइबल के विरुद्ध था। आपने इस सिद्धान्त को स्वीकार कराने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। Thomas H. Huxley, जो समसामयिक वैज्ञानिक और तार्किक भी थे, ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कराने के लिए विशेष प्रयत्न किया।

परवर्ती ग्रन्थ—Descent of Man, The Expression of the Emotions in Man and Animals, Variations of Animals and Plants under Domestication.

"Survival of the Fittest"—सूत्र की हिटलर जैसे तानाशाहों ने जो भ्रान्त व्याख्या की, वह डार्विन को अभिप्रेत नहीं थी। Fittest से उनका आशय बलवत्तम (strongest) नहीं, अपितु सर्वाधिक अनुकूलनीय (most adaptable) था।

मतभेद या वाद-वितण्डा से सर्वथा दूर रहनेवाले डार्विन को सर्वाधिक वाद-वितण्डा का भाजन बनना पड़ा।

Davy, Sir Humphry (1778–1829)

इंग्लैण्ड में Penyance शहर में निर्धन लकड़ी तराशनेवाले के यहाँ जन्म। बाल्यकाल में ही पिता की मृत्यु, एक औषधालय में मक्खन धोने की नौकरी। १७९८ में एक औषध-निर्माता के पास नौकरी, जो गैसों का चिकित्सा में उपयोग करने के प्रयोग कर रहा था। इससे विज्ञान में रुचि बढ़ी। १८०६ में Electric Fluide पर अनुसन्धान के निष्कर्षों को लेकर Royal Society में व्याख्यान। पोटेशियम और सोडियम नाम की दो नई धातुओं का आविष्कार। उसी वर्ष On some Chemical Agencies of Electricity नामक ग्रन्थ प्रकाशित।

१८१२ में एक भयानक खान-दुर्घटना के बाद सरकार ने खनन-कार्य में सुधार के लिये आपसे सहायता ली। रसायन-विज्ञान में अपूर्व कीर्ति।

Descartes Rene (1596–1650)

फ्रांस में जन्म। २२ वर्ष की अवस्था में देशत्याग, शेष जीवन हॉलैण्ड में बिताया।

कहा जाता है कि आधुनिक विज्ञान आपसे शुरू हुआ। मूलतः गणितज्ञ, जिन्होंने अपनी जिज्ञासा को ज्ञान की सभी शाखाओं के मौलिक सिद्धान्तों के साथ जोड़ा। प्रत्येक बात को, यहाँ तक कि सन्देह को भी, सन्देह की परीक्षा का विषय बनाया, आपका प्रमुख सूत्र है—**"Cogito, ergo sum"**—अर्थात् "मैं सोचता हूँ, इसलिये मैं हूँ।" गणित के आरम्भिक अध्ययन के बाद दर्शन, भौतिकी, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान, ब्रह्मांड-विज्ञान (Cosmology)—इन सबमें प्रवेश। इनमें से प्रत्येक में अग्रदूत माने गये। तीन शताब्दियों तक अक्षुण्ण प्रभाव, विशेषतः विज्ञान के दर्शन के क्षेत्र में।

Discourse on Method—सबसे प्रसिद्ध निबन्ध।

Dewar, Sir James (1842–1923)

स्कॉटलैण्ड (एडिनबरा) के रसायनशास्त्री। १८७३ में केम्ब्रिज में प्रयोगात्मक दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक निर्वाचित। अन्य अनेक महान् पदों पर रहे और अनेक पुरस्कार प्राप्त किये। न्यूनतम तापमान पर जड़पदार्थ के गुणधर्म पर विशेष कार्य, जिसके साथ वायु और gases के तरलीकरण का सम्बन्ध रहा। आपने सर्वप्रथम हाइड्रोजन गैस को तरल और घनरूप में परिवर्तित किया।

Einstein, Albert (1879–1955)

जर्मनी के Ulm नगर में जर्मन-यहूदी उद्योगपति के घर में जन्म। बाल्यकाल में अत्यन्त लज्जाशील। साथियों में कोई प्रभाव नहीं। तत्कालीन स्कूली शिक्षा-पद्धति में अरुचि। चुम्बक और गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तों में अतिशय रुचि। निजी प्रयत्न से ज्यामिति और गणित में पारंगत बने। शिक्षकों से अधिक प्रबुद्ध हो जाने के कारण 'जिम्नेशियम' (स्कूल) से निष्कासित। तब Zurich, स्विट्जरलैण्ड में पॉलिटेक्नीक एकेडमी में प्रवेश। शिक्षक बनने में अरुचि। स्विट्जरलैण्ड में ही एक कार्यालय में क्लर्क का पद स्वीकार। १९०५ में उसी पद पर रहते Relativity (सापेक्षता) के सिद्धान्त का प्रथम प्रतिपादन, जिसने सम्पूर्ण विज्ञान-जगत् का ध्यान आकर्षित किया।

काल को चौथे Dimension (आयतन) के रूप में सिद्ध किया, शेष तीन आयतन 'देश' (space) के हैं। काल गति या वेग पर निर्भर है। १९१० में Prague के जर्मन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद स्वीकार; १९१२ में ज्यूरिख की पोलिटेक्नीक एकेडमी में प्रोफेसर पद, १९१४ में Prussian Academy of Sciences में प्रोफेसर पद। १९२१ में भौतिकी में नोबल पुरस्कार, जिसका आधार सापेक्षता का सिद्धान्त नहीं, अपितु विशेष धातुओं पर प्रकाश पड़ने से उनमें से electrons क्यों निकलते हैं—इसकी व्याख्या करना था। प्रथम विश्वयुद्ध में कठिनाई, क्योंकि युद्ध का समर्थन स्वीकार नहीं था।

१९३२ में हिटलर का प्रभुत्व स्थापित। आप उस समय संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रवासी थे। वहीं से बर्लिन विश्वविद्यालय, जर्मनी के पद से त्याग-पत्र और प्रिंस्टन, न्यू जर्सी (सं० रा० अ०) में अनुसन्धान का पद स्वीकृत। १९३४ में सं० रा० अ० की नागरिकता प्राप्त।

विशेष रूप से शान्तिप्रेमी, प्रदर्शन के विरुद्ध और भौतिक धन के प्रति विरक्त।

Euclid (330–275 B. C.)

सम्भवतः यूनान के एथेन्स नगर में जन्म और शिक्षा। बाद में मिस्र में एलेक्जेन्ड्रिया नगर में गमन, वहीं ज्यामिति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन और अध्यापन। शिष्यवर्ग में धैर्य और करुणा के लिये विख्यात।

Hippocrates, Thales और Pythagoras जैसे पूर्ववर्ती ज्यामितिविदों के प्रतिपादन में व्यवस्था, तर्कसंमति, अन्तरालों की पूर्ति आदि करके ज्यामिति में नयी व्यवस्था लाने का योगदान।

Elements नाम से बृहद् ग्रन्थ की रचना, जो आज तक ज्यामिति की मूलभूत पाठ्यपुस्तक है। इसका पहला अंग्रेजी अनुवाद १५७० में हुआ।

Farade, Micheal (1791–1867)

अत्यन्त निर्धन परिवार में जन्म। पिता लुहार; विज्ञान या गणित में कोई औपचारिक शिक्षण नहीं। १३ वर्ष की आयु में लन्दन के पास एक पुस्तक-विक्रेता के पास नौकरी। उसने प्रसन्न होकर जिल्दसाजी का निःशुल्क प्रशिक्षण दिया; इस दौरान पुस्तकों के वाह्य रूप से ही नहीं, आभ्यन्तर से भी परिचय। रसायनशास्त्र (chemistry) और electricity के बारे में पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। एक ग्राहक ने Sir Humphry Davy के व्याख्यानों के लिये टिकट ला दिये। इन व्याख्यानों के notes इन्होंने Sir Davy को भेजे, और उनकी प्रयोगशाला में सेवक होने का अवसर माँगा। इस पर उनकी प्रयोगशाला में बोतल धोने तथा द्वारपाल का काम मिला। क्रमशः Sir Davy के साथ सम्पर्क बढ़ता गया और गुरु-शिष्य जैसा सम्बन्ध बना। फिर क्रमशः स्वतन्त्र अनुसन्धान करने लगे।

चुम्बक से विद्युन् उत्पन्न करने की दिशा में प्रयास। प्रथम डायनेमो की रचना, जिससे कि निरन्तर विद्युत् का प्रवाह निकलता था। विद्युत्-चुम्बक का सिद्धान्त इनका सबसे बड़ा आविष्कार। जन-सामान्य के शिक्षण में महान् योगदान। आज का सम्पूर्ण विद्युत्-उद्योग उनके आविष्कारों का ऋणी है। इनका काम न्यूटन से बहुत आगे था, और बीसवीं शताब्दी में आइन्स्टाइन के लिये पूर्वपीठिकारूप बना।

Fitz Gerald, George Francis (1851–1901)

आयरलैण्ड के भौतिकीविद्, जिन्होंने सर्वप्रथम रेडिओतरंग उत्पन्न करने का मार्ग खोजा था, जिससे बेतार के दूरसंचार की नींव पड़ी। इन्होंने और एक सिद्धान्त का विकास किया जो आज Lorentz–Fitz Gerald Contraction के नाम से परिचित है। आइन्स्टाइन ने अपने सापेक्षतावाद के विशेष सिद्धान्त में इसका उपयोग किया था। आपके लेखन का एक संकलन—Writings of the Late George Francis Fitz Gerald—१९०२ में प्रकाशित हुआ।

Fraser, Alexander, Campbell (1819– ?)

स्काटलैण्ड के दार्शनिक। Glasgow और Edinburgh में शिक्षण। वहीं पर १८४६ से १८५६ तक Logic के प्रोफेसर रहे। १८५६ में एडिनबरा विश्वविद्यालय में Logic और Metaphysics के प्रोफेसर नियुक्त।

प्रमुख ग्रन्थ :—

Collected Edition of the Works of Bishop Berkley with Annotations (1871)

Biography of Berkley (1881)

Annotated Edition of Locke's Essays (1894)

The Philosophy of Theism (1896)

Biography of Thomas Reid (1898)

Fresnel, Augustin, Jean (1788–1827)

फ्रान्स के भौतिकीविद् । बाल्यकाल में धीमी गति से शिक्षण, किन्तु सोलह वर्ष के होने पर Ecole Centrale (Caen) से विशेष योग्यतासहित उत्तीर्ण । अनेक वर्षों तक इंजीनियर के रूप में कार्य ।

विशेष कार्य Optics (चक्षुर्विज्ञान) में । अनेक पुरस्कार प्राप्त ।

आपके अनेक कार्यों को जीवनकाल में प्रसिद्धि नहीं मिल पायी, किन्तु प्रसिद्धि से आप विमुख ही रहे । बड़े-बड़े वैज्ञानिकों द्वारा दिये प्रशस्तिपत्रों की अपेक्षा सत्य की प्रयोग-सिद्धि में ही आपको आनन्द आता रहा ।

Galileo, Galilei (1564–1642)

Pisa इटली में प्रतिभाशाली संगीतकार पिता के पुत्र । सात बहन-भाई । 'पीसा'-विश्वविद्यालय से चिकित्सा-शास्त्र, गणित और भौतिकी लेकर स्नातक । झूले की गति को देखकर घड़ी के पेण्डुलम का आविष्कार । २५ वर्ष की आयु में पीसा-विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त । सत्य की खोज में निरन्तर प्रयत्नशील । अरस्तू के वचनों की प्रयोगों द्वारा परीक्षा और खण्डन करते रहे । आधुनिक भौतिकी में प्रयुक्त गति-वर्धन (acceleration) के सिद्धान्त के प्रथम प्रणेता । अपने प्रयोगों के परिणाम १६३८ में अपने अन्तिम ग्रन्थ Dialogues Concerning two new Sciences (motion and mechanics) में प्रकाशित किये । बाद में न्यूटन ने इन्हीं सिद्धान्तों का स्पष्टतर प्रतिपादन किया । सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में एक ऐसा दूरवीक्षण यन्त्र (telescope) बनाया, जो वस्तुओं को तीस-गुना आवर्धित कर सकता था । इस यन्त्र के सहारे ज्योतिष्कों का गहन अध्ययन, ग्रह-नक्षत्र सूर्य की ज्योति से ज्योतिष्मान् हैं, सभी सूर्य के इर्द-गिर्द घूमते हैं और स्वयं सूर्य एक धुरी पर घूमता है—इत्यादि निष्कर्षों पर पहुँचे । 'सारे विश्व का केन्द्र सूर्य है'—इस प्रतिपादन के कारण ईसाई धर्माधिकरण के कोपभाजन बने । अनेक वर्षों के मौन और गहन चिन्तन के बाद 'Dialogue concerning the two principle systems of the world'—

में पृथ्वी-केन्द्रित की तुलना में सूर्यकेन्द्रित मत की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। पुनः ईसाई धर्माधिकरण का कोप, सार्वजनिक रूप से क्षमायाचना की शर्त पर जीवनदान, किन्तु घर में ही आमरण कैद का दण्ड; फिर भी मौन न रहकर ऊपर कहा हुआ अन्तिम ग्रन्थ तैयार किया और उसे लुके-छिपे ढंग से हॉलेण्ड से प्रकाशित कराया।

गैलीलिओ का सबसे शक्तिशाली प्रतिपादन यही था कि प्राचीन वचन को प्रमाण न मानकर स्वयं के निरीक्षण और परीक्षण को प्रमाण माना जाय। यही आधुनिक विज्ञान की आधारशिला है।

Gauss, Carl Friedrich (1777–1855)

Brunswick, जर्मनी में एक ईंटों की चिनाई करनेवाले निर्धन मिस्त्री के यहाँ जन्म। तीन वर्ष पूरे होने से पूर्व ही गणित में विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया, तब तक अपने-आप पढ़ना सीख लिया था और मौखिक गणित में इतनी कुशलता प्राप्त कर ली थी कि पिता के एक लम्बे गणित में भूल पकड़ ली थी। दस वर्ष की वय में स्कूल के वर्ग में एक जोड़ के बड़े लम्बे सवाल का उत्तर स्वयं बीजगणित लगाकर दो क्षण में ही दे दिया था। बालक की असाधारण प्रतिभा उक्त नगर के ड्यूक के ध्यान में लाई गई, उन्होंने स्कूल और कालेज की शिक्षा का व्ययभार उठा लिया।

यूक्लिड की ज्यामिति में दोष दिखाकर उसे उन्नत किया। १७९८ में Goetingen विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर तथा एक वर्ष बाद डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त। शुद्ध गणित के अतिरिक्त अन्य कई विषयों में रुचि। ज्योतिर्विद्, भौतिकीविद्, भूगणितज्ञ, अनेकभाषाविद् इत्यादि। १८०७ में गार्टिगन विश्वविद्यालय में ज्योतिर्विज्ञान के प्रोफेसर और वहाँ की वेधशाला के निदेशक नियुक्त।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अपने गणितीय सिद्धान्तों का ग्रन्थ—Discuisitions Arithmeticae प्रकाशित किया।

अपने जीवनकाल में ही अठारहवी तथा उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े गणितज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित।

Geikie, Sir Archibald[1] (1835–1924)

स्काटलैण्ड में एडिनबरा में जन्म। प्रख्यात भूगर्भशास्त्री। भूगर्भसर्वेक्षण के निदेशक और Museum of Practical Geology, London के महानिदेशक रहे। (१८८२–१९०१)।

---

१. मूल ग्रन्थ में Giese ऐसा लिखा है, किन्तु इस वर्तनी से कोई नाम नहीं मिलता।

प्रमुख ग्रन्थ—Text-Book of Geology; Classbook of Geology, Field Geology इत्यादि।

आपके भाई Geikie James भी भूगर्भशास्त्री थे (१८३९–१९१५)।

Goethe, Johann, Wolfgang von (1749–1832)

जर्मनी Frankfurt में धनवान् माता-पिता के यहाँ जन्म। प्राथमिक शिक्षण पिता एवं निजी शिक्षकों के द्वारा। १६ वर्ष आयु में Leipzig विश्वविद्यालय में कानून के अध्ययन के लिये प्रवेश, किन्तु गम्भीर बीमारी का अवरोध। १७७० में जब पुन: अध्ययन प्रारम्भ हुआ, तब Strasbourg में Johann Herder नामक कवि से भेंट हुई, जिसने शेक्सपियर तथा पुराने जर्मन लोकगीतों में आपकी रुचि जगा दी। उनके रोमानी प्रभाव से Gotzvon Berlichingen नामक नाटक और The Sorrows of Werther नामक प्रथम उपन्यास लिखा (१७७४), जिससे योरोपभर में ख्याति। इन दोनों रचनाओं से जर्मन-साहित्य में 'Storm and Stress' नाम से आन्दोलन आरम्भ। इस नवीन साहित्य में देशप्रेम भरा था और लेखकों को विदेशी विषयवस्तु छोड़कर जर्मन नायकों और लोककथाओं पर लिखने को प्रोत्साहन मिला था।

प्रमुख जर्मन-'क्लासिकी'-कवि, जिन्हें होमर, दान्ते और शेक्सपियर के समकक्ष रखा जाता है। आपकी महान् रचना है—Faust, जो संसार के उत्कृष्ट नाट्यात्मक काव्यों में परिगणित हुई। उपन्यास, आत्मकथा, गीतिकाव्य आदि में भी विशेष योगदान। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी; आपकी रुचि के क्षेत्र विज्ञान, दर्शन, चित्रकला, नाट्य, सार्वजनिक सेवा तक विस्तृत रहे।

कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' का अंग्रेजी अनुवाद (Sir William Jones-कृत, १७८९) की सफलता से प्रेरित होकर George Forster ने शाकुन्तलम् का पहला जर्मन अनुवाद १७९१ में प्रकाशित किया। गेटे ने इस अनुवाद को पढ़कर प्रशंसात्मक उद्गार के रूप में जिन चार पंक्तियों की रचना की, वे विश्व-विश्रुत।

Goldstein, Eugen (1850–1930)

जर्मन भौतिकीविद्, जिनका गैसों में वैद्युत घटनाओं पर और Cathode Rays पर अनुसन्धान विख्यात है। Canal Rays के आविष्कार का भी श्रेय प्राप्त। Breslau (अब पोलैण्ड के अन्तर्गत) से १८८१ में डाक्टरेट। Potsdam Observatory (वेधशाला) प्रमुख कार्यस्थल।

Hegel, Georg Wilhelm Fridrich (1770–1831)

जर्मनी में Stuttgart में उत्पन्न दार्शनिक। Tubingen विश्वविद्यालय में

ईश्वर-विज्ञान (Theology) और दर्शन का अध्ययन (१७८८–९३)। १८०१ में Jena विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त। १८०५ में प्रोफ़ेसर पद प्राप्त। इस पद को जेना के युद्ध के बाद (१८०६) छोड़ना पड़ा। समाचारपत्र का सम्पादन (१८०६ से १८०८) और व्यायामशाला का निदेशक पद (१८०८ से १८१६) सम्हालने के बाद Heidelberg में दर्शन के प्रोफ़ेसर नियुक्त (१८१६)। १८१८ में बर्लिन में Fichte के उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त।

आपने समस्त ज्ञान को अपना क्षेत्र माना और इतिहास, कानून, तर्कशास्त्र, कला, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में मौलिक योगदान किया। जर्मन विज्ञानवाद (Idealism) का परमोत्कर्ष आपके दर्शन में हुआ जिसे' Panlogism' (Pan = सब Logos = Reason, तर्क) नाम दिया गया है। इसका आधार यह विचार है कि सत्य को तर्कसंगति से समझा जा सकता है, क्योंकि यह विश्व स्वयं तर्कसंगत हैं। आपने एक ऐसे दार्शनिक मत का प्रतिपादन किया जिससे सत्य के सभी पक्षों की व्याख्या हो सके। इस दर्शन के अनुसार चरम सत्य विशुद्ध चेतन (Absolute spirit) है। इस चेतन से जो विश्व उत्पन्न हुआ है उसमें एक व्यवस्था है, जिसके नियम सम्पूर्ण सत्य पर लागू होते हैं, जिनमें मानवबुद्धि भी शामिल है।

आपका लेखन मूलतः जर्मन में है। प्रकाशनों के अंग्रेजी नाम इस प्रकार हैं—Encyclopaedia of Philosophic Sciences, The Philosophy of Right, Phenomenology of Spirit, and Science of Logic, आपके शिष्यों द्वारा आपके व्याख्यान अनेक जिल्दों में प्रकाशित जिनके शीर्षक हैं—Aesthetics, Philosophy of History, History of Philosophy, and Philosophy of Religion.

Helmholtz, Herman L. F. (1821–1894)

पोटॅस्डम, जर्मनी में व्यायामशाला के शिक्षक के यहाँ जन्म। बाल्यकाल में अतिदुर्बल और रोगग्रस्त; किन्तु नौ वर्ष की आयु से बल-बुद्धि का विशेष विकास। भौतिकी के अध्ययन में विशेष रुचि; किन्तु घटनाक्रम से चिकित्सा-विज्ञान का बर्लिन में विशेष अध्ययन, जिसके साथ भौतिकी का भी संयोग, अस्पताल के गुरुतर कार्यभार के साथ-साथ शरीर-विज्ञान और भौतिकी को जोड़ने में रुचि। ऊर्जा के संरक्षण की समस्या पर विशेष अवधान।

दो मूलभूत मान्यता लेकर गहन अनुसन्धान :—

१. सभी जड़ पदार्थ (Matter) particles से बने हैं (सावयव हैं)।

२. ये particles केन्द्रिय शक्तियों के द्वारा परस्पर क्रिया करते हैं।

चिकित्सा-विज्ञान के साथ-साथ ध्वनि-विज्ञान (acoustics) में विशेष अनुसन्धान। आपकी पुस्तक On the Sensations of Tone (जर्मन से अंग्रेजी अनुवाद, मूल जर्मन १८६२ में प्रकाशित) विज्ञान और संगीत का अद्वितीय सेतुबन्ध है, जिसका स्थान आज भी अक्षुण्ण है।

नेत्रचिकित्सा के लिए ophthalmoscope का आविष्कार किया, जिससे retina पर प्रकाश डालकर उसका अध्ययन करना सम्भव हुआ।

शरीर-विज्ञान, चिकित्सा, गणित, भौतिकी, ध्वनि-विज्ञान आदि अनेक क्षेत्रों में अपूर्व यश एवं स्थायी कीर्ति के धनी।

Homer (प्राय: 700 B. C.)

ग्रीक के दो महाकाव्य Iliad or Odyssey के प्रणेता। इसके अतिरिक्त अनेक स्तोत्रात्मक काव्य भी उनके नाम से जुड़े हैं (Homeric Hymns)

Huxley, Sir Julian (Sorall) (1887–1975)

इंग्लैण्ड के जैवतत्त्वविद्, दार्शनिक, शिक्षाविद्, लेखक, जिनका आधुनिक भ्रूण-विज्ञान (Embryology) और 'विकास'-सम्बन्धी चिन्तन पर विशेष प्रभाव।

प्रमुख जैवतत्त्वविद् T. H. Huxley के पौत्र।

प्रमुख ग्रन्थ :—The Individual in the Animal Kingdom (1912), Essays of a Biologist (1923), Religion without Revelation (1927), The Beginnings of Life (1938), The Uniqueness of Man (1941), Evolution : The Modern Synthesis (1942), The Human Crisis (1963).

Huxley, Thomas Henry (1825–1895)

इंग्लैण्ड के जैववैज्ञानिक। लन्दन विश्वविद्यालय से १८४५ में स्नातक (M. B.) और Royal Navy में सहायक सर्जन नियुक्त (१८४६), School of Mines में प्राकृतिक इतिहास के प्रोफेसर, फिर Royal College of Surgeons में प्रोफेसर, अन्य अनेक संस्थाओं-समितियों के अध्यक्ष रहे।

प्रतिपादन की स्पष्टता आपके लेखन और भाषण दोनों में समान रूप से विख्यात।

प्रमुख ग्रन्थ :—The Oceanic Hydro-Zoa (1857); On the Theory of the Vertebrate Skull; Man's place in Nature (1863); On our knowledge of the causes of the Courses of the Phenomena

of Organic Nature—1862 में दी गई व्याख्यानमाला; Elements of Comparative Anatomy (1864); Elementary Physiology (1866); Introduction to the classification of Animals (1869); Physiography (1877); Anatomy of Invertebrate Animals (1877); Science and Culture (1882).

James William (1842–1910)

अमेरिका के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक। १८७० में Harvard Medical School से स्नातक। १८७२ में वहाँ अध्यापन आरम्भ। १८८१ में प्रोफेसर नियुक्त, पहले Anotomy and Physiology के, और बाद में Psychology तथा Philosophy के। Oxford और Edinburgh में भी व्याख्यान। विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान में विशेष कार्य।

प्रमुख ग्रन्थों के नाम :—Principles of Psychology (1890); The Will to Believe (1897); Human Immortality (1898); The Varieties of Religious Experience (1902); Pragmatism (1907); The Meaning of Truth (1909); Some Problems of Philosophy (1911); Essays in Radical Empiricism (1912).

Kant, Immanuel (1724–1804)

जर्मनी में Kenigsberg में निर्धन परिवार में जन्म। पूरा जीवन जन्मस्थान में ही बीता। उसी नगर के विश्वविद्यालय में भौतिकी, गणित, दर्शन और ईश्वर-विज्ञान (Theology) का अध्ययन (१७४०–४६)। १७४६–५५ तक कई परिवारों में शिक्षक का कार्य। १७५५ में विशेष व्याख्याता के रूप में विश्वविद्यालय में नियुक्ति, जहाँ गणित, भौतिकी, तत्त्वविज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, भूगोल, नृतत्त्व-विज्ञान, Natural Theology एवं अन्य विषय का अध्यापन किया। १७७० में तर्कशास्त्र और तत्त्वविज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त, जिस पद पर १७९७ तक बने रहे।

योरोप में महान् दार्शनिक के रूप में विश्रुत। ज्योर्तिविज्ञान, नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, विधिशास्त्र, धर्मदर्शन तथा ज्ञानमीमांसा में अपूर्व योगदान।

आरम्भिक रचनाओं का सम्बन्ध विज्ञान से अधिक, दर्शन से कम। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक रचना—General Natural History तथा Theory of the Heavens (१७५५)।

१७६० से ७० तक English Empiricism (इंग्लैण्ड के अनुभववाद) से प्रभावित। इस काल की रचना—Dreams of a Spirit Seer (1766)

तीसरे चरण में आपका विशिष्ट विकास। इस काल की प्रमुख रचनाएँ— Critique of Pure Reason (1781), Prolegomena to any Future Metaphysics (1783), Foundations of the Metaphysics of Ethics (1785), Metaphysical Foundations of Natural science (1786), Critique of Practical Reason (1788) एवं Critique of Judgement.

चतुर्थ चरण (१७९०–१८०४) में प्रमुख रूप से धार्मिक और सामाजिक समस्याओं से सम्बन्ध रहा। इस काल की प्रमुख रचनाएँ—Religion within the Limits of Pure Reason (1794), जिससे रूढ़िवादी धर्मविज्ञानियों में तूफान उठ खड़ा हुआ। Eternal Peace (1795) शीर्षक से निबन्ध, जिसमें स्वतन्त्र सरकारों के ऐसे संघ का सुझाव था जिसमें युद्ध निषिद्ध हो।

Kepler, Johannes (1571–1630)

ज्योतिर्विद्, ज्योतिषी, गणितज्ञ, गुह्यज्ञ (mystic), दक्षिण-पश्चिम जर्मनी में Weil नगर में जन्म। बाल्यकाल अतिशय रोगग्रस्त। 1596 में The Mystery of the Universe नामक विलक्षण ग्रन्थ प्रकाशित किया, जिसमें यह दावा किया कि ग्रह-नक्षत्रों की सूर्य से दूरी में निहित व्यवस्था समझ ली है। 1600 में धार्मिक असहिष्णुता के कारण Sratz (Styria के Austrian प्रान्त की राजधानी) को छोड़कर Prague (हंगरी की राजधानी) गये। वहाँ प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् Tycho Brahe से प्रत्यक्ष सम्पर्क। गैलीलियो से पत्र-व्यवहार। 1601 में Tycho की मृत्यु के बाद राजकीय-गणितज्ञ का पद प्राप्त, जिसमें राज-परिवार की जन्म-कुण्डलियाँ बनाना भी कार्यभार के अन्तर्गत था। आपका New Astronomy नामक ग्रन्थ ज्योतिर्विज्ञान पर पहली आधुनिक रचना है।

La Grange, Joseph Louis (1736–1813)

फ्रान्स का गणितज्ञ। गणित में जन्मजात प्रतिभा; १९ वर्ष पूरे होते न होते प्रोफेसर नियुक्त, १७६४ और पुनः १७७६ में Academy of Sciences का पुरस्कार प्राप्त। विशेष निमन्त्रण पर बर्लिन में एकेडमी के निदेशक का पद सम्भाला, जिस पर बीस वर्ष रहे। १७८६ में फ्रान्स लौटकर क्रमशः अनेकों बड़े पदों पर नियुक्त। नेपोलियन ने विशेष सम्मान किया। प्रभूत सम्मानों के बीच रहते हुए भी सदा विनम्र और निःसङ्ग बने रहे और अध्ययन-अनुसन्धान में पूरे श्रम के साथ तत्पर।

प्रमुख ग्रन्थों के नाम—Mecanique Analytique (1788); Theorie des Fonctions Analytiques (1797); Resolution des Equations Numeriques (1798); Lecons sur le Calculdes fonctions; Saessai d' Arithmetique Politique.

La Place, Marquis Pierre Simon de (1749–1827)

फ्रांस के Normandy के अन्तर्गत Beaumont-en-Auge नामक छोटे शहर में निर्धन किसान के घर जन्म। धनी पड़ोसियों और सम्बन्धियों की सहायता से Caen विश्वविद्यालय से स्नातक बने। उत्कट अभिलाषा के फलस्वरूप Ecole-Millitaire में Mathematics के प्रोफेसर पद पर नियुक्ति।

गुरुत्वाकर्षण, ज्योतिष्कों की गतियों के गणित, प्रकृति और विश्व की मौलिक शक्तियों की समझ इत्यादि के क्षेत्र में अपूर्व कार्य। पाँच खण्डों में वृहद् ग्रन्थ—Mecanique Celeste का प्रणयन। इसमें ज्योतिर्विज्ञान का इतिहास, पूर्वगामी आचार्यों के कार्य का व्यवस्थित विवरण और सौरमण्डल की गति-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान।

Larmor, Sir Joseph (1857–1942)

आयरलैण्ड के भौतिकीविद्। आपने सर्वप्रथम परिवर्धित गतिवाले electron से शक्ति के विकिरण के वेग (rate) की गणना की, और सर्वप्रथम चुम्बकीय क्षेत्र (Magnetic field) के द्वारा Spectrum lines के विखण्डन की व्याख्या की। आपके सब सिद्धान्त इस विश्वास पर टिके थे कि जड़ पदार्थ (matter) और कुछ नहीं, ईथर में गतिशील विद्युत्कण ही हैं।

Belfast और कैम्ब्रिज में शिक्षण और क्वीन्स कॉलेज, Galway (१८८०–८५) तथा कैम्ब्रिज (१८८५–१९३२) में अध्यापन।

Lawrence, Ernest Orlando (1901–1958)

संयुक्तराज्य अमेरिका का भौतिकीविद्। भौतिकी में, Cyclotron के आविष्कार के लिये १९३९ में नोबल पुरस्कार प्राप्त। यह साइक्लोट्रान कण की गति को बढ़ाकर उच्च शक्ति उपलब्ध करानेवाला है। इस आविष्कार से रसायनशास्त्र, जैव-विज्ञान और चिकित्साशास्त्र में भी भारी योगदान हुआ, जिसके लिये सम्मानित।

टिप्पणी—स्वामीजी ने इनका नाम सीधे नहीं लिया है किन्तु पृ० ४१ पर लौरेन्स् फ्रिट्जिराल्ड एक्सपेरीमेन्ट का जो नाम लिया है उसीके सन्दर्भ में हमने Lawrence तथा Lorentz दोनों का विवरण यहाँ दिया है। स्वामीजी का आशय सम्भवतः द्वितीय से है।

Leibnitz, Gottfrid Wilhelm, Baron von (1646–1716)

जर्मन विद्वान् और दार्शनिक। कानून, गणित और दर्शन का अध्ययन।

कुछ राजनैतिक पदों पर काम करने के बाद १६७२ में Paris गये। वहाँ पर विशेष रूप से गणित का अध्ययन। इंग्लैण्ड भी गये और वहाँ Royal society के सदस्य चुने गये।

यद्यपि अनेक विद्याओं में पारङ्गत, किन्तु विशेष रूप से दार्शनिक और गणितीय उपलब्धियों के लिये विश्रुत।

प्रमुख ग्रन्थ—De Principio Individui (1663), De Conditionibus (1665), De Arte Combinatoria (1866), Essai de Theodicee (1710), Monadologie (1714), इत्यादि।

अन्तिम दो ग्रन्थों में दार्शनिक चिन्तन का सार।

Le Sage Alain Rene (1668–1747)

फ्रान्स के उपन्यासकार और नाटक-लेखक।

Lodge, Sir Oliver (1851–1940)

इंग्लैण्ड में Staffordhire के अन्तर्गत Penkhull में जन्म। १४ वर्ष की आयु में पिता के मिट्टी के बर्तनों की आपूर्ति के व्यवसाय में प्रवेश, किन्तु २२ वर्ष की आयु में भौतिकी का अध्ययन प्रारम्भ। University College लन्दन से १८७७ में डाक्टरेट प्राप्त और वहाँ अध्यापन। युनिवर्सिटी कालेज, लिवरपूल में १८८१–१९०० तक भौतिकी के प्रोफेसर। फिर १९०० से १९१९ तक University of Birmingham के प्रथम कुलपति।

आपके वैज्ञानिक अनुसन्धान का क्षेत्र बहुत विस्तृत था, जिसमें तड़ित्-तथ्य (Phenomena of Lightning) विद्युत्-तरङ्ग और वेग, बेतार के दूरसञ्चार में तरङ्गसम्प्रेषण इत्यादि शामिल थे।

प्रमुख वैज्ञानिक ग्रन्थ—Modern views of Electricity, Lightning Conductors and Lightning Guards, Signalling across space without wires, Electrons, Atoms and Rays, Electrical Precipitation तथा Advancing Science.

अतीन्द्रिय घटनाओं की सत्यता पर विश्वास के लिये विख्यात, विशेषतः मृतकों के साथ सम्बन्ध-स्थापन के लिये, और विज्ञान एवं धर्म में संगति का आग्रह। अतीन्द्रिय-क्षेत्र में अनुसन्धान को व्यापक ख्याति मिली।

प्रमुख ग्रन्थ—The Survival of Man (1909) और Raymond (19:6)। इस द्वितीय ग्रन्थ में १९१५ में मारे गये आपके पुत्र के साथ सम्पर्क का दावा।

Lorentz, Hendrik Antoon (1853–1928)

हालैण्ड के भौतिकीविद्। १९०२ में भौतिकी का नोबल पुरस्कार Peiter Zeeman के साथ संयुक्त रूप से प्राप्त। Leiden में शिक्षण, जहाँ १८७८ में गणितीय भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त। विकिरणधर्मिता (Radiation) पर चुम्बकीय (Magnetism) प्रभाव पर विशेष कार्य, जिसमें आइन्स्टाइन के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त की नींव पड़ी।

प्रमुख ग्रन्थ—Collected Papers (1934–39), Lectures on Theoretical Physics (1927–31), Problems of Modern Physics (1927), The Theory of Electronics (2nd. Ed. 1953).

आपकी Electron Theory से कई घटनायें तो व्याख्यात हो गयीं, किन्तु Michelson Morley Experiment के negative result की व्याख्या नहीं हो सकी। इस कठिनाई को पार करने के लिए आपने १८९५ में Local Time का प्रतिपादन किया। इसके और FitzGerald contraction के बीच का सम्बन्ध Sir Joseph Larmor ने प्रतिपादित किया था। Lorentz ने उनका काम आगे बढ़ाया और Lorentz Transformation तक पहुँचे, जिसके आधार पर आइन्स्टाइन की Restricted Theory of Relativity की नींव पड़ी।

Mandeleev, Dmitri Ivanovitch (1834–1907)

साइबेरिया के उजड़े प्रदेश में, हाईस्कूल के निदेशक की सत्रहवीं सन्तान। माता के अध्यवसाय से सेन्ट पीटर्सबर्ग के पेडागौगिकल इंस्टीट्यूट में विज्ञान-विभाग में प्रवेश। वहाँ से भौतिकी, रसायनशास्त्र और गणित लेकर स्नातक। इसके बाद कुछ समय फ्रान्स में अध्ययन। फिर रूस में लौटकर Organic Compounds पर पाठ्य-पुस्तक लिखी; "The Union of Alcohol with Water" शीर्षक से शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करके डॉक्टरेट प्राप्त। इसके बाद ही सेन्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में प्रोफेसर नियुक्त।

रसायनशास्त्र में अपूर्व आविष्कारों के अतिरिक्त रूस में ज़ार-शासन का साहस-पूर्ण विरोध और गरीबों की पक्षधरता। १८९० में प्रोफेसर पद से त्यागपत्र; क्योंकि विद्यार्थियों की स्वतन्त्रता की माँग अस्वीकृत हुई थी।

Maxwell, James Clerk (1831–1879)

स्कॉटलैण्ड के अन्तर्गत एडिनबरा में वकील के घर में जन्म। तीन वर्ष की वय से ही वैज्ञानिक कुतूहल व्यक्त। दस वर्ष की आयु में एडिनबरा एकेडमी में प्रवेश।

१८४७ में एडिनबरा विश्वविद्यालय में प्रवेश। औपचारिक शिक्षण के अतिरिक्त समय में वहाँ की प्रयोगशालाओं में विशेष कार्य। १८ वर्ष की वय में कैम्ब्रिज में प्रवेश।

प्रकाशकिरणों, वर्णान्धता (Colourblindness), वर्ण-प्रत्यक्षादि पर विशेष कार्य। Farade के काम का विशेष अध्ययन। "Maxwell Law of Distribution of Velocities" की स्थापना, जिसमें gases के गुणों, यथा दवाव, घनता, तापमान इत्यादि पर विशेष प्रतिपादन है; मुख्य सिद्धान्त यह कि गैस सदृश गतिवेग से युक्त कणों से बनी है।

विज्ञान को महान् योगदान के रूप में A Treatise on Electricity and Magnetism 1873 में प्रकाशित।

Henry Cavendish के काम को प्रकाश में लाने के लिये, उनके मरणोपरान्त विशेष परिश्रम से उनके notes का सम्पादन और १८७९ में प्रकाशन। उसी वर्ष अकाल-मृत्यु से अनेक महान् वैज्ञानिक आविष्कार विलम्बित हो गये।

Mayer, Johann Tobias (1723–1762)

जर्मन ज्योतिर्विद्। बाल्यकाल निर्धनता में बीता। स्वशिक्षण से गणितविद् बने। १७४६ में जब Nuremberg में नक्शे बनाने के संस्थान में प्रविष्ट हुए तब तक दो मौलिक ज्यामिति के ग्रन्थ प्रकाशित कर चुके थे। वहाँ नक्शा बनाने की पद्धति में अनेक सुधार किये और ख्याति अर्जित की, जिसके फलस्वरूप Goe-ttingen विश्वविद्यालय में १७५१ में गणित के प्रोफेसर निर्वाचित। १७५४ में वेधशाला के अध्यक्ष नियुक्त, जहाँ अत्यन्त उत्साह एवं श्रम के साथ मरण-पर्यन्त सफल कार्य किया। अनेक पाण्डुलिपियाँ छोड़ गये, जिनमें से कुछ का प्रकाशन १७७५ में Operaimedita नाम से हुआ। चन्द्र-सूर्य-ग्रहणों की गणना की सुगम पद्धति इस सामग्री का एक अंग है। कुछ सामग्री लन्दन से १७७० में प्रकाशित।

Mayer, Jullius Robert (1814–1874)

जर्मन भौतिकीविद्। चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन, उसीमें आजीविका-निर्वाह। First Law of Thermo-Dynamics के स्वतन्त्र प्रतिपादक के रूप में विख्यात। विशेष रूप से इस नियम से विश्व तथा पृथ्वी की अनेक घटनाओं की व्याख्या के लिये विश्रुत। आपके शोधपत्र Die Mechanik der Warme (Tbird Ed. 1893) शीर्षक से संकलित व प्रकाशित हुए। उनका मूल्य अप्रतिम माना जाता है।

Michelson, Albert Abraham (1852–1931)

जर्मनी में उत्पन्न अमेरिकन भौतिकीविद्। आपने प्रकाश का गतिवेग निश्चित

किया। इसीके आधार पर अन्य spectroscopic और Meteorological अनुसन्धान किये। १९०७ में भौतिकी के लिये नोवल पुरस्कार प्राप्त। आपने Morley, E. W. के साथ मिलकर 'मिकल्सन–मॉर्ली–एक्सपेरीमेन्ट' किया जिसका उद्देश्य था–कल्पित ईथर के सन्दर्भ में पृथ्वी के गतिवेग को नापना। इस प्रयोग को बाद में आप दोनों ने एवं अन्यों ने भी परिष्कृत किया।

Mill, John Stuart (1806–1873)

लन्दन में जन्म। पिता James Mill. जो कि ईस्ट इण्डिया-कम्पनी में सचिव थे और आर्थिक, राजनैतिक, समाजशास्त्रीय तथा दार्शनिक विषयों पर लिखते थे। पिता अपने पुत्र को महान् चिन्तक बनाना चाहते थे। तदनुसार विशेष ध्यान देकर उसका बौद्धिक प्रशिक्षण आरम्भ किया।

१८२३ में आप ईस्ट इण्डिया-कम्पनी की सेवा में आये, जहाँ १८५८ में उसके निरस्त होने तक बने रहे।

दार्शनिक; तर्कशास्त्री; अर्थशास्त्री; प्रत्यक्षवाद के प्रतिपादक।

प्रमुख रचनायें—System of Logic (1843), Principles of Political Economy (1848), Liberty (1859), Thoughts on Parliamentary Reform (1859), Representative Government (1860), The subjection of Women (1861), Utilitarianism (1861), Augueste Comte and Positivism (1865) तथा Three Essays on Religion, इत्यादि।

Minkowski, Oskar (1858–1931)

लिथुआनिआ में जन्म और जर्मनी में मृत्यु। शरीर-विज्ञान और निदानशास्त्र के विशेषज्ञ। यह आविष्कार किया कि मधुमेह का कारण है शरीर में Pancreatic पदार्थ का दव जाना। वाद में इसी पदार्थ को insulin नाम दिया गया।

Morley, Edward Williams (1838–1923)

संयुक्तराज्य अमेरिका के रसायनशास्त्री, जो A. A. Michelson के साथ Morley Michelson नामक experiment के लिए विख्यात हुए, जो कि कल्पित ईथर की अपेक्षा से पृथ्वी की गति नापने का प्रयास था। आपका स्वतन्त्र शोधकार्य विभिन्न गैसों के घनत्व और आणविक भार को लेकर था।

Muller, Friedrich Max (1823–1900)

Dessan (जर्मनी) में जन्म, भाषावैज्ञानिक। पिता Wilhelm Muller

कवि थे। १८४६ में इंग्लैंड आये और आक्सफोर्ड में कार्य प्रारम्भ। मृत्यु-पर्यन्त वही कार्यस्थल रहा। वहाँ आधुनिक भाषाओं के Taylorian प्रोफेसर बने (१८५४)।

Bodleian Library में उपाध्यक्ष (१८६५)। तुलनात्मक भाषाविज्ञान के प्रोफेसर (१८६८)।

कुछ प्रमुख ग्रन्थों के नाम— ऋग्वेद का संस्करण (६ खण्ड १८४९–७४)। संस्कृत-साहित्य का इतिहास (१८५९)। भाषा-विज्ञान पर व्याख्यान (१८७८)। भारत में वेद के व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध।

Newton, Isaac (1642–1727)

कालपूर्व जन्म। जन्म से पहले ही पिता की मृत्यु। Grantham नामक कस्बे में स्कूली शिक्षा। कुछ व्यवधान के बाद Trinity College, Cambridge में प्रवेश। १६६४ में गणित में विशेष छात्रवृत्ति मिली। शुद्ध गणित की अपेक्षा अधिक रुचि इसमें थी कि गणित के द्वारा भौतिक जगत् को बेहतर ढंग से समझा जाय। गणित में Binomial theorem तथा differential calculus के तत्त्वों (fluxions) का आविष्कार। दूसरा बड़ा आविष्कार पृथ्वी में स्थित गुरुत्वाकर्षण शक्ति और उसी प्रकार ग्रह-नक्षत्रों के परस्पर गुरुत्वाकर्षण से जुड़ा था। इस आकर्षण को नापा जा सकता है ऐसा उनका दावा था।

दूरवीक्षण यन्त्र के शीशे (lens) के निर्माण में विशेष सुधार। विज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज लैटिन में—Philosophiae Naturalis Principia Mathematica (Mathematic Principles of Natural Philosophy)।

सबसे महान् वैज्ञानिक के रूप में ख्याति। यद्यपि आइन्स्टाइन ने न्यूटन के आविष्कारों का विस्तार, स्पष्टीकरण और कहीं-कहीं संशोधन किया, तथापि न्यूटन के सिद्धान्त आज भी विश्व के सम्बन्ध में वैज्ञानिक धारणाओं का ठोस आधार हैं।

Nicholson, William (1753–1815)

Natural Philosophy के अंग्रेज (English) विद्वान्। १७८१ में आपका ग्रन्थ An Introduction to Natural Philosophy प्रकाशित हुआ, जो तत्काल प्रशंसित हुआ। विज्ञान पर लोकग्राह्य साहित्य-सर्जन और भाषण देने में संलग्न रहे। Waterworks Engineering के साथ विशेष सम्बन्ध रहा। Voltaic current के द्वारा जल की विघटन-प्रक्रिया (decomposition) का आविष्कार।

टिप्पणी—स्वामीजी ने निकल्सन का नाम विद्युत् के प्रसङ्ग में लिया है, उनका अभिप्राय इन्हीं निकल्सन से था या अन्य किसीसे, यह कहा नहीं जा सकता।

Ostwald, Wilhelm (1853–1932)

जर्मन रसायनशास्त्री, Riga में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर रहे (१८८२–८७)। इसके बाद Liepzig में भौतिक-रसायनशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त, जहाँ १९०६ तक रहे। अनेक विदेशी विश्वविद्यालयों द्वारा सम्मानित। रसायनशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ रचित, जिनका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ।

Pearson, Karl (1857–1936)

इंग्लैण्ड के गणितज्ञ और आधुनिक सांगणिकी (statistics) के स्थापक। गणित के अतिरिक्त कानून और राजनीति में विशेष रुचि। १८८४ में लन्दन के युनिवर्सिटी कॉलेज में Applied Mathematics और Mechanics के प्रोफेसर नियुक्त, जहाँ १९३३ तक अध्यापन किया। Statistics का जैवविज्ञान, वंशानुक्रम और विकास की समस्याओं में विनियोग करने का यत्न किया।

प्रमुख ग्रन्थ—The Grammer of Science (1892), Mathematical Contribution to the Theory of Evolution (1912), The Ethics of Free Thought (1888), The Chances of Death and Other Studies of Evolution (1897) इत्यादि।

Poincare, Jules Henri (1854–1912)

फ्रांस के गणितज्ञ। १८८६ में Sorbonne विश्वविद्यालय में गणितीय भौतिकी (Mathematical Physics) के प्रोफेसर नियुक्त और १८९६ में Celestial Mechanics के प्रोफेसर। १८८९ में गणित के लिए स्वीडन-नरेश द्वारा घोषित सर्वोच्च पुरस्कार, प्रतियोगिता में उतरकर, जीता। तब से यूरोप के तत्कालीन सर्वोच्च गणितज्ञ के रूप में स्वीकृत।

गणित और भौतिकी के अतिरिक्त दर्शनशास्त्र में भी विशेष ख्याति प्राप्त। अधिकांश लेखन असंख्य शोध-पत्रिकाओं (journals) में बिखरा है।

प्रमुख ग्रन्थ—Theorie des fonctions fuchsiennes Cours de physique mathematique (१३ जिल्द), Methodes nouvelles de la meanique celeste, Oscillations electriques, Theorie de Maxwell et les oscillations hertziemes इत्यादि।

Ramsay, Sir Andrew Combie (1814–1891)

स्कॉटलैण्ड के भूगर्भवेत्ता, 'ग्लास्गो' में जन्म। University College,

London में १८४७ में प्रोफेसर नियुक्त। Geological Survey और Museum of Practical Geology के महानिदेशक रहे (१८७२-८१)।

प्रमुख ग्रन्थ—Physical Geology; Geography of Britain and Geology of Arran.

Rosen Kranz Johann Carl Friedrich (1805-1879)

जर्मन दार्शनिक। बर्लिन, Halle और Heidelberg में दर्शन का अध्ययन, विशेष रूप से Hegel और Schleiermacher का। १८३३ से मृत्यु तक Konigsberg में प्रोफेसर रहे। अन्त तक प्रायः सम्पूर्ण रूप से हेगेल के अनुयायी बने रहे। अनेकानेक ग्रन्थों के रचयिता।

टिप्पणी

स्वामीजी ने 'रोजेन' नाम Indologist के रूप में लिया है, किन्तु प्रस्तुत नाम दार्शनिक के रूप में मिला है।

Roth, Justus, Ludwig, Adolf (1818-1892)

जर्मन भूगर्भवेत्ता और खनिजविशेषज्ञ। १८६७ में बर्लिन विश्वविद्यालय में खनिज-विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त। चट्टानों की बनावट (Pitrography) के विज्ञान के संस्थापक।

प्रमुख ग्रन्थ—Der Vesuv und die Umgebung Von Neapel (1857), Beitiage zur Pitrographie der plutonischen Gesteine (1869-84), Allgemeine und chemische Geologie (Three Volumes) (1879-93) इत्यादि।

Russell, Bertrand (1872-1970)

इंग्लैण्ड के उच्च सामन्त-परिवार में जन्म। बाल्यकाल में ही माता-पिता की मृत्यु। पिता की वसीयत थी कि उनके दोनों पुत्रों को रूढ़िवादी वातावरण में न पाला जाय, अपितु उनके नास्तिक मित्रमण्डल के सुपुर्द किया जाय, किन्तु दादी की प्रबल इच्छा के कारण दोनों बालक उन्हींके सुपुर्द हुए। दादी बहुत कट्टर रूढ़िवादी थी। बालक बर्ट्रेण्ड का शिक्षण घर पर ही हुआ, अन्य बालकों से प्रायः कोई सम्पर्क नहीं था। दस वर्ष की आयु तक ही आन्तरिक परिपक्वता और ज्ञान में निश्चितता की ललक जागी। ११ वर्ष की आयु में ही सन्देह प्रबल होने लगा।

१८९० में कैम्ब्रिज के Trinity College में प्रवेश और तुरन्त असाधारण प्रतिभा के धनी के रूप में स्वीकृत। १८९३ में 'आनर्स' परीक्षा (गणित) में प्रथम

श्रेणी में उत्तीर्ण, फिर दर्शनशास्त्र की ओर झुके। १८९४ में Moral sciences में प्रथम श्रेणी में उपाधि प्राप्त। उसी वर्ष प्रथम विवाह, फिर दो वर्ष तक संयुक्त राज्य अमेरिका में ज्यामिति के अध्यापक। फिर जर्मनी में अर्थशास्त्र का अध्ययन और मार्क्सवाद से परिचय। फिर लन्दन—School of Economics and Political Science में प्रथम लेक्चरर के रूप में नियुक्ति।

प्रथम ग्रन्थ—German Social Democracy (1896).

दार्शनिक चिन्तन में मुख्य उद्देश्य यही रखा कि मानव के ज्ञान को सरलतम भाषा में और न्यूनतम रूप में रखा जाय। यह भी गहरा विश्वास था कि जगत् के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि ही प्रायः निर्दोष है।

दार्शनिक ग्रन्थों के नाम—An Inquiry into Meaning and Truth (1940), Human Knowledge Its Scope and Limits (1948)

आपके चिन्तन में दूसरा प्रमुख उद्देश्य था गणित और तर्कशास्त्र में मेल बैठाना। इस उद्देश्य से The Principles of Mathematics (1903) की रचना की।

तीसरा उद्देश्य विश्लेषणात्मक था, जो इस मान्यता को लेकर चला था कि जगत् के बारे में बहुत कुछ अनुमान उस भाषा से लगाया जा सकता है, जिसमें कि उसका वर्णन किया जाता है। The Analysis of Matter (1927) और The Analysis of Mind (1921) जिनका मुख्य प्रतिपादन था कि 'मन' और 'जड़ पदार्थ' एक ही तत्त्व के भिन्न बन्ध हैं।

दर्शन, विज्ञान एवं फुटकर विषयों पर पचासों ग्रन्थ रचे। तीन खण्डों मे लिखी आत्मकथा सर्वाधिक प्रशंसित।

Rutherford, Lord Ernest (1871–1937)

न्यूजीलैण्ड के अन्तर्गत South Island के Nelson शहर में एक Scottish सामान्य कृषक-परिवार में जन्म। कॉलेज में लेटिन, फ्रेंच, अंग्रेजी साहित्य, इतिहास, गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र—इतने विषयों में विशेष योग्यता प्राप्त की। न्यूजीलैण्ड विश्वविद्यालय में १८८९ में प्रवेश। वहीं पर भौतिकी के क्षेत्र में विशेष अनुसन्धान की योग्यता प्रस्फुटित। Electromagnetic अथवा Radio तरंगों में विशेष प्रयोग। १८९५ में कैम्ब्रिज के नियमों में परिवर्तन के कारण वहाँ प्रवेश मिला। केवेन्डिश प्रयोगशाला में इंगलैण्ड के बाहर से आये प्रथम शोधछात्र के रूप में कार्य प्रारम्भ। J. J. Thomson के प्रिय शिष्य। १८९८ में कैनेडास्थित Montreal नगर में Mc

Gill विश्वविद्यालय में भौतिकी के शोध-आचार्य का पद स्वीकृत। Radiation (वैद्युतिक और चुम्बकीय शक्तियों में विकिरण) पर विशेष कार्य। १९०७ में इंग्लैण्ड में मैनचेस्टर वि० वि० में पदग्रहण और प्राकृतिक विकिरण प्रक्रिया में अनुसन्धान जारी। १९१९ में केम्ब्रिज वि० वि० में केवेन्डिश-प्रयोगशाला के अध्यक्ष हुए, जहाँ अनेक देशी व विदेशी छात्रों का मार्गदर्शन।

इनके प्रयोगों के प्रत्यक्ष आधार पर एटम को फोड़ने के प्रयोग सफल हो सके।

Soddy, Frederick (1877–1956)

इंग्लैण्ड के रसायनशास्त्री, जिन्हें Chemistry में १९२१ का नोवल पुरस्कार मिला। Radio-active पदार्थों में शोध और isotopes के सिद्धान्त का परिवर्धन विशेष कार्य।

वेल्स और ऑक्सफोर्ड में शिक्षण और Sir Ernest Rutherford तथा Sir William Ramsay के साथ विशेष कार्य।

प्रमुख ग्रन्थ—Science and Life (1920)।

Spencer, Herbert (1820–1903)

इंग्लैण्ड—Derby में जन्म। पिता स्कूलमास्टर एवं Philosophical Society के सचिव। दार्शनिक झुकाव वंशानुगत। स्कूली शिक्षण न्यूनतम। स्कूल के बाहर विशेष उन्नति, पिता के मार्गदर्शन में। सिद्धान्तों को समझने में और निष्कर्षों तक पहुँचने में कुशल; गणित तथा यन्त्रविज्ञान में सहपाठियों से आगे, किन्तु शब्दों को याद करना और व्याकरण के नियम अरुचिकर रहे। १८३७ में पिता के अध्यापन में सहायक बने, फिर Civil Engineering का अध्ययन, १८४६ तक इस पेशे में बीच-बीच में कार्य; फिर पत्रकारिता से जुड़े। १८९२ में Economist का सम्पादकत्व छोड़कर शेष जीवन समन्वयात्मक दर्शन की विचारधारा (मत) विकसित करने में समर्पित।

विकासवाद को दार्शनिक भित्ति दी। विकास को यान्त्रिक जड़ पदार्थ और गति के पुनर्विभाजन, पुनर्वितरण (Redistribution) के रूप में समझा। इस प्रकार भौतिक जगत् के विभिन्न क्षेत्रों के बीच भेद को मिटा डाला।

प्रमुख रचनायें—Proper Sphere of Government (1842), Social Statics (1850), Principles of Psychology (1855), Education (1858-59), First Principles (1860–62), Principles of Biology (1864–67), Principles of Sociology (1876–96), Principles of Ethics (1879–93), The Man versus the State, Facts and Comments (1902), Autobiography (Two Vols).

Spinoza, Baruch or Benedict (1632–77)

हालैण्ड का दार्शनिक। 'ग्रीक', 'लैटिन' पढ़ने के बाद ईश्वर-विज्ञान (Theology) का अध्ययन। कट्टरता-विरोधी विचारों के लिए प्रताड़ित। चश्मों के काँच पीसने का हुनर सीखकर उसीसे आजीविका चलाई।

प्रथम ग्रन्थ—Tractatus Theologico-Politicus अनामिक रूप से १६७० में प्रकाशित। दर्शनशास्त्र में वाणी की स्वतन्त्रता का प्रतिपादक होने के कारण यह ग्रन्थ केथॅलिक समाज में गर्हित हुआ। सर्वाधिक महत्त्व का ग्रन्थ—Ethics, जिसमें Euclid की ज्यामिति के नमूने पर अभिगृहीत नियमों (axioms) और लक्षणों के द्वारा दार्शनिक निरूपण किया गया है। प्रकृति में सर्वत्र ईश्वर का दर्शन आपको इष्ट था और देव के प्रति आपमें अपार प्रेम था। गेटे, शेली जैसे मनीषियों, कवियों पर आपका गहरा प्रभाव पड़ा।

Stokes, Sir Gabrel Bart (1819–1903)

ब्रिटिश गणितज्ञ और भौतिकीविद्। लॉर्ड केल्विन और क्लार्क मैक्सवेल के साथ अतिविशिष्ट Natural Philosophers के त्रिक के अङ्गीभूत। लॉर्ड केल्विन के गुरु भी रहे। कैम्ब्रिज में अनेक विशिष्ट पदों पर रहे। १८४९ में कैम्ब्रिज में गणित के प्रोफेसर नियुक्त हुए और १८९९ में इस नियुक्ति की स्वर्ण-जयन्ती बहुत धूमधाम से मनायी गयी, जिसमें योरोप और अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर शामिल हुए थे। रॉयल सोसाइटी के अध्यक्ष रहे, दीर्घकाल तक सचिव भी रहे। Spectrum analysis की नींव रखी।

प्रमुख ग्रन्थ—आपके गणितीय और भौतिकी के शोधपत्र, पाँच जिल्दों में से प्रथम तीन आपके सम्पादकत्व में (१८८०,८३,१९०१) और शेष दो जिल्दें Sir Joseph Larmor के सम्पादकत्व में (१९०४-१९०५) कैम्ब्रिज से प्रकाशित। प्रो० लारमर ने आपके Memoir and Scientific Correspondence का सम्पादन करके कैम्ब्रिज से १९०७ में प्रकाशित कराया।

Stoney, George Johnstone (1826–1911)

इंग्लैण्ड के भौतिकीविद्, जिसने विद्युत् की मौलिक इकाई को 'electron' नाम दिया।

१८४८ में ज्योतिर्विद् 'विलियम पार्संन्स् रौसे' के सहायक बने, जिन्होंने आपको Queen's College, Galvay में प्रोफेसर का पद दिलाया (१८५२)। १८५७ में Queen's University, Dublin के सचिव बने।

Molecular Physics or kinetic theory of Gases पर विशेष कार्य। गैस के एक नाप में molecules की संख्या की आनुमानिक गिनती लगाई, जो कि बाद में सदोष सिद्ध हुई।

Strutt, Jedediah (1726–1797)

ब्रिटिश आविष्कारक और कारखाना-निर्माता। रूई का सूत कातने में विशेष आविष्कार, जिससे कपड़े के उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्तन। आपका ज्येष्ठ पुत्र विलियम स्ट्रट (१७५६–१८३०) भी यन्त्र-संचालन में विशेष योग्यता-सम्पन्न था। घरों को गर्म करने के लिये उसने Belper-stove का आविष्कार किया।

Sutherland, Earl Wilber (Jr.) (1915–1974)

संयुक्त राज्य अमेरिका के Pharmacologist और Physiologist, जिन्हें १९७१ में शरीर-विज्ञान और चिकित्सा-विज्ञान में नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ। १९४२ में Washington University Medical School से M. D. उपाधि प्राप्त। द्वितीय विश्वयुद्ध में अमेरिकी सेना में काम करने के बाद १९५३ में वाशिंगटन युनिवर्सिटी में अध्यापन आरम्भ। [ये 'जूनियर' हैं। स्वामीजी को शायद 'सीनियर' अभिप्रेत रहा होगा, किन्तु उनका विवरण नहीं मिल सका। सम्पा०]

Thomson, Sir Joseph John (1856–1940)

इंग्लैण्ड में Manchester के पास Cheetham Hill नामक शहर में जन्म। बाल्यकाल से अध्ययन में तीव्र रुचि। १८७६ में इंजीनियरिंग पाठ्यक्रम मैनचेस्टर में पूरा करके कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के Trinity College में प्रवेश, जहाँ गणित और भौतिकी में अध्ययन जारी।

२५ वर्ष की आयु में असाधारण प्रतिभा का परिचय, जबकि प्रचलित अणु-सिद्धान्त (जिसके अनुसार अणु ईथर के भीतर शिरोबिन्दु या भँवर के सदृश थे) की अपूर्णतायें सिद्ध कीं। आपका यही वैज्ञानिक प्रपत्र बाद में आइन्स्टाइन के Matter or Energy के सिद्धान्त की नींव बना। आपसे पूर्व डाल्टन से लेकर कई वैज्ञानिकों ने आणविक सिद्धान्त पर काम किया था, फिर भी प्रायः एक शताब्दी तक डाल्टन का अणु ही सब पदार्थों का चरम कण माना जाता रहा। आपने १८९७ में विद्युत् के corpuscle का आविष्कार किया, जिसके अनुसार डाल्टन अविभाज्य नहीं रह गया था। १८८४ (कुल २८ वर्ष की वय) में केवेन्डिश लेबोरेटरी के निदेशक नियुक्त। वहाँ James Clerk Maxwell के योग्य उत्तराधिकारी प्रमाणित हुए। फिर ३५ वर्ष इस पद पर रहे।

१९०६ में भौतिकी में 'नोबल' पुरस्कार, १९०८ में 'Sir' की उपाधि प्राप्त।

Thomson William (Lord Kelvin) (1824–1907)

आयरलैण्ड के Royal Academical Institution of Belfast में गणित-विभाग के अध्यक्ष। Prof. James Thomson के घर में जन्म। आठ साल की आयु में पिता स्कॉटलैण्ड में University of Glasgow लौट गये। बहुत कम आयु में स्कूल की शिक्षा अतिविशेष योग्यता के साथ सम्पन्न। १८४१ में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में उच्चतर गणित के अध्ययन के लिये प्रवेश। तदुपरान्त पेरिस में एक वर्ष अनुसन्धान-कार्य करने के बाद १८४६ में ग्लासगो विश्वविद्यालय लौटकर कुल २२ वर्ष की आयु में Natural Philosophy के प्रोफेसर पद का ग्रहण, जिस पर अगले ५३ वर्ष तक बने रहे। अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि और अटूट शारीरिक बल के धनी। विज्ञान के प्रायोगिक और सैद्धान्तिक दोनों क्षेत्रों में विपुल कार्य। वर्ग में पढ़ाते समय धाराप्रवाह भाषण, जिसमें नये-नये विषयों को भरमार रहती और उसी दौरान कई नये आविष्कार हो जाते थे। इनकी ५३ वर्ष की सेवा विश्वविद्यालय एवं विज्ञान-जगत् के लिये अत्यन्त लाभप्रद हुई।

Thermodynamics, Electro-magnetic Oscillations or radiations पर विशेष कार्य। तापमान के लिये Absolute Centigrade या Kelvin-scale of thermometry का निर्माण। जलपोतों द्वारा प्रयुक्त चुम्बकीय कम्पास में विशेष सुधार। इसके अतिरिक्त समुद्र के ज्वार के अध्ययन के लिये कई उपकरणों का निर्माण, जिससे जल-यात्रा की सुरक्षा बढ़ी।

१८९२ में Lord Kelvin की उपाधि।

Tyndall, John (1820–1893)

आयरलैंड में County Carlow में जन्म। भौतिकी के विशेषज्ञ। १८४७ में Hants के Queenwood College में शिक्षक नियुक्त। बाद में बर्लिन में अध्ययन। मुख्य ग्रन्थों के नाम हैं—The Glaciers of the Alps (1860), Mountaineering in 1861 (1862), Heat considered as a mode of Motion (1863), On Radiation (1865), Sound (1865), Faraday as a Discoverer (1868), Light (1870), Researches on Diamagnetism and Magne Crystallic Action (1870), Hours of Exercise in the Alps (1871), The Forms of Water in Clouds, Rivers, Ice and Glaciers (1872), Fragments of Science (1876), Fermentation (1877), Floating Matter in the Air in Relation to Putrefaction and Infection (1881).

Ward, James (1843–?)

इंग्लैंड के मनोवैज्ञानिक और तत्त्वज्ञ (Metaphysician)। लिवरपूल

इंस्टीट्यूट, बर्लिन, Gottingen तथा Trinity College, Cambridge में शिक्षण। १८९७ में Mental Philosophy के प्रोफेसर नियुक्त।

आपका मनोवैज्ञानिक प्रतिपादन इंग्लिश-सम्प्रदाय के संवेदनावाद (sensationalism) से सर्वथा भिन्न है। आपने अनुभव को सातत्य (Continuum) के रूप में व्याख्यात किया है; जिसमें कि 'विशेष' का क्रमशः समावेश, चयनमूलक अवधान के बल पर होता है। यथार्थ (Reality) को एक समग्रता के रूप में देखा है, जिसमें आश्रयनिष्ठ (subjective) और विषयनिष्ठ (objective) तत्त्वों का समावेश है।

प्रमुख ग्रन्थ—Naturalism and Agnosticism (1899) Journal of Physiology, British journal of Psychology इत्यादि में अनेक लेख।

Weber, Albrecht Friedrick Von (1825–1901)

जर्मन संस्कृतज्ञ विद्वान्। आपने शुक्ल यजुर्वेद एवं अन्यान्य अनेक संस्कृत ग्रन्थों के विशुद्ध संस्करण प्रकाशित किये। प्राकृत भाषा, भारतीय इतिहास, जैन धर्म इत्यादि अनेक विषयों पर आपकी पुस्तकें और निबन्ध हैं।

Weismann, August (1834–1914)

दक्षिण-पश्चिम जर्मनी में Frankfurt, am Main नामक नगर में साहित्य-संगीत-कला-प्रेमी माता-पिता के यहाँ जन्म। बाल्यकाल से Natural History में रुचि, किन्तु अजायबघर मे मृत प्राणियों या वनस्पतियों से सन्तोष नहीं, स्वयं सजीव नमूनों का संग्रह और अध्ययन।

१८ वर्ष की वय में Gottingen विश्वविद्यालय मे चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ १८५२ में M.D. उपाधि प्राप्त। डार्विन के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक। उसी दिशा में आगे अनुसन्धान के लिये चिकित्सा छोड़कर Giessen विश्वविद्यालय में जीव-विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ। बाद में Freiburg विश्वविद्यालय मे प्राणि-विज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त। इस पद पर ५० वर्ष बने रहे। १९०४ मे The Evolutionary Theory ग्रन्थ प्रकाशित।

अध्यापन आरम्भ करने के कुछ ही समय बाद नेत्रज्योति क्षीण हो गयी, किन्तु पत्नी और विद्यार्थियों की सहायता से अनुसन्धान-कार्य जारी रखा और ७८ वर्ष की अवस्था तक सफल शिक्षक रहे।

Wells, Herbert George (1866–1946)

इंग्लैण्ड में Kent के अन्तर्गत Bromley में जन्म। पिता दुकानदार और पेशेवर क्रिकेट-खिलाड़ी। १८८४ में विज्ञान के अध्ययन के लिये लन्दन गये और तीन

वर्ष अध्ययन के पश्चात् Holt में 'असिस्टेन्ट मास्टर' बने। १८९० में लन्दन विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में विज्ञान की पदवी प्राप्त। विश्वविद्यालय के Tutorial College में दो वर्ष तक जैव-विज्ञान के Tutor रहे। १८९३ में फेफड़ों में एक रक्तवाहिनी के टूट जाने से केवल लेखन को ही पेशा बनाना पड़ा।

१८९५ से लेकर मृत्यु तक के प्रायः पचास वर्षों में लगभग चालीस उपन्यास और कहानी-संग्रह, दार्शनिक समस्याओं पर अपने विचारों को लेकर दस रचनायें और उतनी ही सामाजिक पुर्ननिर्माण पर। विश्व-इतिहास पर दो ग्रन्थ। राजनैतिक और सामाजिक भविष्यवाणियों को लेकर तीस जिल्दें; शस्त्रीकरण, राष्ट्रवाद, विश्व-शान्ति आदि विषयों पर तीस लघु-पुस्तिकायें; बालकों के लिये तीन रचनायें और एक आत्मकथा—इतना वाङ्मय रचा।

उपन्यासों में प्रमुख हैं—The Time Machine (1895), The Wonderful Visit (1895), The Invisible Man (1897), The war of the worlds (1898)—ये वैज्ञानिक रोमान्स थे। इंग्लैंड के मध्यम वर्ग के जीवन पर आधारित व्यंग्यात्मक उपन्यास हैं—Kipps (1905), The History of Mr. Polly और Mr. Britlıng sees it through (1916), समाजशास्त्रीय रचनायें हैं–New worlds for Old, The shape of things to Come (1933), World Brain (1938) और Mind at the end of its Tether (1945).

अपने पुत्र G. P. Wells और जूलियन हक्सले के साथ मिलकर The Science of Life (1929) लिखा जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

Woodroffe, Sir John (Arthur Avalon)

इंग्लैंड से भारत में कलकत्ता हाईकोर्ट के जज के रूप में आये। बङ्गीय सम्प्रदाय के तान्त्रिक साधना के महान् अधिकारी श्री शिवचन्द्र विद्यार्णव के शिष्य बने, उन्हींके पास तन्त्र-वाङ्मय का गहन अध्ययन किया। उस समय जातीय शिक्षासदन (महाविद्यालय) में गणित के प्राध्यापक श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय (प्रस्तुत ग्रन्थ एवं 'जपसूत्रम्' के प्रणेता स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती का पूर्वाश्रम का नाम) भी उन्हीं गुरुजी के पास तन्त्र-वाङ्मय का अध्ययन करते थे। बाद में उनसे भी सर वुडरोफ ने संस्कृत के तन्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन किया। उनके साथ संयुक्त रूप से अनेक लेख लिखे एवं सह-सम्पादक रूप से अनेक तन्त्र-ग्रन्थों का प्रकाशन किया। फिर श्री शिवचन्द्र विद्यार्णव-रचित बंगला ग्रन्थ 'तन्त्रतत्त्व' का विस्तृत रूप 'Pr.nciples of Tantra' प्रकाशित किया।

स्वतन्त्र रूप से अनेकों तन्त्रग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद और तद्विषयक लेख तथा ग्रन्थ Arthur Avalcn Tantric series के अन्तर्गत प्रकाशित किये।

भारत और विदेश मे आपके कार्य की प्रभूत ख्याति। आधुनिक युग में तन्त्र के अध्ययन का अग्रगामी कार्य एवं दिशा-निर्देश। तन्त्रसम्बन्धी परिष्कृत धारणा का प्रारम्भ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. British Encyclopaedia (1932)
2. Encyclopaedia Britannica (1911, 1990)
3. Encyclopaedic Dictionary and Directory of Education, Vol. I
4. 100 Great Scientists (1969)
5. The Philosophers of Science (1954)
6. भारतकोष (बंगला)
7. भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोष (हिन्दी) (१९६४)।

प्रमुख आध्यात्मिक ग्रंथ

गोपीनाथ कविराज

- मनीषी की [illegible]
- साधुदर्शन एवं [illegible] भाग १, २, ३
- ज्ञानगंज और [illegible] विज्ञान
- शक्ति का [illegible] और कुण्डलिनी
- श्रीसाधना
- दीक्षा

नंदलाल गुप्त

- स्वामी विशुद्धानन्द परमहंस

सत्यचरण लाहिड़ी

- योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी

हरीन्द्र दवे

- कृष्ण और मानव-सम्बन्ध

गुणवन्त शाह

- कृष्ण का जीवन-संगीत

विश्वनाथ मुखर्जी

- भारत के महान् योगी भाग १ से ८
- भारत की महान् साधिकाएँ

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी